अहिंसा विवेक

[आचार्यश्री भिक्षु द्वारा रचित अनुकम्पा चौपई का सानुवाद
और शोधपूर्ण अध्ययन]

लेखक
मुनिश्री नगराजजी

सम्पादक
मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के उपलक्ष में

समर्पण

मेरे अर्हद् व सम्यक् संबोधक

तथा

न्याय व औचित्य के अनन्य निर्वाहक

श्रीमत् कालूगणी

को

सम्पादकीय

आचार्यश्री भिक्षु को जो तत्त्व-दर्शन मिला, वह उनके लिए सहज उपलब्धि थी। लोगो को लगा, यह उनके मस्तिष्क की अनहोनी उपज है। ज्यो-ज्यो समय बीतता जा रहा है, वह तत्त्व-दर्शन बहुजन योग्य बनता जा रहा है। स्वस्थ और तटस्थ चिन्तक उसे आसानी से पचा पा रहे हैं। अनहोनी लगने वाली बात यथार्थता की कसौटी पर खरी उतरने लगी है। साम्प्रदायिक व्यामोह से मुक्त मानस आज यह समझने लगा है, आचार्यश्री भिक्षु ने अहिंसा का जो स्वरूप बताया, दया-दान की जो व्याख्याए दी, वह भगवान् श्री महावीर द्वारा उपदिष्ट ही थी। मुनिश्री नगराजजी ने प्रस्तुत पुस्तक मे इस विषय को तार-तार कर खोल दिया है।

यह मानने मे सकोच नही होना चाहिए कि लोकोत्तर पक्ष की ससिद्धि मे लगे ससार मे लौकिक पक्ष को बहुत ही उपेक्षित बना दिया था। लोग समाज मे रहते हुए भी ऐहिक जगत से इतने पराड्मुख हुए कि समाज और धर्म का सन्तुलन ही बिगडने लगा। उसका ही परिणाम हुआ कि लोगो ने परोक्ष को गौण कर प्रत्यक्ष को उभारने का उद्घोष बहुत जोरो से उठा लिया। लोग परोक्ष की साधना भूल गये और प्रत्यक्ष ही अथ और इति बन गया। परन्तु प्रत्यक्ष की चिन्ता न करना जितना घातक हुआ उससे भी बढकर घातक वर्तमान की जड उपासना बन रही है। आगे चलकर यह और भी भयावह प्रमाणित हो सकती है। आवश्यकता ऐसे दर्शन की है जो प्रत्यक्ष जीवन और परोक्ष जीवन मे सम्यक सन्तुलन बिठा सके। मुनिश्री नगराजजी द्वारा प्रस्तुत पुस्तक मे ऐसे दर्शन को मूर्त करने का सफल प्रयास किया गया है।

अब तक ऐसे विषयो पर जो भी लिखा जाता रहा है, वह विवादात्मक पद्धति से लिखा जाता रहा है। शोध-दृष्टि का विकास इस युग की देन है। प्रस्तुत पुस्तक मे जो कुछ विवेचनात्मक लिखा गया है, वह समय शोध पद्धतियो पर ही आधारित है। दया-दान आदि विषयो पर लिखा गया अपनी शैली का यह प्रथम ग्रन्थ ही माना जा सकता है।

अनुकम्पा चौपई आचार्यश्री भिक्षु का एक मान्यता ग्रन्थ है। तेरापथ की मान्यता का वह एक मौलिक शास्त्र है। उसका हिन्दी अनुवाद कर व अहिंसा-पर्यवेक्षण शीर्षक से उस पर एक विवेचनात्मक उपोद्घात लिखकर सिद्ध-हस्त मुनिश्री ने इसे जन-भोग्य और विद्वज्जन भोग्य एक स्वाध्याय ग्रन्थ बना दिया है। सम्पादन कार्य मे यत्किंचित् योगभूत होकर तेरापथ द्विशताब्दी समारोह पर मै भी श्रद्धास्पद आचार्यश्री भिक्षु को श्रद्धाञ्जलि दे पाया, इस बात का मुझे परम हर्ष है।

२०१८, पौष शुक्ला पचमी

मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'

कठौतिया भवन, दिल्ली।

अनुक्रम

अनुकम्पा चौपई

अहिंसा-पर्यवेक्षण

प्राणीमात्र की जिजीविषा[1] और भव-मुमुक्षु की कषाय-विजिगीषा[2] से आविर्भूत यह अहिंसा की धारा कालक्रम के साथ नाना अवरोहो और आरोहो मे सतत प्रवाही रही है। इतिहास के राजमार्ग पर लाकर इसके उन्मेष और निमेषो का जब हम चिन्तन करते हैं तो इसकी दार्शनिक जटिलताए दूर हो जाती हैं और इसका सहज स्वरूप हमारे सामने आ जाता है। इतिहास केवल अतीत की काल-गणना का ही ब्यौरा नही देता, कभी-कभी वह वर्तमान की यथार्थता का भी मानदण्ड बन जाता है।

आगमिक धारणा

आगमिक और पौराणिक धारणा के अनुसार उत्सर्पण और अवसर्पण के प्रत्येक काल-चक्रार्ध मे चौवीस तीर्थंकर होते है और वे सभी उपदेश करते हैं—प्राण, भूत, जीव, सत्त्वो की हिंसा न करो, उन पर शासन मत करो, उनको पीडित मत

---

१. क सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउ न मरजिउ।
तम्हा पाणिवह घोर, निग्गन्था वज्जयन्तिण ॥ दस० ६ १०

ख. सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुह पडिकूला अप्पियवहा पिय जीविणो जीविउ कामा। सव्वेसिं जीविय पिय, नाइवइज्ज किंचण।
—आचा० १ २ ३.

ग. जिजीविषा पर विशेष—'अहिंसा और धर्म का प्रयोजन' प्रकरण में।

२ क. कोहोय माणो य अणिग्गहीया माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कषाया सिञ्चन्ति मूलाई पुणब्भवस्स ॥
—दस० ८. १०.

ख. य· खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणा।
व्यपरोपणस्य करण सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥
—पुरुषार्थ सिद्धय्पाय श्लोक ४३

ग. कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव

करो, उन पर प्रहार मत करो, यही धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है।[1]

वर्तमान कालचक्रार्ध के प्रथम तीन अध्यायो (आरो) मे इस कर्म भूमि पर यौगलिक सभ्यता रही। उस समय सभी लोग भाई-वहिन के युगल मे पैदा होते और तारुण्य पाकर वही युगल दम्पति रूप मे बन जाता। कल्पवृक्ष ही उनकी इच्छाए पूरी करते। वे रोगी नही होते। उनका मारणान्तिक रोग एक छीक व एक जम्भाई होता। वे बहुत सुन्दर होते। कपाय-चतुष्क की अल्पता मे उनका प्राकृतिक जीवन बहुत सुखी होता। उनमे सहज सबोध होता, पर जीवन-व्यवहार मे उनके न तो धर्म-विवक्षा होती और न धर्म-शुश्रूषा। तात्पर्य उन तरुवासी युगलो के जीवन मे न तो हिंसा की प्रवलता थी और न अहिंसा का विहित विकास।[2]

मानव-सभ्यता का उदय

इस कालचक्रार्ध के तीसरे अध्याय के अन्त मे यौगलिक सभ्यता समाप्त हुई और मानव-सभ्यता का उदय हुआ। प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ प्रभु ने अपने शासकीय जीवन से लोगो को कर्म का प्रशिक्षण दिया, जो कि इस मानव-सभ्यता के प्रथम राजा थे। तभी से कृषि, वाणिज्य, क्षात्र तथा शिल्प प्रभृति कर्मो का प्रारम्भ समाज मे हुआ। आदिनाथ प्रभु ने ही अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को बहत्तर कलाओ का, द्वितीय पुत्र वाहुबली को शरीर-लक्षणो का, पुत्री सुन्दरी को गणित का तथा ब्राह्मी को सर्व प्रथम लिपि का ज्ञान दिया।[3] कहा जाता है, वही ब्राह्मी लिपि अब तक प्रचलित है और नाना लिपियो के रूप मे उसका विकास हुआ है।

---

१. सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा,
न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा।

—आचा० १ ४ १

२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कालाधिकार तथा त्रिषष्टिशलाका पुरुष० पर्व १ सर्ग २ श्लोक १०६ से १२८

३. क त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र पर्व १ सर्ग २ श्लोक ६२५ से ६७०

ख तेवट्ठि पुव्वसय सहस्साइं महाराय वासमज्झे वसइ, तेवट्ठि पुव्वसय सहस्साइ महाराय वासमज्झे वसमाणे लेहाइआओ गणिअप्पहाणाओ सउणरुअ पज्जवसाणाओ बावत्तरियकलाओ चोसट्ठिं महिला गुणे, सिप्पसयच कम्माणे तिण्णिवि पयाहिआए उवदिसइ।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कालाधिकार

अब तक के समाज मे अहिंसा धर्म का उपचरित उदय नही था, पर वाणिज्य आदि कर्मों के साथ-साथ उसके उदय की अपेक्षा समाज मे अवश्य हो चली थी। राजा ऋषभ ने कर्म-प्रवर्तन के अनन्तर ही धर्म-प्रवर्तन का बीडा उठाया और वे राज्य, स्त्री, पुत्र, स्वर्ण, रजत आदि को छोडकर इस श्रमण सस्कृति के प्रथम श्रमण बने। सुदीर्घ तप साधना से कैवल्य प्राप्त कर तीर्थंकर बने और अहिंसा धर्म का प्रवर्तन किया। उसके बाद काल-प्रवाह के साथ-साथ मनुष्य की भोगैषणा समय-समय पर बढती रही व अहिंसा धर्म का अपवर्तन होता रहा और एक के बाद एक होने वाले तीर्थंकर उसे उद्वर्तन देते रहे। यह है अहिंसा के निमेष और उन्मेष की जैनी गाथा।

वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति

जैन-धारणा के अनुसार वैदिक सस्कृति भी श्रमण सस्कृति से बहुत दूर की वस्तु नही रही है। ऋषभनाथ स्वामी के युग मे ही भरत चक्रवर्ती ने उनकी वाणी का चार वेदो के रूप मे सकलन किया और उसने ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रतीक यज्ञोपवीत का प्रवर्तन किया।[1] वे वेद बहुत वर्षो तक श्रमण सस्कृति के

---

१ ज्ञानदर्शनचारित्रलिङ्ग रेखात्रयं नृप ।
वैकक्ष्यमिव काकिण्या, विदधे शुद्धिलक्षणम् ॥
अर्द्धवर्षेऽर्द्धवर्षे च, परीक्षा चक्रिरे नवाः ।
श्रावकाः काकिणीरत्नेनाऽऽलम्व्यन्त तथैव हि ॥
तल्लाञ्छना भोजन ते, लेभिरेऽथाऽपठन्निदम् ।
जितो भवानित्याद्युच्चै र्माहनास्ते ततोऽभवन् ॥
निजान्यपत्यरूपाणि, साधुभ्यो ददिरे च ते ।
तन्मध्यात् स्वेच्छया कैश्चिद्, विरक्तैर्व्रतमाददे ॥
परीषहासहै कैश्चिच्छ्रावकत्वमुपाददे ।
तथैव बुभुजे तैश्च, काकिणीरत्नलाञ्छितैः ॥
भूभुजा दत्तमित्येभ्यो, लोकोऽपि श्रद्धया ददौ ।
पूजितं - पूजितो यस्मात्, केन केन न पूज्यते ?
अर्हत्स्तुतिमुनिश्राद्धसामाचारीपवित्रितान् ।
आर्यान् वेदान् व्यधाच्चक्री, तेषां स्वाध्यायहेतवे ॥
क्रमेण माहनास्ते तु, ब्राह्मणा इति विश्रुताः ।
काकिणीरत्नलेखास्तु, प्रापुर्यज्ञोपवीतताम् ॥
—त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्रम् पर्व १ सर्ग ६ श्लोक २४१ से २४८

आधार ग्रन्थ रहे। धीरे-धीरे रूपान्तर पाते हुए एक स्वतन्त्र संस्कृति के आदि शास्त्र बन गए[1] और दोनो परम्पराओ की हिंसा और अहिंसा की व्याख्याओ मे बहुत बडा अन्तर आ गया। सम्भव है, इन पौराणिक उदन्तो मे अधिक यथार्थता न हो, पर जबकि आज हम उस युग की यथार्थताओ को खोजने सुमेरियन[2] और बाबिलोनियन[3] सभ्यता के पुरावे ढूढते है और उनके आधार पर अपनी कल्पनाए जोडते हैं तो यह उचित नही कि भारतीय परम्पराओ मे मिलनेवाले तथा प्रकार के उदन्तो को केवल पौराणिक कल्पनाए कहकर यो ही छोड दे। हो सकता है, उन अभिमत कल्पनाओ के नीचे भी कोई यथार्थ आधार निकल आए और हमे किसी वास्तविकता तक पहुचने के लिए वह एक ऐतिहासिक तथ्य बन जाए।

ऐतिहासिक दृष्टि

आर्यों का आगमन

मेक्समूलर तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानो की गवेषणाओ ने यह तो सर्वसम्मत

---

१ वेदाश्चार्हत्स्तुतियतिश्राद्धधर्ममयास्तदा।
पश्चादनार्या' सुलसायाज्ञवल्क्यादिभिः कृता :॥२५६॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम् पर्व १ सर्ग ६

२. Some hold that they (people of Indus civilization) were the same as the Sumerians, while others hold that they were Dravidians. Some again believe that these two were identical According to this view, the Dravidians at one time inhabited the whole of India, including the Punjab, Sind and Baluchistan, and gradually migrated to Mesopotamia The fact that the Dravidian language is still spoken by the Brahui people of Baluchistan is taken to lend strength to this view —Ancient India (An Advanced History of India-Part 1) by Majumdar, Ray Chaudary and K K Dutta, p 55

३. वैदिक संस्कृति की उत्पत्ति बाबिलोनियन संस्कृति से हुई है। मेरा यह पूर्ण विश्वास है, बाबिलोनियन भाषाओ का अच्छी तरह अध्ययन किए बिना बहुत-सी वैदिक ऋचाओं का वास्तविक अर्थ समझ में नहीं आएगा। इन्द्र की पूजा सोमपान-विधि आदि की जड़ बाबिलोनियन संस्कृति में ही है।
—भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृष्ठ ५१, पूर्ण विवेचन पृष्ठ १ से ५१

रूप से प्रमाणित कर ही दिया है कि किसी युग मे उत्तरी क्षेत्रो से बहुत बडी सख्या मे आर्य लोग भारतवर्ष मे आए। उन लोगो की एक व्यवस्थित सभ्यता थी। यहा के आदिवासी लोगो को उन्होने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रो मे परास्त किया और उत्तर से दक्षिण तक समग्र देश मे अपनी सस्कृति का प्रभाव बढाया। यह वही सभ्यता है, जिसे लोग वैदिक सभ्यता के नाम से अभिहित करते है।

प्राग्-आर्य सभ्यता

इस गवेषणा के साथ अब तक यह तथ्य भी जुडा हुआ था कि आर्यो के आगमन से पूर्व इस भारतवर्ष मे कोई समुन्नत सभ्यता या सस्कृति नही थी। जैन और बौद्ध परम्पराए भी इसी सस्कृति की उत्क्रान्तिया मात्र है। इन दिनो मे जिस प्रकार इतिहास एक करवट ले रहा है, उससे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि आर्यो के आगमन से पूर्व यहा एक समुन्नत सस्कृति और सभ्यता विद्यमान थी।[1] वह सस्कृति अहिंसा, सत्य और त्याग पर आधारित थी। यहा तक कि उस सस्कृति मे पले-पुसे लोग अपने सामाजिक, राजनैतिक व धार्मिक हितो के सरक्षण के लिए भी युद्ध करना पसन्द नही करते थे। अहिंसा उनके जीवन-व्यवहार का प्रमुख अग थी।[2]

---

1. "Be that as it may, there is not the least doubt that we can no longer accept the view, now generally held, that Vedic Civilization is the sole foundation of all subsequent civilizations in India That the Indus Valley Civilization described above has been a very important contributory factor to the growth and development of civilization in this country admits of no doubt"

—Ancient India (An Ancient History of India—Part 1)
by Majumdar, Ray Chaudary and K K Dutta, p 23

2. That this ideal of Ahimsa or non-violence was the basic principle of Pre-Aryan civilization in India is known to the scholars who carefully studied the Indus Valley Civilization as revealed by the excavations of Mohen-jo-daro and Harappa There, to the great surprise of the experts, they count no weapons for the purpose of offence and defence

भौतिक विकास की दिशा मे भी वे लोग प्रगति के शिखर पर थे। उनके आवास, उनके ग्राम और उनके नगर बहुत व्यवस्थित थे और हाथी व घोडो की सवारी भी वे करते थे। उनके पास गमनागमन के यान भी थे।[१] यहा तक कि उनमे भक्ति[२] और पुनर्जन्म के विचारो का भी विकास था।

त्रिमुख मूर्ति

मोहनजोदडो और हडप्पा की खुदाई से मिलने वाले पुरातत्त्वावशेष उपरोक्त धारणाओ के आधार बनते हैं। इन अवशेषो मे एक योगासन स्थित त्रिमुख योगी की प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय है। उस मूर्ति के सम्मुख हाथी, व्याघ्र, महिष और मृग आदि पशु स्थित[3] हैं। इस मूर्ति के विषय मे विद्वानो द्वारा नाना कल्प-

---

From the absence of destructive implements, the experts have come to the conclusion that the people of the Indus Valley Civilization did not interest themselves in waging wars with anybody Subtained by their high culture and civilization, they somehow carried on their affairs—social, political and religious without involving themselves in any wars

—The Religion of Ahimsa by Prof A Chakravarti, M A p 17

१ The people cultivated fields of grain, raised cattle, tammed the horse, harnessed the bullock to two-wheeled carts, and taught the elephant to carry burdens

—Mohen-jo-daro and the Indus Civilization (1931) Vol 1, pp 93-5

२. Indication of the existence of the Bhakti-cult, and even of some philosophical doctrines like Matempsychosis, have also been found at Mohen-jo-daro.

—Ancient India (An Ancient History of India—part 1) by Majmdar, Ray Chaudary and K. K Dutta p 21

३ He has a deer throne and has the elephant, the tiger, the rhinoceros, and the buffalo grouped round him

—Mohon-jo-daro and the Indus Civilization (1931) Vol 1,pp 52-3.

नाए की गई है। बहुतो का कहना है—यह पशुपति शिव की मूर्ति है[1]। यह भी सोचा गया है कि योगसूत्र—'अहिंसा प्रतिष्ठाया तत् सन्निधौ वैरत्याग' के सूचक किसी पहुचे हुए योगी की मूर्ति है।[2]

शिव या शान्ति जिन ?

त्रिमुख मूर्ति के अवलोकन से अर्हत्-अतिशयो से अभिज्ञ व्यक्ति के मन मे यह कल्पना भी सहज रूप से होती है कि समवसरण स्थित चतुर्मुख तीर्थंकर का ही वह कोई शिल्प-चित्रण है। उसकी बनावट के साथ एक मुख का अदृश्य होना स्वाभाविक है। यह विशेषता तो तीर्थंकरो की स्वय सिद्ध है ही कि उनके सान्निध्य मे व्याघ्र, गज, मृग आदि नित्य-विरोधी पशु भी मैत्रीपूर्वक बैठते हैं। मृग की अवस्थिति ठीक वैसे ही है, जैसे वर्तमान युग मे शान्तिनाथ प्रभु की मूर्तियो मे हुआ करती है। मृग सोलहवे तीर्थंकर का लाछन भी है। यह कल्पना इसलिए की जा सकती है कि हडप्पा और मोहनजोदडो की खुदाइयो मे कुछ अन्य मूर्तिया तथा मुद्राए उपलब्ध हुई हैं, जिनसे जैन तीर्थंकर और जैन सस्कृति का आभास मिलता है, ऐसा विद्वानो का अभिमत है।[3]

त्रिमुख मूर्ति के विषय मे उपर्युक्त कल्पना एकाएक भले ही कुछ दूर की लगे,

---

१ Amomg the relics of a religious character found at Mohen-ja-daro are not only figurines of the mother goddess but also figures of a male god, who is the prototype of the historic Siva

—Mohen-jo-daro and the Indus Civilization (1931) Vol 1, pp 52-3

२. This reminds us of the famous Yogadarsana aphorism which lays down that in the presence of a yogin established in ahimsa (non-violence), even the ferocious animals give up their inherent mutual animosity

—Ahimsa in Indian Culture

by Dr Nathimal Tantia, M. A, D. Litt.

३ Kamta Prasad Jain in his paper in the Voice of Ahimsa, Tirthankara Risabhadeva Special Number, vol VII No 3-4. March-Apr, 1957, pp 152-6

पर उस सम्बन्ध से शिव की कल्पना करने मे भी विद्वान् पूरा निर्वाह नही कर पा रहे है। उनका कहना है[1] तीन नेत्रो के स्थान पर तीन मुख हो सकते है और त्रिशूल के द्योतक मूर्ति मे दिखलाए गए दो सीग हो सकते है। सचमुच ही यह कल्पना बहुत ही लचीली और खीचातान की सी है। कुछ भी हो त्रिमुख मूर्ति से इतना तो निर्विवाद है ही कि आर्यों के आगमन से पूर्व उस प्रदेश मे ध्यान और मुनित्व का अस्तित्व वर्तमान था।

प्रागार्य वंश

सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो०ए० चक्रवर्ती का कहना है[2] "ऐसा कहा जाता है, भग-

---

1. On one particular seal, he seems to be represented as seated in the yoga posture, surrouned by animals He has three visible faces, and two horns on two sides of a tall head-dress As is well known, Siva is regarded as a Mahayogin, and is styled Pasupati or the lord of beasts, his chief attributes being three eyes and the Trisula . Now the apparant yoga posture of the figure in Mohen-jo-daro justifies the epithet Mahayogin, and the figures of animals round him explain the epithet Pasupati The three faces of the figure may not be unconnected with the later conception of three eyes, and the two horns with the tall head-dress might have easily given rise to the conception of a trident (Trisula), with three prongs. —Ancient India (An Advanced History of India–Part I) by Majumdar, Ray Chaudary and K K. Dutta p 20

2 Lord Rishabha himself is said to have been a Vidayadhara emperor in one of his previous births He is said to be of Ekshvaku clan Most of the Thirthankars were from this Ekshvaku clan Even Goutama Sakhya Muni Budha, contemporary of Mahavira, belong to this Ekshvaku clan Rama considered to be an Avathara Purusha, also belongs to this Ekshvaku clan From these, it is clear that the Ekshvaku dynasty was occupying a place of honour in ancinent India

वान् ऋषभ इक्ष्वाकु वश के थे। अन्य अधिकाश तीर्थंकर भी इसी वश के थे। भगवान् श्री महावीर के समकालीन शाक्य मुनि गौतम बुद्ध भी इसी इक्ष्वाकु वश के थे। अवतार पुरुष माने जाने वाले राम भी इक्ष्वाकु वश के थे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत मे इक्ष्वाकु वश का एक सम्मानित स्थान था। बहुत सम्भव है, इक्ष्वाकु लोग प्रागार्य थे, क्योकि वैदिक सहिताओ मे उन्हे उस देश के प्राचीन लोगो मे से माना है। यद्यपि भगवान् ऋषभ इक्ष्वाकु वश के थे

Probably they were also pre-Aryan because they are spoken of in the Vedic Sanhitas as a very ancient people of the land Though Lord Rishabha belong to this Ekshvaku clan, he married a Vidyadhara princess Therefore his queen and mother of Bharata, the first emperor of the land, was from a Vidyadhara clan From this it may be inferred that the Ekshvaku dynasty and the Vidyadharas were living in the pre-Aryan period and maintained friendly relation as is evidenced by matrimonial alliance

One other pre-Aryan clan in India must be noticed here People belonging to Hari Vamsa lived in the western-most part of the land Sri Krishna and Lord Arishta Nemi, both belong to this Hari Vamsa Rulers belonging to this clan are also famous as the defenders of non-violent faith From this cursory survey of the history of the past, it is clear this Ahimsa faith was prevalent in the land championed by the ruling families even before the advent of Aryans and probably it was the State religion in various parts of the country The pre-Aryan Vidyadharas who were responsible for the pre-Aryan civilization and culture are assumed to be the ancestors of the Dravidians If this assumption of the oriental scholars is accepted, then we have to conclude that it is Ahimsa faith or non-violent cult whch was the foundation of the ancient Dravidian culture and civilization

—The Religion of Ahimsa, pp 37-38

तथापि एक विद्याधर राज-कन्या से भी उन्होने विवाह किया था। इसलिए उनकी रानी और देश के प्रथम चक्रवर्ती की माता विद्याधर वश की थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि इक्ष्वाकु और विद्याधर प्राग–आर्यकाल मे यहा रहते थे और उनमे मैत्री सम्बन्ध था, जो उक्त विवाह-प्रसग से जाना जाता है।

"एक और प्रागार्य वश पर भी हमे यहा ध्यान देना चाहिए। हरिवश के लोग देश के पश्चिम भाग मे रहने वाले थे। श्रीकृष्ण और भगवान् अरिष्टनेमि दोनो हरिवश के थे। इस वश के राजा अहिंसा धर्म के रक्षक होने के रूप मे सुविख्यात है। इतिहास के इस सिंहावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यो के आने से पहले भी अहिंसा धर्म इस देश मे व्यापक था और वह राज-परिवारो के द्वारा समादृत था। सम्भव तो यह भी है कि वह देश के बहुत सारे भागो मे राजधर्म भी था। प्रागार्य विद्याधर, जो कि प्रागार्य सभ्यता और सस्कृति के मूल पुरुष थे, द्राविड लोगो के पूर्वज माने जाते है। यदि पुरातत्त्व-गवेषक विद्वानो की यह मान्यता स्वीकार हो जाती है तो इस निश्चय पर पहुच ही जाते है कि वह अहिंसा धर्म ही है, जो प्राचीन द्राविड सस्कृति और सभ्यता का आधार था।"

डा० ए० सी० सेन, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी० (हैम्बुर्ग) का भी अभिमत है[1]—बुद्ध और महावीर के विचार वैदिक सस्कृति से स्वतन्त्र रूप मे विकसित हुए है और यह बहुत सम्भव है कि इनमे से बहुत सारे विचारो का प्रारम्भ प्राचीन प्रागार्य और प्राग् वैदिक युग मे हो चुका था।

नवागत सस्कृति और श्रीकृष्ण

इतिहास और अनुसन्धान के क्षेत्र मे यह तो निर्विवाद है ही कि आर्य-सस्कृति लोकैषणा-प्रधान थी। आत्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष, अहिंसा, सत्य तथा त्याग जैसी मान्यताए उसमे नही थी। विभिन्न देवो की हिंसा-प्रधान यज्ञो से उपासना करना और अपना भौतिक इष्ट मागना, उस सस्कृति का प्रमुख स्वरूप था।[2] अहिंसा-मूलक और तप प्रधान श्रमण सस्कृति, जैसा कि बताया गया, इस ब्राह्मण सस्कृति के आगमन से पूर्व यहां वर्तमान थी। दोनो सस्कृतियो का यह मेल बहुत ही सघर्षात्मक रहा है। एक दूसरे के प्रभाव को न्यून या समाप्त कर देने के लिए नाना उपक्रम चलते रहे हैं। वासुदेव कृष्ण को यह नवागत सस्कृति मान्य नही थी। वासुदेव कृष्ण और आर्यो के अधिनायक इन्द्र के बीच ज्वलन्त सघर्ष रहे है।[3]

---

१. Elements of Jainism, p 2

२. भारतीय सस्कृति और अहिंसा के आधार से

३. क भगवान् बुद्ध पृ० २६ ख ऋग्वेद ८-९६ १३–१५

घोर आंगिरस अर्थात् नेमिनाथ

उपनिषदो के अनुसार श्रीकृष्ण घोर आंगिरस ऋषि के अनुयायी थे। घोर आंगिरस ने वासुदेव कृष्ण को आत्म-यज्ञ की शिक्षा दी थी। उस यज्ञ की दक्षिणा तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा तथा सत्य वचन रूप थी।[1]

धर्मानन्द कौशाबी का कहना है—जैन-ग्रन्थो मे अनेक स्थानो पर इस बात का उल्लेख है कि कृष्ण का गुरु (भाई) नेमिनाथ नाम का जैन तीर्थंकर था। इससे वह और घोर आंगिरस के एक ही व्यक्ति होने का सन्देह होता है।[2]

महावीर और बुद्ध की अहिंसा का मूल उद्गम

इतिहास ज्यो-ज्यो स्पष्ट होता जा रहा है, बाईसवे तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि प्रभु भी कुछ एक विद्वानो द्वारा ऐतिहासिक पुरुष सोचे जाने लगे हैं।[3] तेवीसवे तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ प्रभु तो ऐतिहासिक पुरुषो की कोटि मे आ ही चुके है। अहिंसा के इतिहास मे उनके चातुर्याम[4] धर्म का अध्याय अपूर्व कोटि का माना जाता है। यह भी अब निर्विवाद-सा होता जा रहा है कि भगवान् श्री महावीर और भगवान् बुद्ध की सुविकसित अहिंसा का मूल उद्गम पार्श्व प्रभु का चातुर्याम धर्म ही है।[5] भगवान् श्री महावीर ऐतिहासिक पुरुष है और यह माना जाता है कि अहिंसा का सर्वांगीण विवेचन और सर्वांगीण विकास उनके युग मे हुआ है।

प्रागार्य और आर्य सस्कृति में विनिमय

ऐतिहासिक मान्यता के अनुसार वैदिक सस्कृति मे पहले पहल पुनर्जन्म, अहिंसा आदि के विचार नही थे, पर सहस्रो वर्षो के द्वन्द्व मे दोनो सस्कृतियो का एक दूसरे पर प्रभाव पडना स्वाभाविक था। सघर्ष की स्थिति मे भी दो सभ्यताए एक दूसरे से बहुत कुछ ले लेती है। आर्यो के इन्द्र, वरुण आदि देवो को किसी न

---

१ अत. यत् तपोदानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा।
—छान्दोग्य उपनिषद् ३ १७ ४

२ भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृ० ५७

३. The Religion of Ahimsa, p 14

४. सव्वातो पाणातिपातियाओ वेरमण, एव मूस्सावायाओ वेरमणं, सव्वातो आदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वातो वहिद्धादाणाओ वेरमणं।
—ठाणांग सूत्र ठा० ४

५. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म पृ० २८-२९

किसी रूप मे वहा की प्राग् आर्य-सस्कृति ने माना और आत्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि अध्यात्म विचारो को आर्य-सस्कृति ने अपनाया। यही कारण हो सकता है कि ऋषभ[1], अरिष्टनेमि[2] आदि अनेक जैन तीर्थकरो को वैदिक मन्त्रो मे भी प्रणाम किया जाना मिलता है। दोनो सस्कृतिया नाना भेदो और नाना अभेदो का सयुक्त रूप बनकर जी रही है। वैदिक-परम्परा मे उपनिषद्-सन्दोह मे आत्म-वाद और अहिंसा का पर्याप्त विकास मिलता है। वहा हिसात्मक यज्ञ अहिंसा की राह पकड लेते हैं, सासारिक भोगोपभोग की कामनाए, हेय हो जाती है। मैत्रेयी याज्ञवल्क से पूछती है—यदि यह सारी पृथ्वी धन से भर जाए तो क्या मैं उस धन से अमृत बन जाऊगी ? याज्ञवल्क कहते हैं—नही, धन से अमृत प्राप्य नही है। मैत्रेयी की भावना में अमृत ही उपादेय है, इसलिए वह कह देती है, जिससे मैं अमृत नही हो पाती, उस सबसे मुझे क्या[3] ?

विभिन्न मतों में अहिंसा का स्वरूप

भगवान् श्री महावीर अहिंसा के अप्रतिम विवेचक रहे है। यही कारण है, जैन धर्म अहिंसा का धर्म कहा जाता है।[4] वह युग अहिंसा की पराकाष्ठा का युग माना जाता है। भगवान् श्री महावीर की अहिंसा जितनी विस्तृत थी, उतनी गम्भीर भी थी। अब हमे यह देखना है, उस युग की अहिंसा का स्वरूप क्या था? वह निषेध-प्रधान थी या विधि-प्रधान ? उसका सम्बन्ध आत्मा के उन्नयन से था या देह-पोषण से ? उसका उद्देश्य श्रेयोऽवाप्ति था या लौकिक अभ्युदय ?

---

१. अहोमुच वृषभं यज्ञियानां,
विराजतं प्रथममध्वराणाम्।
अपां नपातमश्विना हु वे,
धिय इन्द्रयेण इन्द्रियं दत्तमोजः॥

—अथर्ववेद कां० १६-४२-४

२. स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः,
स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति न स्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः,
स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु॥

—सामवेद प्रपा० ६ अ० ३

३. वृहद् आरण्यक उपनिषद् २-४-२

४. सत्य की खोज में पृ० ५७

हिंसा शब्द हननार्थक हिंसि धातु से बना है। हिंसा का अर्थ है—'असद् प्रवृत्ति या असद् प्रवृत्ति पूर्वक किसी प्राणी का प्राण-वियोजन।[1]' इसके विपरीत हिंसा न करना, किसी जीव को दुःख या कष्ट न देना अहिंसा है। यह अहिंसा की व्यौत्पत्तिक व्याख्या हुई, जो कि अहिंसा के नकारात्मक रूप को अभिव्यक्त करती है। अहिंसा की विविध परिभाषाओ मे भी हमे उसका पाप-निवर्तक रूप ही मिलता है।

भगवान् श्री महावीर कहते हैं—'प्राणिमात्र के प्रति सयम अहिंसा है।'[2]

भगवान् बुद्ध कहते है—'जगम और स्थावर प्राणियो का प्राणघात न स्वय करे, न किसी अन्य से करवाए और न किसी करने वाले का अनुमोदन करे।[3]'

पातजल योग-दर्शन के अनुसार अहिंसा का स्वरूप है—'सब प्रकार से सब कालो मे सब प्राणियो के प्रति अनभिद्रोह।'[4]

ईश्वर गीता के अनुसार—'मन, वचन तथा कर्म से सर्वदा किसी भी प्राणी को क्लेश न पहुचाना अहिंसा है।'[5]

महाभारत के अनुसार—मन, वाणी और कर्म से किसी की हिंसा न करना अहिंसा है।[6]

---

१. असत्प्रवृत्त्या प्राणव्यपरोपणं हिंसा। असत्प्रवृत्तिर्वा।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका प्रकाश ७ सू० ४, ५

२. अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्व भूएसु सजमो।

—दस० अ० ६ गाथा ६

३. पाणे न हाने न च घातयेय, न चानुमञ्या हनतं परेस।
सव्वेषु भूतेसु निधाय दण्डं, ये थावरा ये च तसन्ति लोके॥

—सुत्तनिपात, धम्मिक सुत्त

४. तत्र अहिंसा सर्वदा सर्वभूतेषु अनभिद्रोह।

—पातजल योगसूत्र भाष्य २ ३०

५. कर्मणा मनसा वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजनन प्रोक्ता, अहिंसा परमर्षिभि॥

६. कर्मणा न नर· कुर्वन् हिंसा पार्थिव सत्तम।
वाचा च मनसा चैव ततो दुःखात् प्रमुच्यते॥
पूर्वं तु मनसा त्यक्त्वा त्यजेद् वाचाथ कर्मणा।

—अनुशासन पर्व १७६ ३

शांकर भाष्य और पातञ्जल भाष्य में अहिंसा दृष्टि

लगभग सभी परिभाषाओ का हार्द एक है और वह निकेवल निवृत्ति-प्रधान है। लोकोपकार, सेवा, दया, करुणा के रूप मे अहिंसा का जो विधि-पक्ष आज के समाज-प्रधान चिन्तन मे माना जाने लगा है, उसकी छाया भी उक्त परिभाषाओ मे कही प्रतिबिम्बित नही होती। व्याख्या-ग्रन्थो मे यत्र तत्र उन लोकोपकारक प्रवृत्तियो की भव-मुमुक्षा के विषय मे अनर्हता भी स्पष्ट रूप से मिलती है। ब्रह्म सूत्र शाकर भाष्य मे 'तत्तु समन्वयात्' (४) सूत्र की व्याख्या करते हुए 'ईष्ट' और 'पूर्त' को दक्षिण मार्ग-गमन अर्थात् अनुपादेय कहा है।[१] वहा ईष्ट[२] शब्द से आतिथ्य आदि को और 'पूर्त'[३] शब्द से वापी, कूप, तटाक, अन्नदान को अभिहित किया है। वर्तमान युग मे जैसे कि कहा जाने लगा है, न मारना अहिंसा है और मरते को बचाना या उसका दु ख दूर करना दया है, यह द्वैध भी प्राचीन व्याख्याकारो की मान्यता मे क्वचिद् ही रहा हो। पातजल योगसूत्र के भाष्यकार कहते है—जो अहिंसक है, वही दयालु है और जो दयालु है, वही अहिंसक है। अहिंसात्मक दया का ही भगवत्-प्राप्ति रूप फल होता है।[४] सर्वभूत मित्र भी उसे कहा गया है, जो मास नही खाता और किसी जीव की हिंसा व घात नही करता।[५] इसका तात्पर्य यह नही कि अहिंसा के प्राचीन विवेचनो मे बचाने रूप दया का कोई उल्लेख ही नही है। वैसे उल्लेख भी मिलते हैं, पर बहुत कम। जैन पुराण साहित्य मे कपोत को बचाने के लिए अपने शरीर का मास देने वाले मेघरथ राजा का वर्णन आता है। अवश्य वह एक रोमाचक घटना है, पर आगमोक्त न होने के कारण वह केवल एक कहानी रह जाती है। उस कहानी के विषय मे यह कह सकना भी कठिन है कि मूलत वह किस परम्परा की है और कब रची गई है। यह कहानी शिवि राजा के उपाख्यान के रूप मे महाभारत मे मिलती है। बौद्ध साहित्य मे भी जीमूतवाहन के नाम से कुछ प्रकारान्तर से यह कथा मिलती है। इस कथा मे भी मेघरथ राजा

---

१. तथा च याज्ञाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषादुत्तरेण पथागमनं केवलैरिष्टापूर्तदत्तसाधनै धूमादि क्रमेण दक्षिणेन पथा गमनम्।

२. अग्निहोत्र तप. सत्य वेदना चानुपालने।
आतिथ्यं वैश्वदेव च इष्टमित्यभिधीयते ॥

३. वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

४. पातंजल योगदर्शन भाष्य—साधनपाद सूत्र ३५

५. पातंजल योगदर्शन भाष्य—साधनपाद सूत्र ३५

ने बाज का वध कर कबूतर को बचाने की बात नही सोची, जबकि एक या अनेक जीवो का वध कर दूसरे जीवो को बचा लेना भी लोग अहिंसा के अन्तर्गत मानने लगे हैं।

योगदर्शन में करुणा

योगदर्शनोक्त करुणा-भावना[1] का हार्द भी समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। तत्त्वार्थ सूत्र[2] और विशुद्धि मार्ग[3] मे भी मैत्री आदि उन्ही चार भावनाओ का उल्लेख है। योगदर्शन भाष्यकार ने दु खी प्राणी के प्रति दु खजिहीर्षा की भावना से परापकार-चिकीर्षा-कालुष्य-मल से चित्त का निवृत्त होना बतलाया है।[4] महर्षि पतजलि की दृष्टि मे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाच क्लेश है[5], दु खानुशयी[6] द्वेष हैं और द्वेषमूलक अभिनिवेश है, अत यही करुणाशील की दु ख-जिहीर्षा है और यह नितान्त अहिंसात्मक है। दैहिक दु खोपचार बहुधा रागानुशयी हो जाता है, अत वह चित्त-मलो का निवारक नही हो सकता। श्री के० सी० भट्टाचार्य कहते है—करुणा का तात्पर्य है, दर्प और द्वेष से पीडित लोगो के प्रति समुद्भूत तटस्थता को दूर करना। दूसरो के दु ख को अपने दु ख के समान अनुभव करने से स्वय द्वेष या दु ख के भय से दूर हो सकता है।[7]

---

१ मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाण सुखदु खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्

—योगदर्शन १।३३

२. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु।

—तत्त्वार्थ सूत्र ७।६

३. विशुद्धिमग्ग, ब्रह्म विहार निद्देस ९

४ दु खविपयेषु दु खितेषु रजोऽशमात्रान्वितेषु करुणां स्वस्मिन्निव परत्र दु ख-प्रहाणाभिलाषा भावयत पुरुषस्य परापकारचिकीर्षाकालुष्य निवर्तते चित्तस्य।

—योगदर्शन भाष्य पाद १ सूत्र ३३

५. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशा क्लेशा।

—योगदर्शन २।५

६ दु खानुशयी द्वेष।

—योगदर्शन २।८

७ Studies in Philosophy Vol 1, p 307

दुःखापनयन अर्थात् आत्मोन्नयन

दु खी के आत्मिक दुःखो के निवारण मे ही अन्योन्याश्रित चार भावनाए विशुद्ध रह सकती हैं। दैहिक दु ख-मोचन मे हिंसा, राग, असंयम-पोषण आदि दोषो के कारण चारो भावनाओ की सुरक्षा सम्भावित नही रह जाती। आचार्य बुद्धघोष एक रोचक उदाहरण के साथ विश्लेषण करते है—किसी स्थान पर जिसने मैत्री-भावना सिद्ध करली है, ऐसा साधक बैठा है। वही उसका बुरा चाहने वाला एक शत्रु, उसका हित चाहने वाला एक मित्र तथा एक तटस्थ, ये तीन व्यक्ति बैठे हैं। एक आततायी आया और बोला—चारो मे से किसी एक को मुझे अवश्य मारना है। ऐसी परिस्थिति मे वह साधक क्या सोचे ? यह तो वह सोच ही कैसे सकता है कि इन तीनो मे से किसी एक को वह ले जाए। साथ-साथ वह यह भी न सोचे कि वधक मुझे ही ले जाए, जिससे तीनो के प्राण बच जाए। ऐसा सोचने से मैत्री-विरोधी पक्षपात का आपात होता है।[1] यह बात आचार्य बुद्धघोष ने मैत्री-भावना के परीक्षण मे कही है। यदि इसे करुणा-भावना की कसौटी बनाई जाए तो भी फलितार्थ वही होगा। दु खापनयन की बात आत्मोन्नयन से ही जुडी रह सकती है। उपाध्याय श्री विनयविजयजी ने अपने भावना ग्रन्थ 'शान्तसुधारस' मे इस यथार्थता को और भी स्पष्ट कर दिया है। वे करुणा-भावना के प्रसग मे कहते हैं—जो हितोपदेश का श्रवण नही करते, धर्म का स्मरण नही करते, उनके रोग कैसे दूर किए जा सकते है ? क्योकि रोगापनयन का तो एकमात्र मार्ग धर्म ही है।[2] हे आत्मन् ! इस भव-कान्तार मे अपार व्याधि-समूह को क्यो सहता है ? जगदुपकारक जिनेश्वर का अनुसरण कर। वे ही रोगापहारक वैद्य है।[3]

---

१. विशुद्धिमग्ग, ब्रह्म विहार निद्देस ९

२. शृण्वन्ति ये नैव हितोपदेशं, न धर्मलेशं मनसा स्मरन्ति।
रुजः कथङ्कारमथाऽपनेया, स्तेषामुपायस्त्वयमेक एव ॥
—शान्तसुधारसभावना गीतिका १५ श्लोक ६

३. सह्यत इह किं भवकान्तारे, गदनिकुरम्बमपारम्।
अनुसरताऽऽहितजगदुपकारं, जिनपतिमगदङ्कारम् ॥
—शान्तसुधारसभावना गीतिका १५ श्लोक ७

भगवान् श्री महावीर

निरामिषता और अहिंसात्मक यज्ञ

गवेषको की दृष्टि मे यह विषय अत्यन्त निर्विवाद हो गया है कि भारतीय अहिंसा-चिन्तन मे जैन धर्म का अद्वितीय अनुदान रहा है। २२वे तीर्थंकर अरिष्टनेमि प्रभु विवाह-प्रसग पर होने वाले पशु वध से अनुकम्पित होकर सदा के लिए विवाह से ही मुह मोड लेते हैं।[1] २३वे तीर्थंकर पार्श्व प्रभु पचाग्नि जैसी हिंसा-प्रधान तपस्याओ का रहस्योद्घाटन अपनी कुमारावस्था मे ही कर देते हैं।[2] भगवान् श्री महावीर हिंसात्मक यज्ञो का विरोध करते हैं और अहिंसा, तप आदि रूप यज्ञो का निरुपण करते हैं।[3] भारतीय अहिंसक समाज आज उनका कृतज्ञ है, यह मानकर कि उक्त तीर्थंकरो ने निरामिषता, वैवाहिक अनारम्भता, अहिंसात्मक तप साधना और अहिंसात्मक आत्म-यज्ञ की विधि उसे सिखलाई।

अहिंसा का उग्र निरूपण और सूक्ष्म समीक्षा

भगवान् श्री महावीर अहिंसा के जितने उग्र निरूपक थे, उतने सूक्ष्म समीक्षक भी। उनकी अहिंसा के हार्द को पा लेना सहज नही है। एक ओर शास्त्रकार नि सकोच भाव से कहते हैं—भगवान् ने समस्त जगत् के जीवो की रक्षात्मक दया के लिए प्रवचन कहा।[4] दूसरी ओर भगवान् कहते हैं—किसी राह भूले गृही को साधु मार्ग बताए तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त।[5] नावास्थित साधु किसी छिद्र से जल-प्रवेश

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २२

२. पार्श्वचरित्र

३ तवो जोई, जीवो जोइठाणं, जोगा सुया, सरीर कारिसंग।
कम्मेहा संजमजोगसन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थ॥
—उत्तराध्ययन सूत्र १२ ४४

४ इम च णं सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय।
—प्रश्नव्याकरण सूत्र सवरद्वार

५ जे भिक्खू अण्ण उत्थियाणं वा गारत्थियाण वा नट्ठाणं मूढाणं विप्परियासियाण मग्गं वा पवेएइ, सधि पवेएइ, मग्गाओ वा सधि पवेएइ, संधीओ वा मग्ग पवेएइ, पवेयतं वा साइज्जइ।
—निशीयसूत्र उद्देशक १३ वो २८

देखकर नावास्थित अन्य जनो से कहे तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[1] अनुकम्पावश किसी त्रस प्राणी को वन्धन-मुक्त व वन्धन-युक्त करे या करने का अनुमोदन करे तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[2] नमि राजर्षि कहते हैं—मैं मिथिला की ओर आख उठाकर क्यो देखू ? मैं तो सुख मे वसता हू, सुख मे जीता हू, मिथिला के जलने से मेरा अपना कुछ भी नही जल रहा है ।[3] चुलनीपिता श्रावक पौपघ व्रत मे अपने ही सामने किसी अनार्य पुरुप के द्वारा अपने तीन पुत्रो को मारे जाते देखता है, वचाने के लिए उठता नही, तव तक उसका पौषध व्रत अखण्ड है । ज्यो ही वह अपनी माता को वचाने के लिए उठता है, उसके नियम, व्रत, पौषध आदि भग हो जाते है ।[4] नन्दन मणिहारा लोक-सुख के लिए उद्यान वनाता है । मरण-

---

१ से भिक्खू वा (२) णावाए उत्तिगेण उदय आसवमाणं पेहाए उवरु-रिं णावं कज्जलावेमाण पेहाए णो पर उवसंकमित्तु एव बया आउसतो गाहावइ एयं ते णावाए उदयं उत्तिंगेण आसवति उवरुवरिं वा णावा कज्जलावेति एतप्पगार मण वा वाय वा णो पुरओ कट्टु विहरेज्जा अप्पुस्सुए अवहिलेसे एगति गएणं अप्पाणं विपोसेज्ज समाहीए । तओ सजयामेव णावा सतारिमे उदए आहारिय रियेज्जा ।

—आचारांग सूत्र श्रु० २ अ० ३ उ० १

२. जे भिक्खू कोलुण पडियाए अण्णयरिय तस पाण जाय तेण पासएण वा मुजपासएण वा कट्ठपासएण वा चम्मपासएण वा वेत्तपासएण वा रज्जुपासएण वा सुत्तपासएण वा बधइ बंधत वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू वधेल्लय वा मुयइ मुयतं वा साइज्जइ।

—निशीथ सूत्र उद्देशक १२ वोल १-२

३. सुहं वसामो जीवामो जेसिं मे नत्थि किंचण ।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचण ।
चत्त पुत्त कलत्तस्स निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जइ किंचि अप्पिय पि न विज्जइ ।

—उत्तराध्यन सूत्र अ० ९ गाथा १४-१५

४ तेण तुमं इदाणिं भग्ग वए, भग्ग नियमे, भग्ग पोसहोववासे विहरसि, तेण तुमं पुत्ता ! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पायछित्त पडिवज्जाहि ॥१७॥ तएणं चुल्लणी पिया समणोवासए अम्मगाए भद्दाए सत्थवाहीणिए तहत्ति एयमट्ठ विणएण पडिसुणेइ पडिसुणेइत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव पडिवज्जइ ॥ १८ ॥

—उपासकदसाङ्ग सूत्र अ० ३

काल मे षोडश रोगो से आतंकित होता है और वहा से मरकर स्व-निर्मापित पुष्करिणी मे ही दर्दुर-योनि मे उत्पन्न होता है।[1]

दानपरक करुणा

दान भी करुणा का एक अंग है, अत उस सम्बन्ध से भी भगवान् श्री महावीर के निरूपण को आगमिक सदर्भो मे देख लेना उचित है। गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् श्री महावीर कहते हैं—तथारूप पाप-कर्म का प्रत्याख्यान न करने वाले असयति, अव्रती को प्रासुक, अप्रासुक, एषणीय, अनैषणीय आहार, पानी आदि देने वाला श्रमणोपासक एकान्त पाप कर्म का उपार्जन करता है, जरा भी निर्जरा धर्म नही करता।[2] जो साधु अन्यतीर्थी व गृहस्थ को चतुर्विध आहार का दान करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[3] इसी प्रकार जो साधु अन्यतीर्थी या गृहस्थ को वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रमार्जन का दान करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[4]

आनन्द श्रावक ने भगवान् श्री महावीर के सम्मुख श्रावक के बारह व्रत

---

१ ततेणं णदे तेहिं सोलसेहिं रोयायकेहिं अभिभूए समाणे णदाए पुक्ख-रिणं ए मुच्छित्ते ४ तिरिक्ख जोणिएहिं बद्धाण बद्धयए सिए अट्ट दुहट्ट वसट्ठे काल मासे काल किच्चा णदा पोक्खरिणीय दद्दुरीए कुच्छिसि दद्दुरत्ताए उववण्णे ॥२६॥

—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र अ० १३

२ समणोवासगस्सण भंते ? तहारूव असजय, अविरय, अपडिहय, अपच्च-क्खाय पावकम्मे फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण पाण जाव किं कज्जइ। गोयमा! एगत सो से पावे कम्मे कज्जइ नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ।

—भगवती सूत्र शतक ८ उ० ६

३ जे भिक्खू अण्ण उत्थिएण वा गारत्थिएण वा असणं वा ४ देयइ देयतं वा साइज्जइ॥

—निशीथ सूत्र उद्देशक १५ बो० ७८

४. जे भिक्खू अण्ण उत्थिएण वा गारत्थिएण वा वत्थ वा पडिग्गह वा कवल वा पायपुच्छण वा देयइ देयन्त वा साइज्जइ ॥७९॥

—निशीथ सूत्र उद्देशक १५ बो० ७९

स्वीकार किए। तदनन्तर उसने अभिग्रह धारण किया, भगवन्! आज से मैं अन्य-तीर्थी, अन्यतीर्थियो के देव, अन्यतीर्थ मे गए आर्हत भिक्षुओ को आहार, पानी आदि न दूगा, न दिलाऊगा। इस व्रत मे मेरे छ आगार होगे—१ राजा का आदेश, २ गण का आदेश, ३ बलवान का आदेश, ४ देवता का आदेश, ५ कुल ज्येष्ठ का आदेश, ६ अटवी आदि विशेष परिस्थिति।[1]

शकडाल पुत्र भगवान् श्री महावीर का श्रावक बना। अपने चिरन्तन गुरु गौशालक के घर आने पर उसने जरा भी आवभगत नही की। गौशालक द्वारा भगवान् श्री महावीर की प्रशसा किए जाने पर उसने उसे पीठ, फलक, शय्या आदि दिए और कहा—मेरे धर्माचार्य की प्रशसा की, इसलिए मैं यह सब दे रहा हू न कि धर्म और तप मान कर।[2]

जगज्जीव-रक्षा का स्वरूप

एक ओर समस्त जीवो की रक्षा के लिए प्रवचन करना और एक ओर किसी राह भूले को मार्ग न बताना, साधु स्वय और अनेको जीव डूबे जा रहे हैं, उस स्थिति मे नावा का छिद्र न बताना, अनुकम्पावश किसी प्राणी को न पाश-मुक्त करना

---

१ तएण से आणदे गाहावइ समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए पचाणुव्वइय सत्त सिक्खावइय दुवालसविहं सावगधम्म पडिवज्जइ २ त्ता समणं भगवं महावीर वदति नमसति वदित्ता नमसित्ता एवं वयासी—णो खलु मे भते! कप्पइ अज्जपभइओ अण्णउत्थिए वा अणउत्थिय देवयाणि वा अण उत्थिय परिग्गहियाणि वा अरिहन्त चेइयाति १ वदित्तए वा नमसित्तए वा पुव्वि अणालवित्तेण आलवित्तए वा सलवित्तए वा तेसिं असण वा पाण वा खाइम वा साइमं वा दाउ वा अणुप्पदाउं वा नन्नत्थ रायाभिओगेण, गणाभिओगेण, बलाभिओगेण, देवाभिओगेण, गुरुनिग्गहेण, वित्तीकंतारेणं।

—उपासकदसाङ्ग सूत्र अ० १

२. तएण से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसाल मखलिपुत्त एवं वयासी जम्हाण देवाणुप्पिया! तुब्भे मम धम्मायरियस्स जाव महावीरस्स सन्तेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सब्वेहिं सव्व भूतेहिं भावेहिं गुणकित्तणं करेहि। तम्हाणं अहं तुब्भे पड़िहारिएणं पीढ जाव सथारयण उवनिमतेमि नो चेवणं धम्मोति वा तवोति वा।

—उपासकदसाङ्ग सूत्र अ० ७

और न पाश-युक्त करना आदि विधान सहसा यह प्रश्न उपस्थित करते है, आखिर परम कारुणिक भगवान् श्री महावीर की वह जगज्जीव रक्षा है क्या ? साधारण कोटि का व्यक्ति भी उक्त परिस्थितियो मे मार्ग बताने, छिद्र बताने व जीवो को पाश-मुक्त करने के लिए प्रेरित होगा, अपना कर्तव्य समझेगा, वहा छव काया के रक्षक साधु-साध्वियो के लिए यह अकरुणापरक और असामाजिक जैसा आचार अवश्य किसी रहस्य का द्योतक है। यह हो नही सकता कि भगवान् श्री महावीर करुणासिन्धु नही थे और उन्होने जगज्जीव-रक्षा के लिए प्रवचन नही किया। और न यह भी हो सकता है कि उनके ये जगज्जीवो के प्रति औदासिन्य प्रधान निरूपण अहिंसा, करुणा और अनुकम्पा से कोई परे की बात हो। इन सबका हार्द यही है कि भगवान् श्री महावीर की जगज्जीव रक्षा का स्वरूप है—प्राणीमात्र को दु ख न देना, शोक उत्पन्न न करना, न रुलाना, न अश्रुपात करवाना, न उन जगज्जीवो को ताडन-तर्जन देना।[1]

सूत्रकृताग सूत्र मोक्ष-मार्ग अध्ययन मे भगवान् श्री महावीर की जगज्जीव-रक्षा का हार्द और भी स्पष्ट हो जाता है। जम्बूस्वामी के प्रश्न पर सुधर्मास्वामी भगवान् श्री महावीर द्वारा निरूपित मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय; ये षट्-कायिक जीव ससार मे हैं। इनके अतिरिक्त कोई जीवनिकाय नही है। बुद्धिमान् पुरुष इन षट्कायिक जीवो को, सबको दु ख अप्रिय है ऐसा सम्यक् प्रकार से समझ कर, सबके प्रति अहिंसा करे। ऊर्ध्व, अधो और तिर्यग् दिशा मे जो भी त्रस और स्थावर प्राणी है, उनकी हिंसा से निवृत्ति को ही निर्वाण कहा गया है।[2] इस

---

१. अत्थिण भते ! जीवाण सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जति, हंता अत्थि। कहण्ण भते ! साया वेयणिज्जा कम्मा कज्जंति, गोयमा ! पाणाणुकपयाए, भूयाणुकपयाए, जीवाणुकपयाए, सत्ताणुकंपयाए, बहूणं पाणाणं जाव सत्ताण अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टण-याए अपरियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जति एव नेरइया णवि जाव वेमाणियाणं।

—भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक ६

२ पुढवी जीवा पुढो सत्ता, आउ जीवा तहागणी।
वाउ जीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा ॥७॥
अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया।
एतावए जीवकाय, णावरे कोइ विज्जइ ॥८॥

निरूपण से यह भली भाति स्पष्ट हो जाता है, भगवान् श्री महावीर का मोक्ष-पथ हिंसा-निवृत्तिरूप अहिंसा, दया और अनुकम्पा है। इसी अध्ययन मे वताया गया है—किसी ग्राम या नगर मे रहे साधु को कूप-खननादि और दानशालादि करने वाला पुरुष विनयपूर्वक पूछे—इनमे धर्म है या नही, ऐसे प्रश्न का आत्मगुप्त जितेन्द्रिय साधु कुछ भी उत्तर न दे। इस प्रकार के समारम्भ मे पुण्य है या पुण्य नही है, ऐसा भी वह नही बोले। यह दोनो प्रकार की भाषा महाभय की हेतु है। दान के लिए जो त्रस और स्थावर प्राणी मारे जाते है, उनकी रक्षा के लिए पुण्य है, ऐसा भी वह न बोले। क्योकि जो दान की प्रशसा करता है, वह प्राणियो का बध चाहता है और जो दान का वर्तमान मे निषेध करता है, वह अनेक जीवो की आजीविका-विच्छेद करता है। इस प्रकार जो साधु सयमस्थित रहता है, वह निर्वाण को प्राप्त होता है।[1] उक्त उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जाने के साथ कि षट्कायिक जीव ही सव्व जगज्जीव हैं और हिंसा न करना ही उनकी रक्षा रूप दया है, करुणापरक व लोकोपकारक दान के विषय मे भी वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है। इन प्रसगो को केवल यह कहकर ही नही टाला जा सकता कि उक्त प्रकार के विधि-विधान साधुजनो के लिए है, गृहस्थ किसी राह भूले को मार्ग वताता है, नौका मे छिद्र वताता है तो वह अनवद्य करुणा है और मोक्षाभिगमन का पथ है। उक्त विधि-विधानो के पालन की अनिवार्यता भले ही साधुजनो के लिए

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मतिम पडिलेहिया।
सव्वे अक्कतदुक्खाय, अतो सव्वे अहिंसया ॥९॥
उड्ढ अहेय तिरिय, जे केइ तस थावरा।
सव्वत्थ विरतिं विज्जा, सति निव्वाण माहियं ॥११॥

१ तहागिरं समारब्भ, अत्थि पुन्न ति णो वए।
अहवा णत्थि पुन्न ति, एवमेय महब्भयं ॥१७॥
दाणट्ठाय जे पाणा, हम्मति तस थावरा।
तेसिं सारखणट्ठाए, तम्हा अत्थि त्ति णो वए ॥१८॥
जेसिं त उवकप्पति, अन्नपाणं तहाविह।
तेसिं लाभतरायति, तम्हा णत्थित्ति णो वए ॥१९॥
जेय दानं पससति, वह मिच्छति पाणिणं।
जेयण पडिसेहंति, वितिच्छेयं करति ते ॥२०॥
दुहओवि ते न भासति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो।
आय रयस्स हेच्चाणं, निव्वाणं पाउणंति ते ॥२१॥

है, क्योकि उन्होने एकान्त अनवद्य आचरण का ही व्रत ले रखा है, परन्तु सिद्धान्त-निर्णय मे उन विधि-विधानो को भुलाया नही जा सकता। गृहस्थ के लिए वे आचरण यदि अनवद्य अहिंसा की कोटि मे आते होते तो कोई कारण नही रह जाता कि मुनिजनो के लिए वे वैध न होते। एक गृहस्थ किसी अन्य मार्ग-भ्रष्ट गृहस्थ को मार्ग बताकर विशुद्ध अनुकम्पा करता है और एक मुनि वही कार्य कर अपना चातुर्मासिक सयम खो देता है, किसी भी प्रकार बुद्धिगम्य होने की बात नही है। गृहस्थ के लिए भी उक्त प्रकार की अनुकम्पा करने के लिए कोई विधान या निरूपण करते तो अवश्य उस मन्तव्य का कोई मूल्य होता, पर जैन आगमो मे ऐसा नही है। इसमे जरा भी सन्देह नही कि भगवान् महावीर की दृष्टि मे उक्त प्रकार की लौकिक क्रियाओ मे शुद्ध अनुकम्पा होती तो वे उसके करने मे साधु-साध्वियो के लिए चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान न कर, किसी राह भूले को मार्ग न बताने मे, नौकागत छिद्र न बताने मे, दु.खित प्राणी को पाश-मुक्त न करने मे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान करते। पर उनकी अहिंसा और उनकी अनुकम्पा या जीव-रक्षा का शुद्ध रूप नकारात्मक ही था। उनकी दृष्टि मे पृथ्वी, अप्, वनस्पति से लेकर मनुष्य तक सब प्राणी समान थे। एक की हिंसा कर दूसरे की रक्षा उनकी दृष्टि मे अहिंसा कैसे हो सकती थी? उनकी दृष्टि मे हिंसा न करना धर्म था, पर किसी की जीवन-कामना करना धर्म हो ही ऐसी बात नही थी। जीवन-कामना की उपादेयता मे सयम और असयम उनके मानदण्ड थे।

जीवन और मृत्यु की निरपेक्षता

सर्वसाधारण मे 'जीओ और जीने दो' का वाक्य जोरो से चल पडा है। अहिंसा पर बोलते समय इस उक्ति को प्राथमिकता दी जाती है और कहा जाता है, भगवान् श्री महावीर का उद्घोष था—'जीओ और जीने दो।' यह यथार्थ नही है। न तो भगवान् श्री महावीर के सूक्तो मे इस उक्ति का कही स्थान है और न इसका भाव भी पूर्णत उनकी प्ररूपणा के अनुकूल पडता है। इसमे 'जीने दो' से भी पहले 'जीओ' की बात कही है। भगवान् श्री महावीर के निरूपण मे असयत जीवन-कामना के लिए कोई स्थान ही नही है। अध्यात्मपरायण भगवान् महावीर का तो उद्घोष इस विषय मे यह रहा है—"णो जीविय णो मरणावकखी अर्थात् जीवन और मरण का आकाक्षी न हो।"[1] जीवन और मृत्यु की निरपेक्षता

१. क सूत्रकृतागसूत्र श्रुत० १ अ० १३ गाथा २३
ख. सूत्रकृतागसूत्र श्रुत० १ अ० १० गाथा २४
ग. सूत्रकृतागसूत्र श्रुत० १ अ० ३ उद्देशक ४ गाथा १५

ही वास्तविक अध्यात्म है। 'जीओ और जीने दो' के उद्घोष मे उसका दर्शन नही होता।

आत्मोपचायक जीव-रक्षा

इस प्रकार भगवान् श्री महावीर की अहिंसा का बहुमुखी चिन्तन करते हुए हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुच जाते है कि उनकी जीव-रक्षा निकेवल आत्मोपचायक थी न कि देहोपचायक। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे जहा कहा गया है—समस्त जगत् के जीवो की रक्षारूप दया के लिए भगवान् श्री महावीर ने प्रवचन कहा है, उसी अगसूत्र मे कुछ ही अन्तर पर कहा जाता है—भगवान् ने सब जीवो को असत्य, पिशुन, परुष, कटुक और चपल वचनो से बचाने के लिए अपना प्रवचन कहा है।[1] प्रस्तुत वाक्य-विन्यास पूर्व प्रस्तावित वाक्य-विन्यास का मानो भावार्थक अनुवाद हो गया है। सूत्रकृताग सूत्र का 'सकामकिच्च णिह आरियाण' यह आर्द्रकुमार-कथन भी यही अभिव्यक्त करता है। भगवान् अपने कर्म-क्षय के लिए तथा अन्य लोगो को तारने के लिए धर्मोपदेश करते हैं।[2] स्थविर कल्पी साधु को आत्मानुकम्पी होने के साथ-साथ परानुकम्पी[3] भी कहा गया है। मार्ग या नौका-छिद्र न बताना आदि विधानो का पालन करते हुए साधु आत्मानुकम्पी तथा परानुकम्पी इसी अपेक्षा से होता है कि वह किसी भी प्राणी का प्राण-वियोजन नही करता, न किसी प्राणी को क्लेश उत्पन्न करता है। वह केवल पापाचारी को उपदेशादि द्वारा पाप-विमुख करता है, जैसा कि केवल आत्मानुकम्पी होने के कारण जिनकल्पी साधु नही किया करता है।

निष्कर्ष यह होता है—अल्प या अनल्प हिंसा की भूमिका पर अहिंसा, करुणा,

---

१. इमं च अलियपिसुणफरुसकडुयचवलवयणपरिरक्खणट्ठयाए पावयण भगवया सुकहियं।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र सवरद्वार

२. सूत्रकृतागसूत्र श्रुत० २ अ० ६ गाथा १७

३. चत्तारि पुरिस जाया पन्नत्ता तंजहा—आयाणुकम्पए नाम एगे णो पराणुकम्पए।

टीका—आत्मानुकम्पक' आत्महितप्रवृत्तः प्रत्येकबुद्धो जिनकल्पिको वा परानपेक्षो निर्घृणः। परानुकम्पको निष्ठितार्थतया तीर्थंकर., आत्मानपेक्षो वा दयैकरमो मेतार्यवत्। उभयानुकम्पकः स्थविरकल्पिक.। उभयानुकम्पक पापात्मा कालशौकरिकादिरिति।

—ठाणांगसूत्र ठाणा ४ उद्देशक ४ सू० ३५२

दया, अनुकम्पा आदि शब्दो से अभिहित होने वाले मनोभाव अनवद्य नहीं रह सकते। हिंसा पर आधारित परोपकार, दान, करुणा, सेवा आदि हिंसा के ही विधि पक्ष हो सकते हैं, अहिंसा के नही।

भगवान् श्री महावीर कहते है—हिंसादि कार्यरत हिंसक सामने हो तो साधु के लिए तीन ही मार्ग है—वह धर्मोपदेश करे, मौन रहे या वहा से उठकर चला जाए।[1]

षष्ठगुणस्थानवर्ती और षष्ठोत्तर गुणस्थानवर्ती आत्माए सयति है। पचमगुण-स्थानवर्ती सयतासयति है और शेष चतुर्गुणस्थानवर्ती असयति हैं। जहा दो ही भेद अपेक्षित हो, वहा प्राग् पचगुणस्थानवर्ती आत्माए असयति की कोटि मे हैं। असयत जीवन-कामना स्वय असयम है और वह राग सम्भाव्य भी है, अत यह अहिंसा का अग नही है।

स्व और पर की अपेक्षा में अहिंसा का विधि पक्ष

अहिंसा का विधि पक्ष, स्व-अपेक्षा मे स्वाध्याय, ध्यान, कषाय-विजिगीषा, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य का आचरण आदि रूप सत्प्रवृत्ति है। पर-अपेक्षा मे उक्त सत्प्रवृत्तियो मे किसी प्राणी को प्रेरित करना तथा उपदेशादि द्वारा हृदय-परिवर्तन कर उसे हिंसादि दुराचरण से बचाना है। उक्त तथ्यो के आधार पर ही नावा-स्थित साधु का छिद्र न बताना, अरण्यगत को मार्ग न बताना, किसी प्राणी को अनुकम्पावश पाश-मुक्त या पाश-युक्त न करना आदि साध्वाचारशालीन रह सकते हैं। इन तथ्यो पर ही नमि राजर्षि को म्रियमाण जीवो की उपेक्षा राग-मुक्त स्थिति मानी गई है। चुलनीपिता का माता को बचाने के लिए उठना, रागात्मक दया होकर पौषध-भग का निमित्त बना है। तथारूप असयति, अव्रती को गृहस्थ द्वारा दिया जाने वाला दान एकान्त पाप का और सयति को दिया जाने वाला एकान्त निर्जरा का हेतु बताया गया है। इन्ही तथ्यो पर आनन्द का अभिग्रह और शकडाल का 'न धम्मोत्ति वा, न तवोत्ति वा' का कथन संगत होता है।

आगमिक और औपनिषदिक स्वरूप

भगवान् श्री महावीर की अहिंसा के स्वरूप को यदि हम एक ही समुल्लेख मे देखना चाहें तो वह प्रश्नव्याकरणसूत्र मे मिलता है। वहा अहिंसा के साठ एका-

---

१. तओ आयरक्खा पन्नता तंजहा—धम्मियाए पडिचोयणाए भवइ, तुसि-णीए वा सिया उचित्ता वा आया एगंत मवक्कमेज्जा।

—ठाणांगसूत्र ठाणा ३ उद्देशक ४

र्थक नाम बतलाये गए है—निर्वाण, निवृत्ति, समाधि, विरति, दया, विमुक्ति, शान्ति, रक्षा, यतना, अभय, अमाघात (अमरत्व) आदि ।[1] यहा अधिकाश नाम निवृत्ति के सूचक है। इनका फलित स्वत सिद्ध है कि हिंसा-निवृत्ति अहिंसा है और दया, रक्षा आदि उसी के पर्यायवाची नाम हैं ।[2] अस्तु, अहिंसा के स्वरूप पर विचार करते हुए हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुच जाते है कि छोटी-बडी विभिन्नताओ मे भी अहिंसा और करुणा का आगमिक और औपनिषदिक स्वरूप दैहिक और ऐहिक न होकर परम आध्यात्मिक ही था। लोकमान्य बाल गगाधर तिलक कहते हैं—हिन्दुस्तान मे तात्कालिक प्रचलित धर्मो मे से जैन तथा उपनिषद् धर्म पूर्णतया निवृत्ति-प्रधान ही थे।[3] महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज लिखते है—उपनिषद्कालीन प्राचीन साधना मे जीवन-मुक्ति की दशा को ही करुणा के प्रकाश का क्षेत्र स्वीकार किया गया है। ज्ञानी तथा योगी का परार्थ-सम्पादन इस महान् क्षेत्र के अन्तर्भूत है। जीवन-मुक्त ज्ञानी के जीवन का उद्देश्य भव-दु ख की निवृत्ति के लिए उपाय रूप मे ज्ञान-दान करना है। करुणा के प्रकाशन की यही मुख्य प्रणाली थी। करुणा के प्रकाश करने की दूसरी प्रणालिया गौण समझी जाती थी। जीवन-मुक्त महापुरुष ही ससार-ताप से पीडित जीवो के उद्धार के लिए अधिकारी थे। वर्तमान जगत् मे करुणा के जितने ही आकार दिखाई पडते हैं, वे आवश्यक होते हुए भी मुख्य करुणा के निदर्शन नही हैं ।[4]

आत्म-उन्नायकता से देहोपचायकता की ओर

आत्मोन्नायक अहिंसा मे देहोन्नायकता कब से और क्यो ?

यह हमने देखा कि प्राचीन अहिंसा-चिन्तन मे आत्मिक ऊर्ध्व सचरण की चिन्ता ही प्रमुख है। दैहिक अपेक्षाओ को वासना-परिणाम मानकर व्यक्ति को उनसे ऊपर उठ जाने के लिए प्रेरित किया गया है। भरत चक्रवर्ती द्वारा अपने अठाणवे भाइयो के राज्य छीन लिए गये। वे अठाणवे भाई असहाय और अनाथ

---

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र संवरद्वार

२. एवमादीणि नियगुण निम्मियाइ पज्जवनामाणि होति अहिंसाए भगवतीए ।

—प्रश्नव्याकरणसूत्र १ संवरद्वार

३. गीता रहस्य पृ० ५१०

४. बौद्ध धर्म-दर्शन भूमिका पृ० १७

स्थिति को प्राप्त होकर अपने पूर्व के पिता और वर्तमान के तीर्थंकर आदिनाथ प्रभु के पास गए और अपने राज्योपभोग छीन लेने की बात कही। आदिनाथ प्रभु ने उन्हे इन्द्रिय-भोगो से पराड्मुख करते हुए कहा—सम्यग् बोध को प्राप्त करो। प्रेत्यलोक मे वह दुर्लभ है।[1] समस्त बन्धु प्रतिबुद्ध हुए और राज्य-लालसा को ठुकरा कर सयति बने। अन्ततोगत्वा दैहिक दु ख-मुक्ति की अपेक्षा आत्मिक क्लेश-मुक्ति ही यथार्थ, व्यापक और उपयोगी है। पर यहा तो यही प्रसगोपात्त है कि अहिंसा के इस आत्मोन्नयन-प्रधान स्वरूप के साथ भारतीय धर्मो मे देहोन्नयन की बात कब से प्रमुख बनी और उसके प्रेरक आधार क्या है?

निवर्तक और प्रवर्तक : एक सदिग्ध शब्द प्रयोग

अहिंसा की इस द्विविधता को कुछ विचारको ने निवर्तक अहिंसा और प्रवर्तक अहिंसा के शब्द-प्रयोग से अभिहित किया है।[2] इस तात्पर्य मे कि निवृत्ति-प्रधान अहिंसा निवर्तक अहिंसा और प्रवृत्ति प्रधान अहिंसा प्रवर्तक अहिंसा, कदाचित् यह शब्द-प्रयोग यथार्थ भी माना जा सके,परन्तु जब कि भगवान् श्री महावीर की अहिंसा जितनी निवृत्तिमूलक है, शुभयोग की अपेक्षा मे उतनी प्रवृत्तिमूलक भी, तब उसे निकेवल निवर्तक शब्द से अभिव्यक्त करने मे यथार्थता का अवबोध नही होता। साथ-साथ प्रवृत्तिमूलक अहिंसा का विकास कहकर निवर्तक शब्द का प्रयोग करने मे अहिंसा के असन्निवृत्तिमूलक और सत्प्रवृत्तिमूलक स्वरूप की कुत्सा भी अभिव्यक्त होती है। दैहिक दु ख-निवृत्ति का स्वरूप स्वभावत ही सीमित होता है। प्रवर्तक दया कुछ ही व्यक्तियो तक पहुच सकती है। जीवन-मुक्त वीतराग की करुणा मोह-मुक्ति का बोध-दान बनकर अगणित लोगो को सुखी करती है। इसी करुणा का विस्तार प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ प्रभु से भगवान् श्री महावीर तक सभी तीर्थंकरो ने किया है और समस्त विश्व उनकी करुणा से उपकृत हुआ है। सहस्रो वर्ष पश्चात् आज भी हम उनकी बोध-गगा के कृतार्थ करुणापात्र हो रहे हैं। क्या यह सोचा भी जा सकता है कि उनकी वह अहिंसा निवर्तक या निष्क्रिय थी? उक्त शब्द-विन्यास के प्रयोक्ता प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी स्वय भी प्रसग-भेद से तथ्यरूप मे इस बात को स्वीकार करते हैं। धर्मानन्द कोशाम्बी की धारणाओ की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं—भगवान् पार्श्वनाथ की अहिंसा को वे केवल निषेधात्मक और बुद्ध की

---

१. संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।

—सूत्रकृतागसूत्र श्रु १ अ० २ गाथा १

२. अहिंसा के आचार और विचार का विकास

अहिंसा को विधायक कहते है, जो ठीक नही लगता है। पार्श्वनाथ के चातुर्याम त्रिविध थे। उनमे जैन-परिभाषा के अनुसार समिति या सत्प्रवृत्ति का तत्त्व भी था और उनका एक विशिष्ट सघ था, ऐसा स्वय कोशाम्बीजी भी स्वीकार करते हैं। यदि सारा त्यागी सघ केवल निष्क्रियरूप से बैठा रहता और कुछ भी काम नही करता तो जनता मे घर की हुई हिंसा-प्रधान यज्ञो की सस्था को किस प्रकार हटा सकता या उसे निर्बल कर सकता। भगवान् महावीर से पहले जैन-परम्परा मे पूर्व श्रुत के अस्तित्व के और कर्म-तत्त्व विषयक कुछ और विशिष्ट साहित्य होने के प्रमाण भी मिलते हैं, जो कि पार्श्वनाथ के सघ की निष्क्रियता के विरुद्ध सबल प्रमाण हैं।[1]

प्रवर्तक और निवर्तक यह शब्द युग्म तो तभी यथार्थ प्रयुक्त हो सकता है जब एक पक्ष प्रवृत्तिमात्र का निषेध करता हो और दूसरा पक्ष निवृत्तिमात्र का। वस्तुस्थिति यह है कि किसी एक का भी दूसरे मे पूर्ण निषेध नही है। निवृत्ति की विशुद्धता मे किसी को आपत्ति नही है। उस निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति को योजित करने का ही केवल वाछित अभिप्राय है। निवृत्ति-प्रधान माने जाने वाला पक्ष भी केवल असद्प्रवृत्ति का निषेध करता है। सत्प्रवृत्ति के लिए वहा भी मुक्त सचार है। प्रवृत्ति-मात्र को प्रवृत्तिप्रधान पक्ष भी उपादेय कोटि मे नही मानता। वहा भी सत्-असत् का विवेक तो अपेक्षित है ही। अधिक-से-अधिक प्रवर्तक पक्ष गीता का कर्म-योग है। वहा भी फलाशा-रहित और करणीय[2] प्रवृत्ति का ही आचार-कोटि से माना है। यथार्थ भेद प्रवृत्ति और निवृत्ति का नही ठहरता। वह ठहरता है, सत्प्रवृत्ति की व्याख्या का। एक पक्ष की व्याख्या मे कुछ एक प्रवृत्तिया सत् हैं तो दूसरे पक्ष की व्याख्या मे वे असत्। इस साधारण भेद को व्यक्त करने के लिए प्रवर्तक धर्म और प्रवर्तक अहिंसा, निवर्तक धर्म और निवर्तक अहिंसा आदि प्रयोग सदिग्ध शब्द-विन्यास हैं। भूखे को भोजन देना, प्यासे को पानी पिलाना, रोगी का औषधोपचार करना प्रवर्तक कही जाने वाली अहिंसा का मुख्य रूप है। व्यसनी को व्यसन-मुक्त करना या भूख-प्यास, रोगादि से व्याकुल को उन देहार्तियो का सामना करने के लिए प्रखर आत्म-बल देना आदि निवर्तक कही जाने वाली अहिंसा (दया) है। दया के दोनो रूपो मे व्यक्ति और समाज के

---

१. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, अवलोकन पृ० २१

२ अनाश्रितः कर्मफल कार्यं कर्म करोति य.।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
—गीता अ० ६ श्लोक १

लिए कौन-सा रूप अधिक उपयोगी व अध्यात्म-सम्मत है, इसकी चर्चा यहा नही करेंगे। शब्द-प्रयोग की दृष्टि से उक्त दोनो स्वरूपो मे एक दैहिक, दूसरा आत्मिक प्रत्यक्ष है। अत अहिंसा (दया) के इस एक स्वरूप को देहोपचायक तथा दूसरे स्वरूप को आत्मोपचायक अथवा तत्सम अन्य शब्दो मे कहा जाए तो अधिक यथार्थ लगता है।

भगवान् बुद्ध और महायान सम्प्रदाय की करुणा

गौतम बुद्ध के विधायक उपदेश

उपनिषदो व भगवान् श्री महावीर की आत्मोपचायक अहिंसा मे देहोचायकता का आरम्भ भगवान् बुद्ध की अहिंसा से माना जा सकता है। बौद्ध धर्म उत्कट देह-दमन और उत्कट भोगवाद के बीच का मध्यम मार्ग था। अत उसमे विधायक उपदेशो का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक था। महामगलसुत्त मे भगवान् बुद्ध कहते हैं—माता-पिता की सेवा, पुत्र-दार का सग्रह, दान, धर्म-चर्या, अनवद्य कर्म ये उत्तम मगल हैं। यह विधायकता बुद्ध के मूलभूत उपदेशो मे नाममात्र से ही रही है, पर आगे चलकर हीनयान और महायान के निर्वाण विषयक सैद्धान्तिक मतभेदो के आधार परे परम्परा विशेष मे वृद्धिगत हुई है। वह वृद्धि भी आचार सम्बन्धी नियमो मे शिथिलता चाहने वाली परम्परा मे ही हुई है। इतिहास बताता है—राजगृह मे बौद्ध सघ की जो प्रथम महासभा हुई थी, उसी मे नियमो का बन्धन कुछ ढीला करने का प्रयत्न किया गया था, किन्तु उस प्रयत्न मे सफलता न मिली। वैशाली की सभा मे फिर प्रयत्न किया गया। उस सभा मे स्थविरो ने उस प्रयत्न को दूषित ठहराया। उससे असन्तुष्ट होकर सुविधा के इच्छुको ने महासगीति नाम से एक पृथक् सभा की। इसके प्रवर्तक महासघिक नाम से प्रख्यात हुए, क्योकि उस सभा मे ऐसे ही भिक्षुओ की सख्या अधिक थी। महासघिक लोगो का सम्प्रदाय महायान नाम से पुकारा जाने लगा। इसी प्रकार स्थविरवादियो का जो सगठन हुआ, वह हीनयान सम्प्रदाय कहलाया।[1]

हीनयान और महायान के मोक्ष सम्बन्धी विचार

हीनयान की मान्यता के अनुसार निर्वाण वैयक्तिक है, इसलिए दु ख-क्षय का साधनरूप धर्म और उसके भेद विशेष, वैयक्तिक हैं। महायान के अनुसार निर्वाण

---

१. बौद्ध-धर्म पृ० ६१, विशेष विवरण के लिए बौद्ध धर्म-दर्शन खण्ड १, अ० ४ से १० तक, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५४७ से ६३८

सामाजिक है। उसके कथनानुसार बुद्ध ने अपने दु ख-क्षय के लिए कुछ भी नही किया। व्यक्तिगत मोक्ष को उन्होने रस-विहीन माना।[1] जब तक एक भी प्राणी दु ख-युक्त है, तब तक मोक्ष काम्य नही है। भगवान् बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त नही किया, अपितु अब भी वे योन्यन्तर से सभी जीवो को मोक्ष प्राप्त कराने मे सलग्न हैं।

महायान सम्प्रदाय का करुणा व लोकोपकार सम्बन्धी अभिमत

मोक्षवाद की इस सामुदायिक धारणा पर परानुग्रह-वृत्ति का विकास हुआ। महायान बौद्ध-परम्परा का एक प्रभावशाली और समर्थ सम्प्रदाय था। प्रारम्भ मे भी वैशाली की सगीति मे केवल सात सौ साधु एकत्रित थे और महासघिको की कोशाम्बी मे होने वाली परिषद् मे दस सहस्र बौद्ध भिक्षुओ की उपस्थिति थी।[2] आगे चलकर यह सघ और भी व्यापक व प्रभावशाली बना तथा करुणा व लोकोपकार के अपने अभिमत स्वरूप को जन-जन तक पहुचाने मे सफल हुआ। डा० हरदयाल का कथन है—महायान के उद्गम मे अनेको देश-काल-जन्य प्रभावो के साथ गीता और ईसाई धर्म का बढता हुआ प्रभाव भी हेतुभूत था।[3] यह कथन स्वाभाविक भी लगता है, क्योकि गीता कर्म-योग के नाम से और ईसाई सेवा के नाम से लोक-सग्राहक प्रवृत्तियो पर बल देते ही हैं। आश्चर्य केवल यही रह जाता है, महायान के आधारभूत ग्रन्थो मे दु ख-निवारण की चर्चाए मिलती है, पर उनसे ऐसा नही लगता, वे अनाध्यात्मिक है। यहा अधिकाश चर्चा बन्धन-रूप आन्तरिक क्लेशो के निवारण की ही उपलब्ध होती है। महायान अभिधर्म सगीति-शास्त्र मे महायान की सात विशेषताओ का उल्लेख किया है। उसमे बताया गया है—

---

१ क—एव सर्वमिद कृत्वा यन्मया सादित शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वाना सर्वदु:खप्रशान्तकृत्॥३.६॥
मुच्यमानेषु सर्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्त मोक्षेणारसिकेन किम्? ८.१०८॥
—बोधिचर्यावतार

ख—न त्वहं कामये राज्य न स्वर्गं नपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामर्तिनाशनम्॥

२. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५४६

३. The Bodhisatva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature, pp 39-40,

१. महायान वस्तुत महान् और विशाल है, क्योकि उसमे जीव-मात्र की मुक्ति का सन्देश है।

२ महायान मे प्राणीमात्र के लिए त्राण का विधान है।

३ महायान का लक्ष्य बोधि-प्राप्ति है।

४ महायान का आदर्श बोधि-सत्त्व है, जो समस्त प्राणियो के उद्धारार्थ सतत उद्योगशील रहता है।

५ महायान की मान्यता है कि भगवान् बुद्ध ने उपाय-कौशल से नाना प्रकार के प्राणियो को नाना प्रकार से उपदेश दिया है, जो पारमार्थिक रूप से एक है।

६ बोधि-सत्त्व की दस भूमियो का महायान मे विधान है।

७ महायान के अनुसार बुद्ध सब मनुष्यो की आध्यात्मिक आवश्यकताओ को पूर्ण करने मे समर्थ हैं।

इन सातो विशेषताओ मे व्यवहारिक जीवन के लोकोपकारक कार्यो का कोई स्पष्ट उल्लेख नही है।

भगवान् बुद्ध और क्षुधार्त्त व्यक्ति

एक बार भगवान् बुद्ध के पास एक क्षुधार्त्त व्यक्ति आया। भिक्षु उसे धर्मोपदेश देने लगे। वह उपदेश-श्रवण मे अन्यमनस्क था। भगवान् बुद्ध ने कहा—पहले इसे रोटी खिलाओ, फिर धर्मोपदेश करो। वैसा ही किया गया। इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है, क्षुधा, तृषा आदि से जो मानसिक क्लेश उत्पन्न होता है, उसका निवारण किए बिना धर्म-बोध अकुरित नही होता। भोजन, पानी उस बोध को अकुरित करने मे हेतुभूत हो जाते हैं। धर्म और धर्म के अवान्तर हेतु ये सर्वथा दो बातें हैं। शुभ अनुष्ठान के भी अवान्तर हेतु शुभ और अशुभ दोनो ही प्रकार के हो सकते हैं। बहुत सम्भव है, भगवान् बुद्ध की इस हेतुरूप अपेक्षा को सामान्य जीवन व्यवहार मे वास्तविक अध्यात्म का स्थान मिल गया हो।

सम्राट् अशोक के शिलालेखो में

सम्राट् अशोक के शिलालेखो से भी इस सम्भावना की पुष्टि होती है। एक ओर उनमे मिलता है—

१ माता-पिता की सेवा करनी चाहिए। विद्यार्थी को आचार्य की सेवा करनी चाहिए। यही प्राचीन रीति है।[१]

२ देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्सा, एक मनुष्यो

---

१. अशोक के धर्म लेख, ब्रह्मगिरी, द्वितीय शिलालेख पृ० ६६

की चिकित्सा और दूसरी पशुओ की चिकित्सा का प्रवन्ध किया है। ओषधिया भी मनुष्यो और पशुओ के लिए जहा-जहा नही थी, तहा-तहा लाई और रोपी गई है। इसी तरह से मूल और फल भी जहा-तहा नही थे, सब जगह लाए और रोपे गए है। मार्गो मे पशुओ और मनुष्यो के आराम के लिए वृक्ष लगाए और कुए खुदवाए गए है।[1]

३ प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन से बन्धुओ का आदर, ब्राह्मण और श्रमणो का आदर, माता-पिता की सेवा तथा बूढो की सेवा बढ गई है।[2]

४ वृद्धो के दर्शन करना और उन्हे स्वर्ण-दान देना चाहिए।[3]

इन समस्त उल्लेखो का हार्द एक दूसरे सम्मुलेख से भली-भाति पकडा जा सकता है, जिसमे सम्राट् अशोक कहते हैं—सडको पर भी मैंने मनुष्यो और पशुओ को छाया देने के लिए वरगद के पेड लगवाए, आम्र वृक्ष की वाटिकाए लगवाई, आध-आध कोस पर कुए खुदवाए, सराए वनवाई और जहा-तहा पशुओ तथा मनुष्यो के उपकार के लिए अनेक पौंसले (आपान) बैठाए। किन्तु यह उपकार कुछ भी नही है। पहले के राजाओ ने और मैंने भी विविध प्रकार के सुखो से लोगो को सुखी किया है। किन्तु मैंने यह (सुख की व्यवस्था) इसलिए की है कि लोग धर्म के अनुसार आचरण करे।[4]

इस उल्लेख से यह धारणा और भी स्पष्ट हो जाती है कि सम्राट् अशोक ने विशेषत धर्माचरण का हेतु मानकर यह सब व्यवस्था की है। तत्त्व-स्थिति मे और व्यवहार मे वहुत वार इस प्रकार के मौलिक भेद पड जाते हैं। सर्वसाधारण मूलग्राही न होकर स्थूलग्राही होते है। दान के चित्त, वित्त और पात्र[5] तथा देश काल[6] सम्वद्ध तात्त्विक स्वरूप शास्त्रो मे रह गए हैं और सर्वसाधारण ने दानमात्र को ही मोक्षप्रद मानकर अपना लिया है। भगवान् वुद्ध और महायानी करुणा-निरूपण के साथ भी यही घटित हुआ हो तो कोई आश्चर्य नही।

---

१. अशोक के धर्म-लेख, द्वितीय शिलालेख पृ० १२१

२. अशोक के धर्म-लेख, चतुर्थ शिलालेख पृ० १४८

३. अशोक के धर्म-लेख, अष्टम शिलालेख पृ० १६७

४. अशोक के धर्म-लेख, सप्तम स्तम्भलेख (दिल्ली-टोपरा) पृ० ३७४-७६

५. दुलहाओ मुहादायी, मुहाजीवी वि दुल्लहा।

—दसवैकालिकसूत्र अ० ५ गा० १००

६. देशे काले च पात्रे च तद्दान सात्त्विकं स्मृतम्।

—गीता अ० १७ श्लोक २०

महायान और लोक-संग्राहकता पर लोकमान्य तिलक

लोकमान्य बालगगाधर तिलक तो निवृत्ति-प्रधान बौद्ध धर्म से महायान जैसा प्रवृत्ति लक्षण सिद्धान्त आविर्भूत हो सकता है, यह मानने को भी प्रस्तुत नही हैं। उनका कहना है—इस तत्त्व का विस्तृत प्रतिपादन गीता के अतिरिक्त कही भी नही किया गया है कि ब्रह्मनिष्ठ पुरुष लोक-सग्रह के लिए प्रवृत्ति-धर्म ही को स्वीकार करे। अतएव यह अनुमान करना पडता है कि जिस प्रकार मूल बौद्ध धर्म मे वासना को क्षय करने का निरा निवृत्ति-प्रधान मार्ग उपनिषदो से लिया गया है, उसी प्रकार जब महायान पथ निकला, तब उसमे प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-तत्त्व भी भगवद्गीता से ही ले लिया गया होगा।[1]

अगले सदर्भ मे वे लिखते हैं—नीचे लिखी हुई चार बातो से इतना तो नि:सन्देह सिद्ध हो जाता है कि बौद्धधर्म मे महायान पथ का प्रादुर्भाव होने से पहले केवल भागवत धर्म ही प्रचलित न था, बल्कि उस समय भगवद्गीता भी सर्वमान्य हो चुकी थी और इसी गीता के आधार पर महायान पथ निकला है। वे चार बाते इस प्रकार हैं—

१ केवल अनात्मवादी तथा सन्यास-प्रधान मूल बौद्धधर्म ही से आगे चलकर क्रमश स्वाभाविक रीति पर भक्ति-प्रधान तथा प्रवृत्ति-प्रधान तत्त्वो का निकलना सम्भव नही है।

२ महायान पथ की उत्पत्ति के विषय मे स्वय बौद्ध ग्रन्थकारो ने श्रीकृष्ण के नाम का स्पष्टतया निर्देश किया है।

३ गीता के भक्ति-प्रधान तथा प्रवृत्ति-प्रधान तत्त्वो की महायान पथो के मतो से अर्थत तथा शब्दश समानता है।

४ बौद्ध धर्म के साथ तात्कालीन प्रचलित अन्यान्य जैन तथा वैदिक पथो मे प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-मार्ग का प्रचार न था।[2]

अन्यान्य इतिहासकारो का भी अभिमत है कि भगवान् बुद्ध के मूल सिद्धान्तो का अनुगमन करने वाला तो हीनयान सम्प्रदाय ही है। महायान तो बौद्ध धर्म मे अविद्यमान तथा बीजरूप मे विद्यमान लोक-सग्राहक धारणा को सगृहीत या विस्तृत करने वाला सम्प्रदाय है। कुछ भी हो भारतवर्ष मे वह लोकैषणा पूरक अहिंसा (करुणा) को अग्रसर करने मे बहुत सफल रहा है, यह तो निर्विवाद है ही।

---

१. गीता रहस्य पृ० ६११

२. गीता रहस्य पृ० ६१३

गीता की लोक संग्राहक दृष्टि

भक्तिवाद की भूमिका मे मौलिक अन्तर

गीता प्राय समस्त वैदिक परम्पराओ का एक मान्य ग्रन्थ है। इसमे ज्ञान, भक्ति, कर्म आदि अनेको साधना-भेदो को मान्यता दी गई है। वैसे वे भेद-प्रभेद किंचित् स्वरूपान्तर से सभी भारतीय धर्मो मे विद्यमान हैं। ज्ञान, निवृत्ति, सन्यास, जैनो और बौद्धो मे उत्कृष्ट स्थिति से विकसित हुए हैं, यह सर्व विदित है। भक्ति-मार्ग का विकास ईश्वर कर्तृत्ववादी सम्प्रदायो मे विशेष रूप से हुआ है। यह स्वाभाविक भी था। सर्वार्पण और सर्वोत्सर्जन किसी दूसरे के प्रति तभी पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं, जबकि किसी सत्ता विशेष के प्रति कर्ता-धर्ता होने की निष्ठा रोम-रोम मे धस गई हो। वही सब कुछ मेरा करेगा, यह विश्वास अटल हो गया हो। जैनो और बौद्धो मे कर्तृत्ववाद नही है, फिर भी भक्तिवाद के लिए समुचित स्थान है। वहा साधक प्रतिदिन कहता है—"अरिहन्ते सरण पवज्जामि, सिद्धे सरण पवज्जामि, साहू शरण पवज्जामि, केवली पन्नत्त धम्म सरण पवज्जामि[1] अर्थात् मै अरिहन्त, सिद्ध, साधु व केवली-प्ररूपित धर्म की शरण ग्रहण करता हू।" "बुद्ध शरण गच्छामि, धम्म शरण गच्छामि, सघ शरण गच्छामि[2]—मैं बुद्ध की शरण जाता हू, धर्म की शरण जाता हू, सघ की शरण जाता हू।" यह जैनो और बौद्धो की भक्ति का निदर्शन है। यहा साधक यह मानकर चलता है कि भगवान् को मैं अपनी आत्म-परिणति से अपने लिए प्रेरक बना रहा हू, पर मेरी इस भक्ति से तुष्ट होकर भगवान् मेरे लिए कुछ भी करने नही आएगे। भक्ति की भूमिका का यह श्रमण और वैदिक धाराओ मे मौलिक अन्तर है। वैदिक परम्पराओ मे अनेको भक्तो के भगवत्-साक्षात्कार होने की चर्चाए हैं, पर जैन व बौद्ध परम्पराओ मे ऐसी सम्भावनाओ के लिए कोई स्थान नही है।

अनासक्ति के नाम पर भोगवाद का आलम्बन

कर्मयोग की देन गीता की अपनी निराली है। गीता के कर्मयोग का व्यापक होना इसलिए भी सहज था कि वह लोक-रुचि के अनुकूल पडता है। मोक्षार्थी मनुष्य यह क्यो नही चाहेगा कि उसे मोक्ष-प्राप्ति के लिए गृह-त्याग न करना पडे और केवल अनासक्ति की शर्त पर ही उसे वह मिल जाए। अनासक्ति की शर्त भी सीधी बात तो नही है और समस्त दैहिक कर्म करते हुए व्यक्ति सर्वथा

---

१ आवश्यक सूत्र, मगल पाठ

२. भगवान् बुद्ध पृ० १७७

अनासक्त रह सके, यह बुद्धिगम्य भी कहा तक है, यह एक विचारणीय विषय है। राजर्षि जनक का नाम लेकर आज लोक-प्रवाह कर्मयोग की दिशा मे चल पडा है, पर उस प्रवाह मे कितने लोग होगे जो दाए हाथ पर चन्दन और बाए हाथ पर अग्नि का स्पर्श होने पर भी दोनो की समानानुभूति करते हो, जैसा कि जनक ने अपने विषय मे कहा था। भले ही कुछ लोग अपने जीवन-व्यवहार मे अनासक्ति का विशिष्ट परिचय दे रहे हो, सामान्यत तो यह अनासक्तिवाद अधिक लोगो के लिए भोगवाद पर चलते रहने का एक आलम्बन बन गया है। जनतन्त्र के युग मे एक पद पर दसो लोग भूखे भेडिये की तरह झपटते हैं, यह है आज का निष्काम कर्मयोग। व्याख्याए कितनी ही सुन्दर हो, सिद्धान्त की कसौटी तो उसका व्यवहार है।

गीता प्रवृत्तिमार्गी ग्रन्थ या निवृत्तिमार्गी ?

गीता निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति को प्रधानता देने वाला ग्रन्थ है, यह भी निर्विवाद विषय नही है। वेदान्त के अनेकानेक आचार्यों ने इस पर निवृत्ति-प्रधान भाष्य लिखे हैं। शकराचार्य ने भी गीता-दर्शन को इसी दृष्टि से देखा है। उनका कहना है—इस गीता-शास्त्र का प्रयोजन सक्षेपत परम नि श्रेयस् की प्राप्ति ही है। परम नि श्रेयस् का तात्पर्य उनके शब्दो मे सहेतुक ससार की आत्यन्तिक शान्ति ही है।[1] परम नि श्रेयस् की प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए उन्होने कहा है कि वह सर्वकर्म-सन्यास-पूर्वक आत्म-ज्ञान-निष्ठारूप धर्म से ही सम्भव है।[2]

साराश यह है, आचार्य शकर के मतानुसार गीता ज्ञान-मार्ग का ग्रन्थ है। वर्तमानयुग मे श्री लोकमान्य तिलक और महात्मा गाधी प्रभृति आधुनिक विचारको ने गीता को कर्मयोग-प्रधान ग्रन्थ माना है और इसीका व्यापक विवेचन उन्होने अपने साहित्य मे किया है। वस्तुस्थिति यह है, गीता ने कर्म और ज्ञान इन दोनो ही विषयो पर अधिक बल दिया है। कर्म-प्रेरणा के प्रसंग मे अर्जुन मे श्रीकृष्ण कहते है—कर्म मे ही तेरा अधिकार है,[3] इसलिए योगस्थ होकर तू कर्म कर।[4] कर्मों के अनारम्भ से ही मनुष्य नैष्कर्म्य का अनुभव नही कर सकता और न केवल

---

१ अस्य गीताशास्त्रस्य सक्षेपत प्रयोजन परम नि श्रेयस् सहेतुकस्य ससारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम्। —गीता भाष्य का उपोद्घात

२. तच्च सर्वकर्मसन्यासपूर्वकात् आत्मज्ञाननिष्ठारूपाद् धर्माद् भवति। —गीता भाष्य का उपोद्घात

३. कर्मण्येवाधिकारस्ते—गीता-२ ४७

४ योगस्थ कुरु कर्माणि—गीता-२ ४८

सन्यास से ही सिद्धि प्राप्त करता है। इसलिए तू निश्चय ही कर्म कर।[1] बिना कर्म किए कोई क्षण-भर भी नही रह सकता।[2] इसलिए तू निश्चय ही कर्म कर।[3] बिना कर्म किए तो तेरी शरीर-यात्रा भी नही चलेगी।[4] इसलिए तू राग-रहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर, क्योकि यज्ञार्थ कर्म से व्यतिरिक्त कर्म इस लोक मे बन्धन का कारण है[5]। अतः अनासक्त होकर तू सतत करणीय कर्म को कर।[6] देख, जनकादि ऋषियो ने भी तो कर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की, अत लोक-सग्रह की दृष्टि से भी तुझे कर्म करना चाहिए।[7] लोक-सग्रह की दृष्टि से विद्वान् पुरुष को सदा असक्त होकर कर्म करना चाहिए।[8] ज्ञान पूर्वक पूर्व काल मे मुमुक्षुओ ने भी कर्म किया है, इसलिए पूर्वजो का अनुसरण करता हुआ तू कर्म कर।[9] करणीय कर्म

---

१. न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
   न च सन्यसनादेव सिद्धि समधिगच्छति॥
   —गीता-३.४

२. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
   —गीता-३.५

३. नियत कुरु कर्मत्वं।
   —गीता-३.८

४. शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मण॰।
   —गीता-३.७

५. यज्ञार्थात्कर्मणोन्यत्र लोकोऽय कर्मबन्धन।
   तदर्थं कर्म कौन्तेय युक्तसङ्ग॰ समाचर॥
   —गीता-३ ६

६. तस्मादसक्त॰ सततं कार्य कर्म समाचर।
   —गीता-३.१६

७. कर्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादयाः।
   लोकसग्रहमेवापि सपश्यन् कर्तुमर्हसि॥
   —गीता-३.२०

८. कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसग्रहम्।
   —गीता-३.२५

९. एव ज्ञात्वा कृत कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
   कुरु कर्मैव तस्मात्त्व पूर्वै पूर्वतर कृतम्॥
   —गीता-४.१५

को जो आसक्ति छोडकर करता है, वही सन्यासी है, वही योगी है, न कि अग्नि और क्रिया को छोडने वाला।[1] इसलिए जिसे सन्यास कहा गया है, उसे तू योग समझ।[2] यज्ञ, दान, तप आदि कर्म छोडने योग्य नही है।[3] इन्हे तू आसक्ति और फल की कामना छोडकर कर, यह मेरा निश्चित मत है।[4] कर्म-फल का त्यागी ही वास्तव मे त्यागी है[5], और काम्य कर्मो का त्याग ही सन्यास कहा जाता है।[6] इसलिए तू कर्म कर।

कर्म पर इतनी पुनरुक्तियो के साथ मुहुर्मुहु बल देने से ऐसा लगना बहुत सहज है कि गीता प्रवृत्ति-लक्षण धर्म का ही ग्रन्थ है, ज्ञान-परायण निवृत्ति मार्ग का नही। किन्तु ज्यो ही हम उसकी निवृत्ति-परायण ज्ञान-मीमासा की ओर दृष्टि-पात करेंगे तो दोनो पलडे सम होते लगेंगे। वहा ज्ञान मे सम्पूर्ण कर्म की परिसमाप्ति हो जाती है।[7] ज्ञानाग्नि से सब कर्म भस्मीभूत होते हैं।[8] वहा ज्ञान के सदृश पवित्र

---

१. अनाश्रित कर्मफल कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रिय॰॥
—गीता-६.१

२ यं सन्यासमिति प्राहुर्योग त विद्धि पाण्डव।
—गीता-६.२

३ यज्ञदानतप कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
—गीता-१८ ५

४. एतान्यपि तु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
—गीता-१८ ६

५. यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।
—गीता-१८.११

६. काम्याना कर्मणा न्यासं संन्यास कवयो विदु॰।
—गीता-१८.२

७. सर्वं कर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।
—गीता-४.३३

८. क—ज्ञानाग्नि॰ सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
—गीता-४.३७

ख—ज्ञानाग्निदग्धकर्माणि तमाहु॰ पण्डित बुधाः।
—गीता-४.१९

कुछ नही है।[1] ज्ञानी स्वय भगवान् हो जाता है।[2] ज्ञानरूपी नाव के द्वारा व्यक्ति सम्पूर्ण पापो से पार होता है।[3] ज्ञान के द्वारा ही परम शान्ति उपलब्ध होती है।[4] इत्यादि अनेकानेक कथनो से गीतोक्त ज्ञान-मार्ग भी कर्म-मार्ग से हल्का नही रह जाता। कर्म और सन्यास मे कर्मयोग ही विशेष है,[5] यह एक उक्ति कर्मयोग के पलडे को अवश्य थोडा भारी कर देती है। शकराचार्य का अभिमत है—कर्मयोग के पक्ष मे गीता का यह तो केवल श्लाघा वचन ही है अर्थात् वह केवल अर्थवादात्मक है। वास्तव मे तो सन्यास-मार्ग ही श्रेष्ठ है।[6] रामानुज भाष्य मे भी इस कथन को केवल अर्थवादात्मक माना है।[7] कुछ एक तटस्थ विद्वानो का भी अभिमत है कि गीता का चरम लक्ष्य ज्ञान प्राप्ति ही है और कर्म पर उसका आग्रह उसकी इस चिन्ता को अभिव्यक्त करता है कि कही ज्ञान अक्रियावादी न हो जाए। इस प्रकार गीता का साध्य तो परम नि श्रेयस्रूप ज्ञान ही मानना पडेगा और उसका साधन कर्म, तभी गीता को उपनिषदो का सार[8] कहा जा सकता है।

ज्ञान और कर्म की इस प्राचीन चर्चा को विस्तृत करना यहा आवश्यक नही है। गीता ज्ञान-मार्ग का ग्रन्थ है या कर्मयोग का, यह विषय भी विवादास्पद है, पर इतना तो निर्विवाद है ही कि गीता ने लोक-सग्राहक प्रवृत्ति पर अधिक-से-अधिक बल दिया है और भारतीय अध्यात्म के क्षेत्र को प्रभावित किया है। सक्षेप मे कहा जा सकता है, महायान धर्म की अपेक्षा भी धर्म के क्षेत्र मे लौकिक प्रवृत्तियो को स्थान देने मे गीता का स्थान उससे भी अधिक रहा है।

---

१. नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

—गीता-४.३८

२. ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

—गीता-७ १८

३. सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।

—गीता-४ ३६

४. ज्ञान लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।

—गीता-४ ३९

५ तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।

—गीता-५ २

६. गीता, शाकर भाष्य ५ २

७. गीता, रामानुज भाष्य ५ १

८. सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधिर्भोक्ता दुग्धं गीतामृत महत्॥

ईसाई धर्म का प्रभाव

विगत दो सहस्राब्दियो मे ईसाई धर्म भी वर्तमान विश्व के कोने-कोने तक फैला है। बाइबिल मे भी शरीर-सेवा अर्थात् देह-दया पर अधिक-से-अधिक बल दिया गया है। कुछ एक पाश्चात्य विद्वानो का यह भी अभिमत रहा है कि लोक-सेवा का सिद्धान्त बाइबिल से गीता मे आया है।[1] यह यथार्थ न भी हो तो भी देह-दया और शरीर-सेवा के विचारो का प्रभाव भारतीय जन-मानस पर तो अवश्य किसी-न-किसी रूप मे पडा ही है।

भारतीय अध्यात्म मे निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति ने किस प्रकार स्थान लिया, इस तथ्य की प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी इस प्रकार समीक्षा करते हैं—"बुद्ध ने कहा—ब्रह्म सारे जगत मे है। हमारे जीवन मे जो समानता है, वही ब्रह्म है और इसी ब्रह्म के अनुसार जीवन बनाने को उन्होने ब्रह्म-विहार का नाम दिया। इससे अहिंसा का विधायक मार्ग—प्रवर्तक रूप निकला। प्राणीमात्र से प्रेम करना, उसकी सेवा करना, उसे कष्ट से मुक्त करना हमारा कर्तव्य है, इस विचार से अहिंसा के प्रवर्तक-मार्ग का बीजारोपण हुआ। भारत के बाहर अहिंसा के प्रवर्तक मार्ग का विकास ईसा के द्वारा हुआ। हमारे देश मे इसका विकास थोडा और देर से हुआ। अशोक के राज्यकाल का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनके व्यवहार मे निवर्तक कार्यों के साथ-साथ प्रवर्तक कार्यो पर भी बल दिया गया। हिंसा-निवृत्ति के साथ-साथ धर्मशाला बनवाना, पानी पिलाना, पेड लगाना आदि परोप-कार के कार्य भी हुए। अशोक ने प्रचार किया कि हिंसा न करना तो ठीक है, पर दया-धर्म करना भी उचित है। इसमे शक नही कि हमारे देश मे दानशालाए, पिंजरापोल आदि बडी सख्या मे खुले, फिर भी हमें स्वीकार करना होगा कि हमारे देश में प्रवर्तक धर्म की अपेक्षा निवर्तक धर्म ही अधिक फैला।"[2]

प्रसगान्तर से वे कहते हैं—"जैन-परम्परा ने प्रवृत्तिलक्षी अग की अपेक्षा निवृत्तिलक्षी अग पर ही अधिक भार दिया है। इसलिए वह बौद्ध स्थविर-मार्ग की भाति वैयक्तिक मोक्ष की चर्चा मे ही रस लेती रही है। जब बौद्ध परम्परा मे केवल वैयक्तिक मोक्ष की चर्चा ने असतोष उत्पन्न किया, तब उसमे से महायानी पथ फूट निकला। उसने सर्वसग्राही—सर्वकल्याणकारी दृष्टि का विकास एव स्थापन यहा तक किया कि जब तक एक भी प्राणी बद्ध हो, तब तक वैयक्तिक

---

१ गीता रहस्य पृ० ६१३-१४

२. अहिंसा के आचार और विचार का विकास पृ० ७-८

मोक्ष शुष्क एव रस-विहीन है। गीता और महायान दोनो अपने-अपने ढग से लोक-सग्राही कर्म मार्ग का ही निरूपण करते है।"[1] यह हुआ अहिंसा के विभिन्न युगो मे प्रचलित विभिन्न स्वरूपो का एक ऐतिहासिक अवलोकन। इससे पूर्व कि हम विवृत्त स्वरूपो की यथार्थता का विवेचन करे, यह आवश्यक होगा कि भगवान् श्री महावीर के पश्चात् इन अढाई हजार वर्षो मे जैन-अहिंसा मे क्या-क्या रूपान्तर आए, इस विषय पर एक झाकी डाले।

अहिंसा के अपवाद और पुण्य-मान्यताएं

अहिंसा-विभक्ति के दो कारण

वीर-निर्वाण से लेकर विगत दो सहस्र वर्षो मे भारतीय जन-मानस को प्रभावित करने वाली नाना स्थितिया आई। हम यह नि सकोच मान सकते हैं, भगवान् श्री महावीर का युग अहिंसा-विकास का सर्वोच्च शिखर था। वैदिको का उपनिषद्-चिन्तन और बौद्धो का अहिंसा-विचार भी भगवान् श्री महावीर के मन्तव्यो को वहुत प्रकार से बल दे रहे थे। कहा जा सकता है, इस समय अहिंसा आचार और विचार मे अपने उत्कर्ष पर थी। अहिंसा की व्याख्याए अधिक-से-अधिक निरपवाद थी। क्रमश उन व्याख्याओ मे शैथिल्य का सचार हुआ। यह स्वाभाविक ही होता है कि हिमालय के उत्तुग शिखरो से चला जल-प्रवाह उच्चावच उपत्यकाओ और अपत्यकाओ को पार कर जब नाना पदार्थ-पूरित समतल भूमि पर वहता है तो क्रमश दूपित होता ही है। उस युग की अखण्ड अहिंसा विशेषकर दो ही कारणो से विभक्त होती गई। प्रथम कारण था, अपवाद-सयोजन और दूसरा कारण था, प्रवृत्ति-प्रधान और लौकिक एषणा-प्रधान विचारो को आध्यात्मिक रूप मिलना।

वैदिक परम्परा में अपवाद-संयोजन

वैदिक परम्परा मे तो अपवाद बाहुल्य चिरपोषित था ही। एक ओर अहिंसा का निर्देशन था—अहिंसा ही परम धर्म है।[2] इस जगत मे ऐसे सूक्ष्म जन्तु है, जिनका अस्तित्व नेत्रगम्य नही, केवल तर्कगम्य है। पलको के निपात मात्र मे न

---

१. अध्यात्म विचारणा पृ० १३१-३२

२. अहिंसा परमो धर्मः।

—महाभारत अ० ११. १३

जाने ऐसे कितने जीवो का नाश हो जाता है।[1] शत्रु और मित्र मे, मान और अपमान मे, शीत और उष्ण मे, सुख और दु ख मे जो सम है, जो अनासक्त है वह मेरा प्रिय है।[2] दूसरी ओर कहा गया—सदैव क्रोध करना श्रेयस्कर नही होता और सदैव क्षमा करना भी। पडितजनो ने क्षमा के नाना अपवाद माने है।[3] आततायी होकर जो मनुष्य सामने आ रहा है, उसे तत्काल मार देना चाहिए, इस बात का विचार न किए विना कि वह गुरु है, वृद्ध है, वालक है या वहुश्रुत ब्राह्मण।[4] वैदिक परम्परा मे यही स्थिति सत्य, अचौर्य आदि आदर्शों की रही है। एक ओर कहा गया—सारी सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व ऋत और सत्य पैदा हुए और सत्य ही से आकाश, पृथ्वी, वायु आदि पच महाभूत स्थिर है।[5] सत्य से बढकर कोई धर्म नही है।[6] जो लोग इस ससार मे स्वार्थ के लिए, परार्थ के लिए या विनोद मे भी असत्य नही वोलते, वे स्वर्गगामी होते हैं।[7] दूसरी ओर मनुस्मृति

---

१. सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोपि निपातेन येषा स्यात् स्कन्धपर्ययः॥

—महाभारत शान्तिपर्व १५ २६

२. सम. शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदु खेषु सम सगविवर्जित ॥

—गीता—१२ १८

३ न श्रेय सतत तेजो न नित्य श्रेयसी क्षमा।
तस्मान्नित्य क्षमा तात पंडितैरपवादिता॥

—महाभारत वनपर्व २८ ६, ८

४. गुरु वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मण वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्त हन्यादेवाविचारयन्॥

—मनुस्मृति ८ ३५०

५ ऋत च सत्यं चाभीद्धात्तपसोध्यजायत।
सत्येनोत्तमिता भूमि.।

—ऋ० १०. ८५. १

६ नास्ति सत्यात्परो धर्म ।

—महाभारत शान्तिपर्व १६२. २४

७. आत्महेतो' परार्थे वा नर्मस्याश्रयात्तथा।
न मृषा प्रवदन्तीह ते नरा स्वर्गगामिन.॥

—महाभारत अनुशासनपर्व १४४. १९

और महाभारत जैसे ग्रन्थो मे बताया गया—हसी मे स्त्रियो के साथ, विवाह के समय, जब अपने जीवन पर आ बने तब और सम्पत्ति की रक्षा के लिए इन प्रसगो पर असत्य बोलने मे पाप नही होता।[1] एक ओर कहा गया—धर्माचरण भी छद्म-पूर्वक नही करना चाहिए।[2] दूसरी ओर कहा—बधिक आकर पूछे वध्य कहा है और तुम जानते हो तो तुम्हे वहा गूगा बन जाना चाहिए। हू हा करके बात टाल देनी चाहिए।[3] इससे भी काम न चले तो झूठ बोल देना चाहिए।[4] विश्वामित्र मुनि ने दुर्भिक्ष मे क्षुधातुर होकर श्वपच के घर से कुत्ते का मास चुराया और अपनी प्राण-रक्षा मे प्रवृत्त हुए। श्वपच ने जब उन्हे शास्त्र-बोध देना प्रारम्भ किया तो वे कहने लगे—चुप रह, मरने से तो जीना श्रेयस्कर ही है। जीवित रहकर तो व्यक्ति और भी धर्माचरण कर सकता है।[5] इस प्रकार वैदिक परम्परा मे और भी अनेको आदर्श अपवाद-सयोजन से निर्बल और निष्प्राण हुए है।

जैन परम्परा में अपवाद-संयोजन

अहिंसा के विषय मे सर्वाधिक कठोर रुख अपनाने वाली जैन परम्परा मे भी देश, काल और परिस्थितियो के साथ सामजस्य बिठाते-बिठाते उसका अहिंसा का विचार कहा से कहा तक पहुच गया। भगवान् श्री महावीर का सन्देश प्राणी-मात्र के प्रति मैत्री रखना था।[6] उसमे सज्जन या दुर्जन का कोई अपवाद नही माना जा सकता। व्यक्ति और समूह का ऐहिक या पारत्रिक हित हिंसा-साध्य नही हो सकता। लेकिन काल-क्रम के साथ साधु-सघ के आचार विषयक नियमो

---

१. न नर्मयुक्त वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पंचानृतान्याहुरपातकानि॥
—महाभारत अ० ८२ १६ और शान्तिपर्व १०६ तथा मनु० ८ ११०

२. न व्याजेन चरेद्धर्मं।
—महाभारत अ० २१५-३४

३. जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्।

४. अवश्य कूजितव्ये वा शकेरन् वाप्यकूजनात्।
श्रेयस्तत्रानृत वक्तुं सत्यादिति विचारितम्।
—महाभारत शान्तिपर्व १०६ १६

५. जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन्धर्ममवाप्नुयात्।
—महाभारत शान्तिपर्व १४१

६ मेत्तिं भएसु कप्पए।

को लेकर, धर्म-प्रभावना को लेकर या धर्म और धर्म-सघ के सरक्षण को लेकर सूक्ष्म और स्थूल हिंसाए भी अहिंसा की कोटि मे आ गई। फलाहार हिंसापरक होने के कारण जैन मुमुक्षु के लिए वर्जित है। असस्कारित आम्रफल का भक्षण करने वाला मुमुक्षु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त पाता है,[1] यह शास्त्रीय विधान है। आगे चलकर उसके साथ यह अपवाद जुड जाता है—रोगापनयन के लिए व क्षुधा-शान्ति के लिए साधु सचित्त आम्रफल का भक्षण भी करे तो अहिंसा का ही आचरण करता है, हिंसा का नही।[2] सचित्त वृक्ष पर चढना साधु के लिए वर्जित है।[3] पर आगे चलकर ग्लान की औषधि के लिए, मार्ग मे क्षुधा-निवर्तक फलो के लिए, जल-प्रवाह से बचने के लिए, चोर, राजा, सिंह, हाथी आदि के भय से बचने के लिए वृक्ष पर चढना निर्दोष मान लिया जाता है।[4]

आधाकर्म दूषित आहार व मांस

एषणा समिति भी आपवादिक स्थितियो मे यहा तक मुक्त कर दी गई कि

---

१ जे भिक्खू सचित्त अंब भुजइ, भुजत वा सातिज्जति।

—निशीथसूत्र उद्देशक १५ सू० ५

२. बितियपदमणप्पज्झे, भुंजे अविकोविए व अप्पज्झे।
जाणते वा वि पुणो, गिलाण अद्धाण ओमे वा ॥
खित्तादिगो अणप्पज्झो वा भुजति, सेहो अविकोवियत्तणओ अजाणतो, रोगोवसमणिमित्त वेज्जुवदेसितो गिलाणो वा भुजे, अद्धाणोमेसु वा असथरंता भुजता विसुद्धा ॥

—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णिका उद्देशक १५ गाथा ४६६५

३ जे भिक्खू सच्चित्तरुक्ख दुरुहइ, दुरुहत वा सातिज्जति।

—निशीथसूत्र उद्देशक १२ सूत्र ६

४. बितियपदमणप्पज्झे, गेलण्णऽद्धाण ओम उदए य।
उवही सरीर तेणग, सणप्फए जड्डमादीसु ॥
खेत्तादिया अणप्पज्झ दुरुहेज्ज, गेलण्णे ओसधट्ठा, अद्धाणोमे असथरंता पलंबट्ठा, उदगपूरे आयरक्खट्ठा, उवधिसरीरतेणगेसु रायबोधिगादिभएसु वा दुरुहित। णिलुक्कति, सीहादिसणप्फए जड्डमि वा वधाय आवतते आयरक्खट्ठा दुरुहति। तत्थ पुव्व अचित्ते, ततो परित्तमीसे, ततो अणतमीसे, ततो परित्तसचित्ते, ततो अणतसचित्ते, एव कारणा जयणाए ण दोसा।

—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णिका उद्देशक १२ गाथा ४०४१

जहा के लोगो को यह पता हो कि 'जैन श्रमण मास नही लेते', वहा आधाकर्म दूषित (साधु के लिए बनाया गया) आहार लेने मे कम दोष है और मास लेने मे अधिक दोष है, क्योकि परिचित जनो के यहा से मास लेने पर निन्दा होती है। किन्तु जहा के लोगो को यह ज्ञात नही कि जैन श्रमण मास नही खाते, वहा मास का ग्रहण करना अच्छा है और आधाकर्म दूपित आहार लेना अधिक दोशावह है। क्योकि आधाकर्मिक आहार लेने मे जीव-घात है। अतएव ऐसे प्रसग मे सर्वप्रथम द्वीन्द्रिय जीवो का मास ले, उसके अभाव मे क्रमश त्रीन्द्रिय आदि का। इस विषय मे स्वीकृत साधु-वेष मे ही लेना या वेष बदलकर, इसकी भी चर्चा है।[1] इस चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है, अहिंसा के सस्कार बद्धमूल होने के कारण आपवादिक स्थिति मे भी अनुद्दिष्ट अर्थात् सहज रूप से उपलब्ध निर्जीव मास को ग्रहण करके भी उद्दिष्ट हिंसा-जन्य आधाकर्मी आहार ग्रहण से बचने के लिए कहा गया है, पर इससे अहिंसा के प्रति होने वाले क्रमिक शैथिल्य का ही आभास मिलता है। दो अवाछनीय प्रवृत्तियो मे से प्रथम एक को अपनाया गया और फिर दूसरी को भी। रोगादि विशेष स्थितियो मे आधाकर्मी आहार ग्रहण करने के भी विधि-विधान देखे जाते है।[2]

हंस तेल की भी ग्राह्यता

लगता है मुमुक्षु लोग आत्मधर्मी न रहकर शरीरधर्मी हो गये थे। रोगावस्था मे चोरी से या मन्त्र-प्रयोग से अपेक्षित औषधि प्राप्त करना उचित मानने लगे थे।[3] औषधि मे हस तेल जैसी वस्तु लेना भी अनुचित नही माना गया।[4] चूर्णि-

१. जत्थ णज्जति जहा—'एते समणा मस ण खायति' तत्थ सलिंगेण पिसिते घेप्पमाणे उड्डाहो भवति, अतो वर अहोकम्मं ण पिसिय तु। जत्थ पुणो ण णज्जति तत्थ वरं पिसित, एवं पिसियग्गहणे दिट्ठे पुव्व बेइंदियपिसितं घेतव्वं, तस्सासति तेइंदियाण, एव असतीते—जाव पचेंदियाण पिसितं ताव णेयव्वं।

—निशीथसूत्र चूर्णिका पीठिका गाथा ४३७-३८

२. सद्धर्ममण्डन पृ० ४८८

३. एमेव गिहत्थेसु वि, भद्दगमादीसुपढमतो गिण्हे।
अभियोगासति ताले, ओसोवण अंतधाणादी॥

—निशीथ भाष्य गाथा ३४७

४. एमेव य ओमम्मि वि रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
अगतोसहादिदव्वं कल्लाणग-हंसतेल्लादी॥

—निशीथ भाष्य गाथा ३४८

कार ने हस तेल वनाने की विधि का उल्लेख किया है—हस को चीरकर, मल-मूत्रादि निकालकर, उस प्रकार के पदार्थों से भरकर उसकी सिलाई कर दी जाती है। फिर उसे पकाकर जो तेल तैयार किया जाता है, वह हस तेल होता है।[1] भले ही साधु ऐसी पाक-क्रिया स्वय न करते हो, पर रोग-मुक्ति के लिए चौर्य आदि प्रयत्नो से भी उस प्रकार से निर्मित औपधि को प्राप्त करना भयकर देह-ममता का सूचक है। इस प्रकार की अनन्तानुवन्धी जैसी ममता मे क्या सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र टिक सकते थे ?

विरोधी को अप्रत्यक्ष मृत्यु दण्ड

प्राणीमात्र की अहिंसा मे विश्वास रखने वाले साधको ने नाना ज्वलन्त हिंसाओ को किस प्रकार अहिंसा मे ला दिया था, उसके भी ज्वलन्त उदाहरण आगम-अतिरिक्त साहित्य मे मिलते है। धर्म-रक्षा के लिए अर्थात् साधु-सघ या चैत्य की रक्षा के लिए विरोधी व्यक्ति का पुतला वनाकर, उसे अभिमन्त्रित कर यदि खडित किया जाए तो वह हिंसा हिंसा नही है।[2] वह मन्त्रवाद का युग था। यह माना जाता था, उक्त प्रकार से अभिमन्त्रित पुतले पर मर्माघात करने से शत्रु पर मर्माघात होता है और इस प्रकार वह अप्रत्यक्ष रूप से ही मारा जा सकता है।

कोई आततायी, दुराचारी या पश्यतोहर किसी आचार्य, सघ आदि का वध करना चाहता है, किसी साध्वी का अपहरण करना चाहता है या चैत्य आदि की सम्पत्ति को लूटना चाहता है, ऐसे आततायी व दुराचारी का साधु स्वय वध भी

---

१ हंसो पक्खी भण्णति, सो फाडेऊण मुत्तपुरीसाणि णीहरिज्जति, ताहे सो हसो दव्वाण भरिज्जति, ताहे पुणरवि सो सीविज्जति, तेण तदवत्थेण तेल्लं पच्चति, तं हसतेल्ल भण्णति। आदि सद्दातो सतपाग-सहस्सपागा य तेल्ला घेप्पन्ति। एवमादियाए दव्वाए आभिओग्गादी पूर्वक्रमेण ग्रहण कर्तव्यमिति।

—निशीथसूत्र चूर्णिका पूर्व पीठिका गाथा ३४८

२. जावतिया उवउज्जति पमाण-गहणे व जाव पज्जत्तं।
मतेऊण व विधइ पुत्तल्लगमादि पडिणीए॥
जो साहु-सघ-चेतित-पडिणोतो तस्स पडिमा मिम्मया णामकिता कज्जति, सा मतेणाभिमतिऊणं मंमदेसे विज्झति, ततो तस्स वेयणा भवति मरति वा, एतेए कारणेणं पुत्तलगं पि पडिणीय-महण-णिमित्त कज्जति, दडिय-वशीकरण-णिमित्त वा कज्जति।

—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णिका पीठिका गाथा १६७

करे तो भी वह विशुद्ध ही है अर्थात् हिंसक नही है।[1]

कोंकण देशीय साधु द्वारा तीन सिंहों की हिंसा

एक बार एक आचार्य अपने श्रमण समुदाय के साथ विहार कर रहे थे। किसी दिन सारे साधु-सघ को भीषण जगल मे प्रवास करना पडा। सघ मे एक कोकण देश का साधु था। वह अत्यन्त बलशाली था। रात को सघ की रक्षा का भार उसे सौपा गया। उसने आचार्य से पूछा, हिंस्र पशु का प्रतिकार बिना कष्ट पहुचाए ही किया जाए या कष्ट पहुचा करके भी? आचार्य ने कहा, यथासम्भव बिना कष्ट पहुचाए ही किया जाए, पर सम्भव न हो तो दूसरे प्रकार से भी। रात मे उस कोकण देशीय साधु को तीन सिंह मार ही देने पडे। प्रात उस हिंसा के प्रायश्चित्त की चर्चा चली और वह हिंसक साधु शुद्ध माना गया।[2]

---

१. आयरियं कोइ पडिणीयो विणासेउमिच्छति, सो जइ अण्णहा ण ट्ठाति तो से ववरोवणं पि कुज्जा। एवं गच्छघाए वि। बोहिगतेणे यत्ति जे मेच्छा, माणुसाणि हरति ते बोहिगतेणा भण्णति। एते आयरियस्स वा गच्छस्स वा वहाए उवट्ठिता। च सद्दातो कोति संजतिं बला घेत्तुमिच्छति, चेतियाण वा चेतियदव्वस्स वा विणास करेइ। एव ते सव्वे अणुसट्ठीए अट्ठायमाणा ववरोवेयव्वा। आयरियमादीणं णित्थारण कायव्व एव करेंतो विसुद्धो।

—निशीथसूत्र चूर्णि पीठिका गाथा २८९

२. एगो आयरिओ बहुसिस्सपरिवारो उ संज्झकालसमये बहुसावय अडविं पवण्णो। तम्मि य गच्छे एगो दढसघयणी कोकणगसाहू अत्थि। गुरुणा य भणियं—कह अज्जो! ज एत्थ दुट्ठसावय किं वि गच्छं अभिभवति तं णिवारेयव्वं, ण उवेहा कायव्वा। ततो तेण कोकणगसाहूणा भणियं—कह? विराहितेहिं अविराहितेहिं णिवारेयव्व? गुरुणा भणिय—'जइ सक्कइ तो अविराहितेहिं पच्छा विराहितेहिं वि ण दोसो'। ततो तेण कोकणगेण लविय 'सुवय वीसत्था अह भे रक्खिस्सामि'। तो साहवो सव्वे सुत्ता। सो एगागी जागरमाणो पासति सीह आगच्छमाण। तेण हडि त्ति जपिय ण गतो, ततो पच्छा उद्धाइऊण सणियं लगुडेण आहतो, गओ परितावियो। पुणो आगत पेच्छति, तेण चिंतिय ण सुट्ठु परितावियो, तेण पुणो आगओ, पुणो गाढयरं आहतो। पुणो वि ततियवारा एवं चेव, णवरं सव्वायामेण आहतो, गता राती। खेमेण पच्चूसे गच्छंता पेच्छंति सीहं

ब्राह्मणों का सामूहिक वध

एक बार एक राजा ने जैन साधुओं से कहा, सभी जैन साधु ब्राह्मणो के चरणो लगे। नही तो वे देश से निकल जाए। सारा सघ एकत्रित हुआ, आचार्य ने सबको आह्वान किया—कोई साधु किसी भी उपक्रम से शासन की प्रभावना बढा सके तो बढाए। एक साधु ने यह चुनौती झेली। वह राजसभा मे गया और राजा से बोला, आप सब ब्राह्मणो को एकत्रित कर लीजिए। हम उन्हे नमस्कार करेंगे। राजा ने वैसा ही किया। साधु ने एक कणेर की लता को अभिमन्त्रित कर सब ब्राह्मणो का सर काट डाला। सघ-हितार्थ होने के कारण इस कार्य को भी विशुद्ध माना गया।[1]

अपवाद-संयोजन मे भाष्यकार और चूर्णिकारो का योग

भाष्य और चूर्णियो मे इस प्रकार अहिंसा-धर्म सम्बन्धी अनेकानेक अपवाद

अणुपथे मयं, पुणो अदूरे पेच्छति वितिय, पुणो अदूरते ततिय। जो सो दूरे सो पढमं सणियं आहओ, जो वि मज्झे सो वितिओ, जो णियडे सो चरिमो गाढं आहतो मतो। तेण कोकणएण आलोइयमारियाण, सुद्धो। एव आयरियादीकारणेसु वावादितो सुद्धो। गता पाणातिवायस्स दप्पिया कप्पिया पडिसेवणा। गतो पाणातिवातो।

—निशीयसूत्र चूर्णिका पीठिका गाथा २८६

१ एगेण रातिणा सावचो भणिता 'धिज्जाइयाण पादेसु पडह'। सो य अणु सट्ठिंहि ण ट्ठाति। ताहे सघसमवातो कतो। कत्य भणिय 'जस्स काति पवयणुब्भावणसत्ती अत्थि सो तं सावज्जं वा असावज्जं वा पउंजउ।' तत्थ एगेण साहुणा भणियं—'अह पयुंजामि'। गतो सघो रातीणो समीव, भणीओ य राया 'जेसिं धिज्जाइयाण अम्हेहिं पाएसु पाडियव्व तेसिं समवातं देहि तेसि सयराह अम्हे पायेसु पडामो, णो य एगेगस्स'। तेण रण्णा तहा कयं। संवो एगपासे ट्ठितो। सो य अतिसयसाहू कणवीरलयं गहेऊण अभिमतेऊणं य तेसिं धिज्जाइयाणं सुहासणत्थाण तं कणवीरलयं चुडलयं व चुडलिवंदणागारेण भमाडेती। तक्खणादेव तेसिं सव्वेसिं धिज्जातियाणं सिराणि णिवडियाणि। ततो साहू रुट्ठो रायाणं भणति 'भो दुरात्मन्! जति ण ट्ठ सि तो एवं ते सवलवाहणं चुण्णेमि' सो राया भीतो सघस्स पाएसु पडितो उवसंतो य। जहा सोवि राया तत्थेव चुण्णतो। एव पवयणत्थे पडिसेवंतो विसुद्धो।

—निशीयसूत्र चूर्णिका पीठिका गाथा ४८७

मार्ग मिलते हैं। यह ठीक है, आगमो की अक्षरश व्याख्या पर समग्र आचार-व्यवहार प्रतिष्ठित नही हो सकता। व्याख्याओ, स्पष्टीकरणो एव विवेचनो की अपेक्षा होती है, किन्तु उन सबका यह तात्पर्य नही होता कि हम मूल को छोडकर कहा-के-कहा चले जाए। यह स्पष्ट है कि भाष्यकारो व चूर्णिकारो ने इस अर्थ मे बहुत ही स्वैराचार वरता है। कहा भगवान् महावीर की क्षमा, तितिक्षा व मैत्री-प्रधान जीवन-चर्या और कहा ये रोमाचित कर देने वाले हिंसापरक उदाहरण। सगम देव ने आकर भगवान् श्री महावीर को बीस[2] मारणान्तिक परिषह दिए। छद्मस्थावस्था मे अनार्य और म्लेच्छ लोगो ने नाना यातनाए दी। गोशालक ने उनके देखते-देखते सर्वानुभूति और सुनक्षत्रमुनि को तेजोलेश्या से भस्म कर डाला। स्वय भगवान् श्री महावीर को तेजोलेश्या से परिक्लान्त किया।[1] क्या भगवान् महावीर ने कभी उन प्रत्यर्थियो की हिंसा के लिए भी किसी अपवाद मार्ग का विधान किया? चण्डकौशिक के मर्माघात और ग्राम्यजनो द्वारा किये गये कर्णगत-कीलिका-रोपण पर क्या भगवान् मे एक क्षण के लिए भी प्रतिहिंसा जागृत हुई? कहा वह क्षमा और तितिक्षा-प्रधान जैन-सस्कृति जिसमे गजसुकुमाल, खधक, मेतार्य प्रभृति मुनियो के शान्त व सौम्य आधार और कहा ये प्रतिशोध मूलक विधि-विधान? सच बात तो यदि है कि वह युग जैनधर्म के लिए जीवन और मरण का प्रश्न बनकर रहा है। समय-समय पर होने वाले वैदिको और बौद्धो के हिंसक आक्रमणो मे, जैनधर्म विरोधी राजाओ के कठोर शासन मे, प्रलम्वतर और भयकर दुर्भिक्षो मे, अरण्य-प्रधान और अनार्य-प्रधान देशो के पाद-विहारो मे जैनधर्म और जैन श्रमण-सघ को बचाए रखना अवश्य एक दुष्कर अनुष्ठान था। लगता है, सम्प्रदाय-प्रतिस्पर्धा के उस वातावरण मे ही इस प्रकार के विधि-विधानो का निर्माण हुआ है। आज की परिस्थितियो मे उक्त विधि-विधान जितने अभद्र लगते हैं, उन परिस्थितियो मे सम्भवत वे वैसे न लगे हो। कुछ भी हो, यह तो मानना ही पडेगा, अहिंसा-सिद्धान्त के साथ यह न्याय नही हुआ है।

अब्रह्म-सेवन व प्रायश्चित्त विधान

छद्मस्थ मुनि परिस्थितिवश नाना दोषो का सेवन कर लेता है। भगवान् श्री महावीर ने मूल निशीथसूत्र मे इसके लिए नाना प्रायश्चित्त बतलाए हैं। यदि यहा भी ऐसा ही माना गया होता तो अहिंसा-सिद्धान्त की निर्मम हत्या नही

---

१. कल्पसूत्र व्याख्या

२. भगवतीसूत्र शतक १५

होती। हिंसा करना और उसे अहिंसा मानना, यह दोहरा पाप है। चूर्णिकारो और भाष्यकारो ने इस विषय मे चिन्तन ही न किया हो, ऐसी बात नही है। अपवाद मार्ग मे हिंसा-सेवन की तरह अब्रह्म-सेवन का विचार भी चला है। ब्रह्मचारी साधुओ के सम्मुख ऐसे प्रश्न आए होगे या आने सम्भावित माने गए होगे कि राजा के अन्त पुर मे पुत्रेच्छा से किसी साधु को अब्रह्म-सेवन के लिए विवश किया जाए और उसे यह बताया जाए, तुम अब्रह्म का सेवन करके ही सकुल यहा से जा सकते हो, नही तो तुम्हे प्राणदण्ड भोगना होगा। ऐसी परिस्थिति मे साधु वहा अब्रह्मचर्य का सेवन करता है। दूसरा प्रसग तरुण साधु शीलभग करना भी नही चाहता और वासना पर विजय पा लेना भी सम्भव नही मानता, ऐसी स्थिति मे कम-से-कम दोष लगाकर वह अपने सयम का निर्वाह सोचता है। तथाप्रकार के मुमुक्षु प्रायश्चित्त के भागी है या नही, यह विषय भी बहुत प्रकार से भाष्य और चूर्णियो मे सोचा गया है। उस चिन्तन का अन्तिम निष्कर्ष यह होता है कि हिंसा आदि का सेवन राग और द्वेष से रहित रहकर भी किया जा सकता है, परन्तु अब्रह्मचर्य का सेवन रागादि रहित स्थिति मे सम्भव नही है, इसलिए अब्रह्म का सेवन कैसी ही परिस्थिति मे हो, उसकी कितनी ही यत्नापूर्ण प्रतिसेवना हो, शुद्धि के लिए न्यूनाधिक प्रायश्चित्त तो लेना ही होगा।[1] यह जितना यथार्थ है कि अब्रह्मचर्य का सेवन रागादिभाव लाए बिना सम्भव नही है, उतना ही द्वेषादिभाव लाए बिना किसी मनुष्य या हिंस्र पशु के वध मे प्रवृत्त होना, यह भी सम्भव नही है, पर तात्कालीन आचार्यो के चिन्तन मे यह क्यो नही आया, अवश्य एक आश्चर्य है। हो सकता है, महत् पुण्य का प्रलोभन हुए बिना मुमुक्षु लोग तथाकथित हिंसाजन्य शासन-प्रभावनाओ के लिए प्रस्तुत न होते हो और वैसे अवसर अधिक आते हो, अपेक्षाकृत अब्रह्म-सेवन की विवशताओ के। इसलिए प्रायश्चित्त की अनिवार्यता अब्रह्म के प्रसग से आवश्यक मानी गई हो और हिंसादि आस्रवो के प्रसग से आवश्यक नही मानी गई हो। इस प्रकार भगवान् श्री महावीर से लेकर विगत दो सहस्र वर्षो मे आचार्यो और साधुओ ने अप-

---

१ क—गीयत्थो जतणाए, कडजोगी कारणम्मि णिद्दोसो।
एगेसिं गीत कडो, अरत्तऽदुट्ठो उ जतणाए॥
जइ सव्वसो अभावो, रागादीणं हवेज्ज णिद्दोसो।
जतणाजुतेसु तेसु, अप्पतरं होति पच्छित्त॥
—निशीथसूत्र भाष्य गाथा ३६६-६७

ख—बृहत्कल्प भाष्य गाथा ४६४६-४७

वादो के नाम पर अहिंसा को केवल कलेवर मात्र वना दिया। जब हम वडे वडे अपवादो की चर्चा कर आए है तो साध्वाचार के सामान्य नियमो मे अपवादो के नाम पर कितना शैथिल्य आया होगा, यह सहज ही कल्पना मे आ सकता है। वहा भी अहिंसा कितनी जर्जरित हुई होगी, यह वर्णन का विषय नही रह जाता।

आचाराग सूत्र मे भगवान् श्री महावीर कहते है—धर्म के लिए हिंसा करने मे कोई दोष नही है, यह अनार्य-वचन है।[1] प्रतिमा के लिए पृथ्वीकाय की हिंसा करने वालो को उन्होने मन्द बुद्धि कहा[2], तव धर्म प्रभावना के नाम पर होने वाले सूक्ष्म या स्थूल हिंसाजन्य कार्य भगवान् श्री महावीर की अहिंसा के अग हो सकते है, यह सोचा ही नही जा सकता।

अहिंसा-विभक्ति का दूसरा कारण

पुण्य-मान्यता का हेतु

भगवान् श्री महावीर की अहिंसा उग्रतम निवृत्ति-प्रधान थी। उसमे केवल अपना और दूसरे का आत्महित-चिन्तन ही प्रमुख था। आत्मा के उन्नयन और आत्मा के ऊर्ध्व सचार की ही वहा चिन्ता थी और आत्मगत कषायादि क्लेशो से रहित होना और रहित करना ही मोक्ष था। लौकिक अभ्युदय पुण्य-प्रधान होने से धर्मानुगत था, पर धर्माचरण का उद्देश्य नही। भगवान् श्री महावीर के पश्चात् गीता का कर्मयोग और वौद्ध महायानो का सामुदायिक मोक्षवाद आदि ज्यो ही जोरो से फैले, जैन-परम्परा भी उनसे प्रभावित हुए विना कैसे रहती ? भूखे को भोजन देना, प्यासे को पानी पिलाना और दु खियो के दु ख को दूर करना यह एक ऐसा विचार था, जो सामाजिक अपेक्षाओ का भी मुख्य अग था और जव इसे मोक्षाराधन का स्वरूप भी मिल गया तो उसका समाज के द्वारा व्यापक रूप से अपनाना सहज ही था। वह युग अध्यात्म चर्चा का था। विभिन्न धर्मो मे व्यवस्थित शास्त्रार्थ हुआ करते थे। हरेक धर्म के लोग अपने को श्रेष्ठ और दूसरो को निकृष्ट वताते। वहुत सम्भव है, जैनधर्म को न्यून वतलाने का उसी युग मे मोक्ष-चिन्ता और लोकैषणा का यह भेद ही प्रमुख उद्घोष वन गया हो। इसी विवशता

---

१. आचारागसूत्र

२ प्रश्नव्याकरणसूत्र प्रथम अध्ययन

मे जैनाचार्यों को लोकैषणा और शिवैषणा को जोडने के लिए पुण्यरूप कडी का आविष्कार करना पडा हो। जैन-शास्त्रो ने यह अवकाश नही रख छोडा था कि उन्हे शिरोधार्य करते हुए सामाजिक और व्यवहारिक क्रिया-कलापो को सीधे-सीधे धर्म का रूप दिया जा सके।

असंयति दान व अनुकम्पा दान

जैनतत्त्व-निरूपण के आधार पर पुण्य शुभयोगजन्य और निर्जरा का सहभावी है।[1] पुण्य और निर्जरा की क्रिया एक है। पुण्यबन्ध की कोई स्वतन्त्र क्रिया भी हो सकती है, यह धारणा जैन-परम्परा मे नही थी, परन्तु इस युग-प्रवाह के साथ सगत होने के लिए आगे चलकर आई। 'अणुकम्पादाण पुण जिणेहि न कयाई पडिसिद्ध'[2] अनुकम्पा दान का भगवान् ने कही निषेध नही किया। अनुकम्पा दो प्रकार की है—अन्नादि दानरूप द्रव्य और धर्म-मार्ग-प्रवर्तन-रूप भाव।[3] व्यवहारिक अनुकम्पा को आचार-सगत करने के विषय मे मतभेदमूलक चर्चाए भी हुई हैं। पूर्व पक्ष ने कहा—दीन, अनाथ व्यक्ति असयत है, इसलिए उन्हें दान देना दोष-पोषक होने से असगत[4] है, अर्थात् धर्म पुण्य का हेतु नही है। उत्तरपक्ष का यह आग्रह रहा—साधारणतया यह यथार्थ है कि असयति-दान मोक्ष तथा धर्म-पुण्य का हेतु नही बनता, किन्तु अनुकम्पा-दान इसका अपवाद है। यह शुभाशय का हेतु होने से पुण्य-बन्ध का कारण है।

पुण्य-निष्पत्ति के कारण

उत्तर पक्ष के विषय मे यह निस्सकोच कहा जा सकता है, यह तात्कालिक लोक-प्रवाह का अनुगमनमात्र ही था। जैन-आगम इस विषय मे स्वय स्पष्ट है। वहा पुण्य सम्बन्धी जितने उल्लेख मिलते है, वे या तो पुण्य को निर्जरा का

---

१. तच्च धर्माविनाभावि। सत्प्रवृत्त्या हि पुण्यबन्ध, सत्प्रवृत्तिश्च मोक्षोपायभूतत्वात् अवश्य धर्म, अतएव धान्याविनाभावि बुसवत् तद् धर्म विना न भवति।
—श्री जैनसिद्धान्तदीपिका चतुर्थ प्रकाश, सूत्र १४

२ द्वात्रिशद् द्वात्रिशिका २७

३ सा चानुकम्पा द्रव्यभावाभ्यां द्विधा द्रव्यत. अन्नादि दानेन, भावत धर्ममार्ग-प्रवर्तनेन।
—धर्मरत्न प्रकरण

४. दीनानामसयतत्वात् तद्दानस्य दोषपोषकत्वादसंगत तद्दानम्।
—पंचाशक ९

सहभावी सिद्ध करते हैं या उसे सत्प्रवृत्तिजन्य। एक भी उल्लेख ऐसा नही मिलता, जहा निर्जरा की उद्भावक सत्प्रवृत्ति न हो और केवल पुण्य-निष्पन्न हुआ हो। अठारह पापो का सेवन न करने से कल्याणकारी कर्मों (पुण्य) का बन्ध होता है।[१] गुरु-वन्दन से नीच गोत्रकर्म का क्षय होता है और उच्च गोत्र-कर्म का बन्ध होता है।[२] धर्म-कथा से निर्जरा होती है, धर्म-प्रभावना होती है और उससे शुभ कर्मों का बन्ध होता है।[३] आचार्य आदि की सेवा करता हुआ साधु तीर्थंकर नाम गोत्रकर्म उपार्जन करता है।[४] प्राण-हिंसा न करने से, असत्य न बोलने से व शुद्ध साधु को दान करने से शुभ दीर्घ आयुष्य का बन्धन होता है।[५] बहुत सारे

---

१. कहण्ण भंते ! जीवाणं कल्लाण कम्मा कज्जति ? कालोदाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुण्ण थाली पाप सुद्ध अट्ठारस वजणा उल ओसह मिस्स भोयण भुंजेज्जा तस्सण भोयणस्स आवाए नो भद्दए भवइ तओपच्छा परिणममाणे२ सुरूवत्ताए सुवण्णत्ताए जाव सुहत्ताए नो दुक्खताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ। एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पाणाइवायवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे कोह-विवेगे जाव मिच्छादसणसल्लविवेगे तस्सण आवाए नो भद्दए भवइ तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरूवत्ताए जाव नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ। एव खलु कालोदाई ! जीवाण कल्लाण कम्मा जाव कज्जंति।

—भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक १०

२ वंदणएण भते ! जीवे किं जणयइ ? वंदणएण नीयागोय कम्म खवेइ उच्चागोय कम्म निबधइ, सोहग्गच ण अपडिहय आणा फल गिवत्तेइ दाहिणा भावं च ण जणयइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९

३. धम्म कहाएणं भते ! जीवे किं जणयइ ? धम्म कहाएण निज्जरं जणयइ। धम्म कहाएण पवयण पभावेइ, पवयण पभावेण जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९

४. वेयावच्चेण भते ! जीवे किं जणयइ ? वेयावच्चेण तित्थयर णाम गोत्त कम्मं निबंधइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९

५. कहण भते ! जीवा सुभ दीहाउयत्ताए कम्म पकरति ? गोयमा ! नो पाणे-अइवाएत्ता नो मुसं वइत्ता तहारूव समणं वा माहण वा वंदित्ता जाव पज्जु-

प्राण, भूत, जीव, सत्त्वो को दु ख न देने से, शोक उत्पन्न न करने से, विलापात न कराने से, अश्रुपात न कराने से, तर्जन न करने से, परिताप न पहुचाने से साता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।[1] उक्त उल्लेखो से यह स्पष्ट हो जाता है, असयति प्राणियो की अनुकम्पा के सम्बन्ध से जो पुण्य-बन्ध का विधान है, वह अनुकम्पा दु ख न देने रूप है। वहा केवल आत्म-सयमरूप शुभयोग की प्रवृत्ति है। जहा वन्दन, वैयावृत्ति आदि प्रवृत्तिया हैं, उनका सम्वन्ध आचार्य आदि सयति आत्माओ से है।

अनुकम्पा दान व धर्म दान

दस प्रकार के दानो मे एक अनुकम्पादान भी है।[2] पर उसमे धर्म या पुण्य होने का कोई उल्लेख शास्त्रो मे नही है। यह दान की दसो सज्ञाओ से स्वत प्रति-भासित होता है। वहा केवल दानमात्र के दस हेतुओ को बताया गया है। वेश्या आदि को दिया जाने वाला अधर्म दान और लज्जा दान, भय दान आदि भी उन दस भेदो मे है। धर्म दान के तीन भेद किये गए है—अभय दान, वोधि दान, सुपात्र दान। दस दानो मे पारमार्थिक दान केवल धर्म दान है, शेष लौकिक है। धर्म व पुण्य के हेतु नही हैं। पुण्य नौ प्रकार का कहा गया है—आहार पुण्य, पानी पुण्य, स्थान पुण्य, शय्या पुण्य, वस्त्र पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, नमस्कार पुण्य।[3]

वासेत्ता अण्णयरेण मणुण्णेण पीइकारएण असण पाणं खाइम साइम पडिला-भित्ता एव खलु जीवा जाव पकरति।

—भगवतीसूत्र शतक ५, उ० ६

१ पाणाणुकपयाए, भूयाणुकंपयाए, जीवाणुकपयाए, सत्ताणुकंपयाए, वहूण पाणाणं जाव सत्ताण अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टणयाए अपरियावणयाए।

—भगवतीसूत्र शतक ७ उ० ६

२. अणुकपा संगहे चेव भया कालुणि एत्तिय।
लज्जाए गारवेण च अधम्मेय पुण सत्तमे॥
धम्मे अट्ठमे वुत्ते काहिइय कयन्तिय॥

—ठाणाग सूत्र ठा० १०

३. नव विहे पुण्णे पन्नते तंजहा अण्णपुण्णे पाणपुण्णे लेणपुण्णे सयणपुण्ण वत्थपुण्णे मणपुण्णे वयपुण्णे कायपुण्णे णमोक्कारपुण्णे।

—ठाणाग सूत्र ठाणा ९

नौ प्रकार के पुण्यो की यह शब्द-सकलना स्वय बोलती है, सयमी पात्र को दिया गया दान ही पुण्य-बन्ध का हेतु है। नही तो इस शब्द-सकलना मे गौदान[1] पुण्य, अश्वदान पुण्य आदि अनेको पुण्यो को स्थान दिया गया होता, किन्तु यह न होकर केवल सयति के द्वारा ग्राह्य होने वाले आहार, पानी, वस्त्र आदि पदार्थों का उल्लेख किया गया है। भगवती सूत्र मे असंयति दान को एकान्त[2] पाप का कारण तथा सयति दान को एकान्त निर्जरा[3] का हेतु बतलाया गया है।

कुछ भी हो, इन सारे शास्त्रीय विधानो की उपेक्षा करके भी प्रवृत्तिमूलक धारणाए जैन-परम्परा मे आगे बढी और आज भी वे अधिकाश जैन शाखाओ मे मान्य हो रही हैं। जैन-परम्परा के इस इतिहास मे उल्लेखनीय बात तो यह रही है कि वह परम अध्यात्ममूलक होने के कारण तथाप्रकार की लोकोपकारक प्रवृत्तियो को दो सहस्र वर्षो के प्रतिकूल प्रवाह मे बहकर भी, विशुद्ध धर्म और विशुद्ध अध्यात्म के अन्तर्गत मानने के लिए तैयार नही हुई। पुण्य कहकर तो उसने उक्त प्रवृत्तियो को श्रेय की ओर जाने वाले पथिक के लिए स्वर्ण-शृखलारूप बन्धन ही

---

१. साधू बिन जो अन्य प्रते, दीधा पुण्य जो होय।
तो गाय पुण्य किम नवि कह्यो, भैस पुण्य पिण जोय॥
सुवरण पुण्य रूपो पुण्य, हीरो पुण्य उदार।
मोती ने माणिक पुण्य, खेति पुण्य विचार॥
इत्यादिक मुनिवर भणी, नहीं कल्पे जे बोल।
सूत्र विषे ते नवि कह्या, देखोजी दिल खोल॥

—प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध दानाधिकार दुहा १५२ से ५४

२. समणोवासगस्सणं भते! तहारूवं असंजयं अविरय-पडिहयपच्चक्खायपावकम्मं फासुएण वा, अफासुएण वा, एसणिज्जेण वा, अणेसणिज्जेण वा, असण-पाण० जाव किं कज्जइ ? गोयमा ! एगतसो से पावे कम्मे कज्जइ, नत्थि से कावि निज्जरा कज्जइ।

—भगवतीसूत्र शतक ८ उ० ६

३. समणोवासगस्सण भते ! तहारूव समणं वा माहण वा फासुएण वा, अफासुएण वा, एसणिज्जेण वा, अणेसणिज्जेण वा, असण-पाण-खाइम-साइमेण पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ? गोयमा ! एगतसो निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ।

—भगवती सूत्र शतक ८ उ० ६

माना।[1] यह किसी भी जन-शाखा ने नही माना कि ससारस्थ प्राणियो का भौतिक साधन-प्रसाधनो से दैहिक दु ख-मोचन कर व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेगा।

जैनाचार्यो द्वारा लोक-प्रवाह को मोड़

लोक-प्रवाह के साथ जैन-परम्पराए अवश्य चल पडी, किन्तु समय-समय पर चिन्तनशील आचार्य अपने उद्गारो मे तत्सम्बन्धी यथार्थ स्थिति को भी प्रकट करते रहे है। दिगम्बर आचार्य अमितगति कहते है—"जो असयतात्मा को दान देकर पुण्यरूप फल की आकाक्षा करता है, वह जलती आग मे बीज फेंककर धान पैदा करना चाहता है।"[2]

आचार्य हेमचन्द्र कहते है—"यह असि, मसि, कृषि आदि व्यवस्था का प्रवर्तन सावद्य—सपाप है, फिर भी स्वामी ऋषभदेव ने अपना कर्तव्य जानकर इसका प्रवर्तन किया।"[3]

अभयदान की व्याख्या करते हुए कहा गया है—मन से, वचन से और कर्म से जीव-हिंसा न करना, न कराना और न उसका अनुमोदन करना, जीवो के जीवन पर्याय का नाश न करना, उन्हे दु ख या सक्लेश न देना अभयदान है।[4]

माता-पिता की सेवा के सम्बन्ध से कहा गया है—निश्चय नय की दृष्टि से माता-पिता आदि का विनय करने रूप सतताभ्यास मे सम्यग् दर्शन आदि की

---

१ शुद्धा योगा रे ! यदपि यताऽऽत्मना, स्रवन्ते शुभकर्माणि।
कांचननिगड़ांस्तान्यपि जानीयाद्धतनिर्वृत्तिशर्माणि॥
—शान्तसुधारस आस्रवभावना गाथा ७

२ वितीर्य यो दानमसयतात्मने, जन फल कांक्षति पुण्यलक्षणम्।
वितीर्य बीज ज्वलिते स पावके, समीहते शस्यमपास्तदूषणम्॥
—अमितगति श्रावकाचार ११वां परिच्छेद

३. एतच्च सर्वं सावद्यमपि लोकानुकम्पया।
स्वामी प्रवर्तयामास, जानन् कर्तव्यमात्मन.॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, १।२।६७१

४. भवत्यभयदान तु जीवाना वधवर्जनम्।
मनोवाक्कायैः करण-कारणानुमतैरपि॥
तत्पर्यायक्षयाद् दु खोत्पादात् संक्लेशतस्त्रिधा।
वधस्य वर्जनं तेष्वभयदान तदुच्यते॥
—ऋषभ चरित्र १५७-१६६

आराधना नही होती, इसलिए वह धर्म का अनुष्ठान नही है। व्यवहार नय, स्थूल दृष्टि या लोक दृष्टि से वह युक्त है।[1]

लोंकाशाह द्वारा मोक्षाभिमुख अहिंसा पर बल

इस प्रकार समय-समय पर होने वाले स्फुट उद्गारो से वह लोकाभिमुख प्रवाह जरा भी रुका हो, ऐसा नही लगता, प्रत्युत प्रकाश की ये चिनगारिया क्षणिक आभास के साथ विलीन ही होती गई। अब से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व और वीर निर्वाण के लगभग इक्कीस सौ वर्ष पश्चात् जैन-परम्परा मे लोकाशाह ने फिर से मोक्षाभिमुख अहिंसा और धर्म का उद्घोष उठाया। आगमिक आधारो पर उन्होने स्पष्टरूप से कहा—साता देने से साता होती है, ऐसा कहने वाले आर्य मार्ग से पृथक् हैं, समाधि-मार्ग से दूर है, जिन-मार्ग की निन्दा करने वाले हैं, अमोक्ष के कारण है, तुच्छ सुखो के लिए बहुत सुखो को गमाने वाले हैं और भविष्य मे लोह वणिक् की तरह पश्चाताप करने वाले होगे।[2]

जिस क्रिया मे किंचित् भी हिंसा नही है, वही ज्ञान का सार है।[3] इन्द्रिय-भोगो का धर्म बुरा होता है। जिस प्रकार तालपुट जहर खा लेने से, अविधि से शस्त्र-ग्रहण करने से, कुविधि से मन्त्र-जाप करने से मनुष्य मृत्यु-प्राप्त करता है, वैसे ही इन्द्रियज विषयो को धर्म कहने वाला जन्म और मृत्यु के परिभ्रमण को बढाता है।[4]

---

१. निश्चयनययोगेन, निश्चयनयाभिप्रायेण यतो मातापित्राहि विनयस्वभावे सतताभ्यासे सम्यक् दर्शनाऽऽचनाऽऽराधनारूपे धर्मानुष्ठानं दूरापास्तमेव।

—धर्म अधिकरण

२. कोई इम कहै साता दिया साता होय, तिण ऊपर भगवान छव बोल प्ररूप्या—१. आर्य-मार्ग से बेगलो, २. समाधि-मार्ग से न्यारो, ३. जिन धर्म री हेलणा रो करणहार, ४. अमोक्ष रो कारण, ५. थोड़ा सुखा रे कारणे घणा सुखा रो हारणहार, ६. लोह वाणिया नी परे घणो झूरसी। सा० सू० सूयगडांग अ० ३ उद्देशो ४ गाथा ६।

—लोकेजी की हुण्डी बोल ४७वां

३ जिस करणी में किंचित मात्र हिंसा नहीं ते करणी ज्ञान री सार कही। सा० सू० प्र० सूयगडांग अध्ययन १ उ० ४ गाथा १०वीं।

—लोकेजी की हुण्डी बोल २२वां

४ विषय सहित धर्म बुरो, जिम तालपुट जहर खायां, कुरीति से हाथ में शस्त्र लिया, कुविधि मन्त्र जपियां मरण पामें, तिम इन्द्रिय-विषय

उनहत्तर बोलो की लोकाशाह की हुण्डी जिसमे हरएक बोल के साथ आगम-पाठ का प्रमाण दिया गया है, उनकी मान्यता का आधार बनती है। लोकाशाह की मान्यता के आधार पर नूतन श्रमण-सघ गठित हुआ और अध्यात्मपरायण धारणाओ को सुस्थिर करने के लिए लोक-प्रवाह के सामने खडा रहा, किन्तु यह क्रान्ति चिरस्थायी नही हो सकी और अनुयायी शाखाए उसी लोक-प्रवाह मे जा पडी। यह विशेषता की बात है, लोकाशाह तीनो ही श्वेताम्बर सम्प्रदायो मे आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं और उनके मत को अपने-अपने प्रकारो से किसी-न-किसी सीमा तक अवश्य मानते हैं।

अहिंसा-स्वरूप का विकास या विपर्यास ?

साहित्य में रागात्मक तत्त्वो का आविर्भाव

उपनिषदो, आगमो एव त्रिपिटको की निवृत्तिप्रधान और मोक्षाभिमुख मौलिक धारणाओ से होने वाला यह विपर्यास इतना स्पष्ट था कि उससे सभी क्षेत्र प्रभावित हुए। इसका प्रभाव धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे ही न रहकर साहित्य के क्षेत्र मे भी आया और रागात्मक तत्त्वो के आविर्भाव से साहित्य-उपवन सरस समझा जाने लगा। हिन्दी-साहित्य के विकास-क्रम मे बताया गया है—इस प्रकार पन्द्रहवी शताब्दी के आरम्भ मे हिन्दी-साहित्य मे उस परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमे वैयक्तिक साधना का लोककल्याणकारी वृत्तियो के साथ सुन्दर सामजस्य हुआ। अभी तक हिन्दी का साहित्य अधिकाशत प्रशस्तिगान तथा परम्परागत काव्य-रूढियो पर ही आधारित था, परन्तु सन्त परम्परा के उद्भव से साहित्य मे एक नये लक्ष्य व नये जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई।

कर्म के साथ ज्ञान का सामजस्य करने के लिए वेदान्त का सहारा लिया गया।[1] लोकोत्तर-प्रधान धर्म मे लौकिक चिन्ता का उद्भव मानव-स्वभाव के किन रागात्मक हेतुओ से हुआ, इसका भी व्यवस्थित चिन्तन हिन्दी साहित्य के इतिहास मे मिलता है। "ज्ञान तथा योग के नीरस उपदेशात्मक कथन, शून्य मे व्याप्त अमूर्त ब्रह्म तथा हठयोग द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त यद्यपि जनता की प्रवृत्तियो को भौतिक सघर्ष से हटाकर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने मे सर्वथा

सहित धर्म प्ररूपे ते घणा जन्म मरण वधावे। सा० सू० उत्तराध्ययन अ० २० गाथा ४४

—लोकेजी की हुण्डी बोल ३६वां

१. भारतीय वाड्मय पृ० ५४२

असफल नही रहे, पर जीवन के कठोर सत्यो के बीच उन अमूर्त और जीवन से असम्बद्ध सिद्धान्तो पर निर्भर रहना कठिन ही नही, असम्भव था। निर्गुण-साधना की कठोरता मे जनता को अपनी विषमताओ का समाधान नही मिल सका, क्योकि उसमे जीवन के आधारभूत तत्त्वो का निषेध अथवा अभाव था। निर्गुण पन्थी सन्तो ने भौतिक जीवन के नैराश्य का समाधान इन्द्रियो के दमन और कामनाओ के हनन मे पाने का प्रयास किया, पर जनता तो ऐसा आश्रय प्राप्त करना चाहती थी जहा वह अपने मन का अवसाद उडेल सके, जिसके चरणो मे सर्वस्व समर्पित कर अपने भौतिक जीवन के अभिशाप को वरदान मे परिणत कर सके। अनुराग मानव हृदय का प्रबल पक्ष है। अनुराग और ज्ञानमूलक-साधना का सामजस्य हो सकता है, पर तादातम्य नही। निर्गुण पन्थी सन्तो ने हृदय के अनुराग का पूरक मस्तिष्कजन्य साधना को बनाना चाहा और यही वे असफल रहे। सगुण मतवादी भक्तो ने मन की वृत्तियो को जो लौकिक जीवन मे अतृप्त रहने के कारण विक्षिप्त हो रही थी, राम और कृष्ण के रूप का वह आधार प्रदान किया, जिसके द्वारा भौतिक विषयो की भोक्ता इन्द्रियो की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्कामरूप से भगवान् मे लग गई। एक ओर मर्यादापुरुष राम के चरित्र मे अनेक आदर्शो की स्थापना की गई और दूसरी ओर लीलापुरुष कृष्ण के मनोरजक रूप का अकन किया गया।"[1]

साहित्य से राष्ट्रीय जागृति के क्षेत्र मे

अहिंसा और धर्म के इस स्वरूप विपर्यय का अन्यान्य क्षेत्रो मे भी स्वागत हुआ। राष्ट्रीय जागृति के साथ वह और भी बल पा गया। राष्ट्र और समाज के नवनिर्माण की चहल-पहल मे सहयोगी होकर यही विपर्यय विकास का खिताब पा गया। महात्मा गाधी विशेष रूप से श्रेयोभाग् बने। प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी का कहना है—गाधीजी पर कुछ लोगो का यह आक्षेप एक तरह से गलत नही है कि उन्होने भारतीय समाज को निवृत्ति-मार्ग से विमुख कर ससार के प्रति आसक्त कर दिया। लेकिन सचाई यह है कि समाज मे अहिंसा उतने ही प्रमाण मे टिक सकती है, जितने प्रमाण मे प्रवर्तक धर्म अर्थात् समाजोपयोगी काम चलेंगे। निवर्तक धर्म से समाज की बुराइया दूर की जा सकती है, परन्तु उनमे अच्छाइयो की वृद्धि नही हो सकती। गाधीजी ने त्याग, तपस्या और बलिदान रूप निवर्तक धर्म के साथ-साथ प्रवृत्तिरूप अहिंसा का भी प्रतिपादन किया और उसी के द्वारा

---

१ भारतीय वाड्मय पृ० ५४७

राष्ट्र की समस्याओ का हल किया।' 'अनासक्तिमूलक प्रवृत्ति-निवृत्ति ही अहिंसा के विकास का अब तक का सर्वश्रेष्ठ रूप प्रतीत होता है। गाधीजी के आदर्श को लेकर चलने वाले आश्रम मे निवृत्तिरूप अहिंसा के साथ प्रवृत्ति भी जुडी हुई मिलती है। अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि निवृत्तिमार्गीय व्रतो के साथ-साथ खेती, खादी आदि के प्रवृत्ति-कार्य भी वहा चलते है।[1]

खेती[2] और खादी[3] के सम्बन्ध से होने वाली हिंसा को महात्मा गाधी ने कभी अहिंसा की कोटि मे नही लिया। कितने ही पुनीत उद्देश्य से किसान खेती करे, महात्मा गाधी की दृष्टि से उसमे सामाजिक स्वार्थ तो अन्तर्निहित है ही। हमे यहा इस चर्चा मे नही उतरना है कि महात्मा गाधी ने कही हिंसा को अहिंसा और धर्म के अन्तर्गत माना है या नही। उनकी अहिंसा सम्बन्धी परिभाषा है—अहिंसा के माने सूक्ष्म जन्तुओ से लेकर मनुष्य तक सभी जीवो के प्रति समभाव।[4] उनकी निष्ठा है—हिंसा तीनों कालो मे हिंसा ही रहेगी।[5] अत यह प्रश्न बहुत विचारणीय है कि महात्मा गाधी की दृष्टि मे हिंसा के साथ व्यापक प्रेम और अनासक्ति का मेल कहा तक बैठ सकता है? कुछ भी हो उक्त विवरणो से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि अहिंसा और निवृत्ति-प्रधान कर्म का यह विपर्यय विविध क्षेत्रो मे एक विकास के रूप मे ही देखा गया है।

उपयोगिता के साथ यथार्थता का निर्वाह अपेक्षित

अपेक्षा-भेद से यह माना जा सकता है—लौकिक प्रवृत्तियो को आध्यात्मिक रूप मिल जाने से दया, दान आदि लोकोपकार मे समाज विशेषरूप से प्रवृत्त हुआ। दीन, अनाथ अपागो के जीवन-निर्वाह का मार्ग खुला। मोह-ममता बढने से सामाजिक जीवन सरस हुआ, पर देखना यह है कि उपयोगिताओ के साथ

---

१ अहिंसा के आचार और विचार का विकास पृ० ६–१०

२. खेडूत जे अनिवार्य नाश करे छे तेने हू अहिंसा मां कदी गणावेल नथी। ए वध अनिवार्य होई भले क्षम्य गणाय, पण ते अहिंसा तो नथी ज। खेडूतनी हिंसामां समाजनो स्वार्थ रहेलो छे। अहिंसामां स्वार्थने स्थान नथी।

—अहिंसा पृ० १३६

३ खादी पर प्रक्रियाएं कम होती हैं, इसलिए उसमें हिंसा कम हैं।

—गाधीजी–खण्ड १० अहिंसा प्रथम भाग पृ० १७

४. मगल प्रभात पृ० ८१

५ अहिंसा पृ० २०–२१

यथार्थता का निर्वाह हुआ या नही ? किसी कर्म का उपयोगी हो जाना एक बात है और यथार्थ होना दूसरी बात। धर्म और अहिंसा का सम्बन्ध दार्शनिक मान्यताओ पर आधारित है। दर्शन के क्षेत्र मे आत्मा, पुण्य, पाप और मोक्ष सम्बन्धी धारणाए ज्यो की त्यो बनी रहे और धर्म के स्वरूप को सामाजिक उपयोगिता के लिए चाहे ज्यो विस्तृत करते रहे, यह सगत नही हो सकता। भारतीय दर्शनो ने यह मान लिया होता कि जगत के प्रत्यक्ष स्वरूप की श्रेष्ठता ही इष्ट और काम्य है तो फिर भी समाज की लोकोत्तर विमुखता यथार्थ मानी जा सकती थी। लगभग सभी भारतीय दर्शनो ने जीवन का परम लक्ष्य निर्वाण माना है, भले ही उसके वाह्य स्वरूप मे विभिन्नता रही हो। उसके हार्द मे लगभग सभी दर्शन एकमत हैं। वह जीवन का परम लक्ष्य होता है। वहा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप मे पहुचती है। भव-परम्परा के बीज राग और द्वेष यहा नही रह जाते। महायान सम्प्रदाय प्रभृति कुछ एक विचार-परम्पराओ को छोडकर लगभग सभी दर्शन परम्पराए इसमे सहमत है कि मोक्ष और मोक्ष के उपाय व्यक्तिगत है। पिता, पुत्र, समाज, राष्ट्र और विश्व के एक साथ मोक्ष-गमन की चर्चा कही नही है। व्यक्ति-व्यक्ति ही अपनी अनवद्य साधना से कर्म-मल रहित होकर मोक्ष पहुचते है। ऐसी परिस्थिति मे धर्म और अहिंसा के आधारभूत दर्शन की उपेक्षा कर समाज को एकान्तरूप से लोकाभिमुख ही बनाने का विचार कैसे यथार्थ माना जा सकता है और यह निर्हेतुक विपर्यास कैसे अहिंसा धर्म का विकास ही माना जा सकता है।

अहिंसा और धर्म का प्रयोजन

हमे यह भी भूलना नही चाहिए कि अहिंसा और धर्म का परम उद्देश्य व्यक्ति को उसकी मजिल तक पहुचाने का है। यह ठीक है कि अहिंसा और धर्म के व्यापक बहुमुखी प्रभावो से वर्तमान जीवन भी अलौकिक होता है। समाज-व्यवस्थाएं और अन्य विश्वोपक्रम सुसम्पन्न होते हैं, यह उनका गौण परिणाम ही होता है। अहिंसा प्राणीमात्र की जिजीविषा के लिए कही जाती है। भगवान् श्री महावीर के सूक्तो मे भी यह बात बहुत प्रकारो से दुहराई गई है। प्राणीमात्र जीना चाहते हैं, इसलिए निर्ग्रन्थ उनकी हिंसा न करे। वास्तव मे यह एक उपदेश-विधि ही है। इस स्थूलता के नीचे अहिंसा का स्वरूप और प्रयोजन तो इस प्रकार है—

आत्मा मे रागादि भावो का अप्रादुर्भाव ही अहिंसा है और उन रागादि भावो का प्रादुर्भाव ही हिंसा है।[1]

---

१. अप्रादुर्भावः खलु रागादीना भवत्यहिंसेति।

सयत मुनि के रागादि आवेश रहित आचरण से किसी प्राणी का प्राण व्यपरोपण हो जाने पर भी वह हिंसा नही है।[1]

रागादि आवेशो के वश होने वाले असयत आचरण से किसी जीव का प्राण-व्यपरोपण हो अथवा न भी हो, उस व्यक्ति के लिए तो वह निश्चितरूप से हिंसा है ही।[2]

तत्त्वार्थ यह है, व्यक्ति कषायज भावो से लिप्त होकर हिंसा करता हुआ सर्वप्रथम अपनी आत्मा से अपनी ही आत्मा की हिंसा करता है। अन्य प्राणियो की हिंसा हो या न हो, यह तो आगे की बात है।[3]

योगो की प्रमत्तता के कारण हिंसा से विरक्त न होना और हिंसा करना दोनो ही हिंसा के अन्तर्गत है।[4]

सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसा भी परनिमित्तक नही होती, तथापि परिणामो की विशुद्धि के लिए प्राण-व्यपरोपणादि हिंसायतनो से व्यक्ति को निवृत्त होना चाहिए।[5]

इसी प्रकार जब व्यक्ति अपने द्वारा या अन्य किसी द्वारा होने वाली हिंसा को बचाने के लिए आत्मोपदेश या परोपदेश मे प्रवृत्त होता है, हिंसा टले या न टले,

---

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

—पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ४४

१. युक्ताचरणस्य सतो, रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा, प्राणव्यपरोपणादेव ॥

—पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ४५

२. व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुव हिंसा ॥

—पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ४६

३. यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणा तु ॥

—पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ४७

४. हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥

—पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ४८

५. सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥

—पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ४९

वह अपनी सत्प्रवृत्ति के कारण अहिंसा व अनुकम्पा का ही आचरण करता है। अस्तु, अहिंसा का पारमार्थिक लक्ष्य आत्म-शुद्धि और उसका मार्ग कषाय-विजिगीषा है।

क्रान्तदर्शी आचार्य श्री भिक्षु

भगवान् श्री महावीर के लगभग तेईससौ वर्ष पश्चात् अहिंसा के क्षेत्र मे क्रान्तदर्शी आचार्य श्री भिक्षु का अमिट चरण-विन्यास हुआ। दो सहस्राब्दियो के इतिहास मे अहिंसा का वह अपूर्व परिच्छेद बना। अहिंसा जहा लोकैषणाप्रधान तत्त्वो के आघात-प्रघातो से जर्जरित हो उठी थी, उसे पूर्ण पुनरुज्जीवन मिला। बौद्ध वाड्मय की शैली मे आचार्य भिक्षु का वह उपक्रम "जैसे उलटे को सीधा करदे, ढके को उभार दे, भटके को राह दिखा दे, अन्धियारे मे दीप जला दे,[1] की शब्द गरिमा से श्लाघनीय था। धर्म-सरक्षण के नाम पर, जीवन की अनिवार्यता के नाम पर, मानव-श्रेष्ठता के नाम पर, दया, दान और लोक-सेवा के नाम पर अहिंसा हिंसा के द्वारा, त्याग भोग के द्वारा, निवृत्ति-प्रवृत्ति के द्वारा निगली जा रही थी। महाप्राण आचार्य भिक्षु ने प्रतिस्रोत मे अपने चरण थाम कर सचमुच ही गेहू और ककरो को, दूध और पानी को अपनी हस-मनीषा से पृथक्-पृथक् कर दिया था। उनकी सफलताए उनके साथ ही विलीन नही हुई थी। उनका यह तेरापथ प्रतिष्ठान लाखो-लाखो लोगो द्वारा आज भी पूजित हो रहा है। भविष्य की सहस्राब्दियो मे भी यह अमृत-प्रवाह बहता रहेगा, यह आशा है।

आचार्य भिक्षु अहिंसा की एक प्रतिमूर्ति थे। उनके विचारो मे अहिंसा थी, उनकी वाणी मे अहिंसा थी और उनके आचरण मे अहिंसा थी। वे अहिंसा के गूढ विचारक थे, अनुपम उपदेशक थे और अनन्य उपासक थे। शास्त्रो के विलोडन और अपनी प्रतिभा के प्रस्फोटन से अहिंसा का जो नवनीत उन्हे मिला, स्वय उन्होने खाया, जी भर दूसरो को खिलाया और आने वाली सन्तति के लिए उसे ग्रन्थ-मजूषाओ मे सजोकर रखा।

निष्ठा और परिभाषा

उनके हृदय मे अहिंसा की अपार निष्ठा थी। वे अहिंसा के अखण्ड और विशुद्ध रूप मे विश्वास रखते थे। उनका कहना था—अन्य वस्तुए परस्पर मिल सकती हैं, परन्तु अहिंसा (दया) मे हिंसा नही मिल सकती। पूर्व और पश्चिम के

---

१. संयुत्तनिकाय दहर सुत्त ३-१-१

रास्ते कभी एक नही हो सकते।[1] धर्म की नीव अहिंसा (दया) के ऊपर है। हिंसा-प्रवृत्ति से धर्म होगा तो जल-मन्थन से भी घृत का आविर्भाव हो जाएगा।[2] धूप और छाया की तरह हिंसा और दया की उपादान क्रियाए भी अत्यन्त भिन्न होगी।[3] रक्त से सश्लिष्ट पीताम्वर रक्त-प्रक्षालन से शुद्ध नही होता तो हिंसा-प्रवृत्ति से मलिन हुई आत्मा, हिंसा-धर्म से ही कैसे शुद्ध होगी?[4] सूई के धागा पिरोने के छिद्र मे कोई मोटा रस्सा पिरोने वैठे तो वह आगे कैसे चलेगा? त्यो हिंसा मे परूपा गया धर्म गले कैसे उतरेगा?[5] सर्वभूत खेमकरी अहिंसा अल्प जीवो के लिए या वहुत जीवो के लिए नही, वह समस्त जीवो के लिए है। षट्कायिक जीवों को मन, वचन और शरीर से न हनन करना, न हनन करवाना और न हनन करते हुए का अनमोदन करना अहिंसा है।[6]

धर्म की कसौटी—आज्ञा और संयम

श्रद्धा के विना जीवन एकनिष्ठ नही वनता और एकनिष्ठ वने विना सिद्धि

---

१. और वसत में भेल हुवे पिण, दया में नहीं हिंसा रो भेलो जी।
ज्यू पूर्व ने पिश्चम रो मारग, किण विध खाये मेलो जी॥
—अनुकम्पा चौपाई ढाल ६ गाथा ७१

२ जिण मारग री नींव दया पर, खोजी हुवे ते पावै जी।
जो हिंसा माहें धर्म हुवे तो, जल मथीया घी आवै जी॥
—अनुकम्पा चौपई ढाल ६ गाथा ७४

३ हिंसा री करणी में दया नहीं छै, दया री करणी में हिंसा नाहीं जी।
दया ने हिंसा री करणी छै न्यारी, ज्यू तावडो ने छाही जी॥
—अनुकम्पा री चौपई ढाल ६ गाथा ७०

४. लोही खरडचो जो पितम्वर, लोही सू केम धोवायो रे।
तिम हिंसा में धर्म किया थी, जीव उजलो किम थायो रे॥
—विरत इविरत की चौपई ढाल १ गाथा ३६

५. सूई नाके सिंधर पोवै, कहो किम आगे पेसै।
ज्यूं हिंसा मांहे धर्म परूपे, तै सालोसाल न वेसै रे॥
—आचार री चौपई ढाल ६ गाथा २८

६. छ काय हणावै नहीं, हणीयां भलो न जाणें ताय।
मन वचन काया करी, आ दया कही जिणराय॥
—अनुकम्पा री चौपई ढाल ८ दोहा ३

नही मिलती। तर्क सत्यावाप्ति का एक साधन है, पर बुद्धि की तरतमता मे उसका कोई एक रूप स्थिर नही होता। इसीलिए कर्मयोगी कृष्ण ने कहा है—'मामेक शरण व्रज—मेरा ही शरण ग्रहण करें'।[1] गौतम बुद्ध ने कहा—'यदि कोई किसी को सचमुच सम्यग् कहे, तो वह मुझको ही कह सकता है। मैंने ही उस अनुत्तर पूर्ण बुद्धत्व का साक्षात्कार किया है।[2] भगवान श्री महावीर की शालीन भाषा थी, 'आणाए मामगो धम्मो' आज्ञा मे ही मेरा धर्म है'।[3] आचार्य श्री भिक्षु भगवान श्री महावीर के अनुयायी थे। उन्होने उस आदेश को श्रद्धापूर्वक शिरोधार्य किया और साथ-ही-साथ तर्क और युक्ति पर भी कसा। फलित रहा—भगवान् की आज्ञा कहा है, जहा सयम और सत् प्रवृत्ति की वृद्धि है।[4] ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप का सरक्षण है।[5] असयम और असत् प्रवृत्ति के लिए भगवान् का कही इगित नही है। भगवान् की आज्ञा वहा है, जहा ध्यान, लेश्या, परिणाम, योग और अध्यवसाय प्रशस्त हैं।[6] भगवान् की आज्ञा वहा है, जहा धर्मध्यान और शुक्लध्यान की ज्योति[7] जलती है, व्रत-बीज अकुरित, पुष्पित और फलित होता है। स्वार्थ मिटता है और परमार्थ जुटता है।

---

१ गीता अध्याय १८ श्लोक ६६

२. संयुत्तनिकाय दहर सुत्त ३।१।१

३ आचाराग सूत्र अध्ययन ६ उ० २

४. सर्व मूल गुण उत्तर गुण, देस मूल उत्तर गुण बोय रे।
या दोनू गुणा में जिण आगना, आगना बारै गुण नहीं कोय रे॥
—जिनाज्ञा री चौपई ढाल १ गा० १८

५. ग्यांन दर्शण चारित नें तप, ए तो मोख रा मारग च्यार रे।
यां च्यारां में जिणजी री आगना, यां विना नहीं धर्म लिगार रे॥
—जिनाज्ञा री चौपई ढाल १ गा० २

६. नंदी उत्तरै त्यांरो ध्यांन कीसो छै, किसी लेश्या किसा परिणाम रे।
जोग किसा अधवसाय किसा छै, भला भूंडा री करो पिछाण रे॥
ए पांचू भला छै तो जिण आगना छै, माठा में जिण आग्या न कोय रे।
ए पाचूं माठा सूं पाप लागै छै, भला सू पाप न होय रे॥
—जिनाज्ञा री चौपई ढाल ३ गा० १९-२०

७. धर्म ने सुकल दोनूं ध्यांन में, जिण आग्या दीधी वारूंबार रे।
आरत रूद्र ध्यान माठा बेहूं, यानैं ध्यावै ते आग्या बार रे॥
—जिनाज्ञा री चौपई ढाल १ गा० १२

भगवान् की आज्ञा वहा है जहा सावद्य कर्म टलता है, निरवद्य कर्म पलता है।[1] ऐसा एक भी कार्य नही है जो धर्म और अहिंसारूप हो और वह आज्ञा-सम्मत न हो। न ऐसा ही कोई कार्य अवशेष रह जाता है, जो आज्ञा-सम्मत हो और अहिंसा व सयम प्रधान न हो। इस प्रकार आज्ञा और तर्क को अपनी बुद्धि के तराजू पर तोल कर आचार्य भिक्षु ने अहिंसा और धर्म की कसौटी—आज्ञा और सयम को कहा। आगमवादियो से वे कहते, जो व्यक्ति यह कहता है, यह धर्म है, पर आज्ञा सम्मत नही है, वह सचमुच ही कहता है—मैं पुत्र हू पर मेरी माता वन्ध्या[2] है। वे तर्कनिष्ठ लोगो से बतलाते—असयति जीवो की जीवन-कामना राग है, मरण-कामना द्वेष है और उनके लिए की गई भव-तितीर्षा धर्म है।[3]

अविभक्त अहिंसा

अहिंसा सम्बन्धी सभी शास्त्रो मे अहिंसा की परिभाषा लगभग समान ही मिलती है। ज्यो-ज्यो वह जीवन के व्यवहारिक प्रसगो पर उतारी जाती है, वहा वह परिभाषा विभक्त होती देखी जाती है। प्रवर्तक व विचारक उन परिभाषाओ को तोड-मोडकर वर्तमान जीवन के साथ सगत करते हैं। जैन-शास्त्र कहते है, साधु अपने सयम निर्वाह के लिए अचित्त, प्रासुक और एषणीय आहार ग्रहण करे। आवश्यक निर्युक्ति मे बताया जाता है—साधु रोगादि विशेष परिस्थिति मे सचित्त पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि का उपयोग करे। अचित्त की अनुपलब्धि मे वह सचित्त पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि गृहस्थ के यहा से लाए, वहा न मिले तो वह खान, सरोवर, अटवी आदि स्थानो मे जहा सुलभ हो वहा से लाए।[4] रोगादि प्रसगो से तथा सघ-सरक्षण, चैत्य-रक्षण आदि प्रसंगो से वैध मानी गई हिंसा के

---

१ दोय करणी ससार में, सावद निरवद जाण।
निरवद करणी में आगन्या, तिणसूं पामें पद निरवाण॥
—विरत इविरतरी चौपाई ढाल १२ दु० २

२ कोई कहे मांहरी मा तो छे वांझडी, तिगरो हू छूं आतम जात।
ज्यू मूर्ख कहे जिण आगना विना, करणी कीधा धम साख्यात॥
—विरत इविरतरी चौपाई ढाल २ गा० ११

३ असंयति जीव रो जीवणो वांछै ते राग, मरणो वांछै ते धेष, तिरणो बांछै ते वीतराग प्रभु रो मारग छै।
—जयाचार्य कृत हाजरी

४. आवश्यक निर्युक्ति, परिष्ठापना समिति

और भी अनेको रोम-हर्षक उदन्त पिछले प्रकरणो मे बताए जा चुके है। इस सम्बन्ध मे आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण दृढ और न्यायोचित रहा है। उनका अभिप्राय था—राग और द्वेष से मुक्त तीर्थंकर द्रव्य हिंसा, भाव हिंसा आदि का उल्लेख करते हैं, वह उनके अधिकार की बात है। राग-द्वेष मुक्त सर्वज्ञो की तरह साधारण छद्मस्थ भी यदि अहिंसा धर्म मे अपवाद जोडते चले तो वह न्याय नही है। अवीतराग के निर्णय मे राग और द्वेष की स्फुरणा सम्भावित है, अत उनका इस ओर प्रवृत्त होना सगत नही। एक के बाद एक अपवाद जोडे जाकर अहिंसा मिट ही जा सकती है।

आचार्य भिक्षु का यह क्रान्तिकारी घोष था, टीका, भाष्य, चूर्णिया आदि स्वत प्रमाण नही हैं। जैसे उन्होने अन्य आचार्यो द्वारा विहित अपवादो को हेय बताया, वे स्वय भी अपनी धारणा पर अत्यन्त सुदृढ रहे। उन्होने एक धर्म-सघ का प्रवर्तन किया। सहस्रो प्रश्न और परिस्थितिया उनके सामने आती रही, तथापि एक भी अपवाद जोडकर उन्होने अहिंसा को विभक्त नही किया। दया, दान, लोकोपकार, साध्वाचार आदि की जो व्याख्याए उन्होने दी, उनमे अहिंसा और सयम को सर्वत्र अविभक्त बनाए रखा। छद्मस्थ-अवस्था मे भगवान् श्री महावीर ने शीतल तेजोलेश्या का प्रयोग कर गोशालक को बचाया। आचार्य भिक्षु ने कहा—यह अवीतराग दशा की भूल थी।[1] लोकमत प्रतिकूल हुआ। दया के उत्थापक, दान के विध्वसक के खिताब मिले, पर उन्होने हिंसा के हाथो अहिंसा को नही जाने दिया। उनका विश्वास था—मेरा उपास्य अहिंसा है न कि लोक-समुदाय।

परम कारुणिक

स्थूल मेधावालो की धारणा मे आचार्य भिक्षु जितने करुणा-शून्य थे, तत्त्वदर्शियो की दृष्टि मे वे उतने ही अधिक कारुणिक थे। धनी और निर्धन, बलवान् और निर्बल, स्थावर और जगम उनकी दृष्टि मे समान थे। एक के लिए दूसरे का बलिदान उन्हे स्वीकार नही था। वे प्राणीमात्र की समानता मे विश्वास रखते थे। मनुष्य ससार की सर्वश्रेष्ठ कृति है, उसकी अपेक्षाओ के लिए अन्य प्राणियो का विनाश आध्यात्मिक नही माना जा सकता। यही बात स्थावरो का प्राण-

---

१. तिणनें वीर बचायो बलतो जाण नै रे, लबद फोडवे सीतल लेस्या मूक रे।
राग आण्यो तिण पापी ऊपरै रे, छद्मस्थ गया तिण काले चूक रे॥
—अनुकम्पा चौपई गीति १० गाथा ७

वियोजन कर जगमो के सरक्षण मे थी।[1] आचार्य भिक्षु का तत्त्व-चिन्तन था, प्राणीमात्र जीना चाहते हैं। व्याघ्र को मार कर मनुष्य की रक्षा एक समाज-नीति हो सकती है, पर अध्यात्म नही। आदर्श आत्मवत् सर्वभूतेपु—प्राणीमात्र को अपने समान समझने का है। व्यवहारिक जीवन मे मनुष्य उस आदर्श मे तरतमता स्थिर करता है। पशुओ की अपेक्षा मे वह मनुष्य को प्रमुखता देता है, मनुष्य मनुष्य मे वह अपनी जाति और देश के मनुष्य को और उसकी भी अपेक्षा मे अपने पारिवारिक को और अन्त मे वह स्वय को। ये मनुष्य की ममता परक सीमाए हैं। इन अपेक्षाओ मे परमार्थ नही खोजा जा सकता।

तो एकेन्द्रिय जीवो ने कब कहा था ?

आचार्य भिक्षु से किसी एक ने कहा—एकेन्द्रिय को मारकर पचेन्द्रिय जीव का पोपण करने मे धर्म है। आचार्य भिक्षु वोले—यदि कोई तुम्हारा अगोछा छीनकर किसी ब्राह्मण को दे दे तो उसमे धर्म होगा कि नही ? प्रश्नकर्ता ने कहा—नही। आचार्य भिक्षु ने कहा—इसी प्रकार कोई किसी के धान से भरे कोठे को अपने आप खोलकर सारा धान गरीवो को वाट दे, तो उसमे धर्म होगा या नही ? प्रश्नकर्ता ने कहा—उक्त दोनो कार्य मालिक की इच्छा विना किए गए हैं, अत इनमे धर्म नही होगा। आचार्य भिक्षु स्मित भाव से वोले—तो एकेन्द्रिय जीवो ने कव कहा था, हमारे प्राण पचेन्द्रिय जीवो के लिए ले लो।[2]

मात्स्य न्याय

सामाजिक प्राणी के जीवन-निर्वाह मे पृथ्वी, जल वनस्पति आदि की हिंसा अवश्यम्भावी हो जाती है। एक मत्स्य दूसरे मत्स्य को खाकर जीता है और अन्य उससे भी वडा मत्स्य उसे खाकर जीता है। यह 'मात्स्य न्याय' लोक मे चलता ही रहता है। एक दूसरे का भक्षण कर अपनी-अपनी जिजीविषा पूरी करते हैं। उसमे

---

१. केई कहे म्हे हणा एकेन्द्री, पचेन्द्री जीवां रै ताई जी।
एकेन्द्री मार पंचेन्द्री पोष्यां, धर्म घणो तिण माहीं जी॥
एकेन्द्री थी पचेंद्री ना, मोटा घणा पुन भारी जी।
एकेन्द्री मार पचेंद्री पोष्या, म्हांने पाप न लागै लिगारी जी॥
—अनुकम्पा चोपई गीति ९ गाथा १९-२०

२. भिक्खु दृष्टान्त संख्या २६४

भी लोक धर्म कहते हैं, यह आश्चर्य है ।[1] आचार्य भिक्षु के मन मे निर्बल जीवो के प्रति होने वाली इस निर्ममता के प्रति एक करुणा है । वे कहते हैं—निर्बल स्थावर प्राणियो को मारकर सबल जगम प्राणियो का पोषण करते हैं और उसमे धर्म कहते हैं, सचमुच ही यह विपरीत बात है । ऐसे लोग बेचारे स्थावर जीवो के लिए शत्रु खडे हुए हैं ।[2] जीवो को मारकर जीवो का पोषण करना सासारिक मार्ग है । इसमे धर्म बतानेवाले अज्ञ है ।[3]

आचार्य भिक्षु ने स्थावर जीवो के प्रति अहिंसा का विवेक दिया । वे यह जानते थे, सामाजिक प्राणी का जीवन हिंसा के साथ जकडा हुआ है और वे इस हिंसा से बहुत अधिक ऊपर नही उठ सकते । आचार्य भिक्षु के मन मे दो प्रेरणाए बलवती थी—स्थावर जीवो को साधारण या नगण्य समझकर मारा ही न जाए, श्रावक भी अपने सद्विवेक से यथासम्भव उनके प्रति अहिंसक बने । दूसरी प्रेरणा—व्यक्तिगत या सामाजिक अपेक्षाओ से उनकी हिंसा भी की जाए और धर्म भी माना जाए, यह उचित नही ।

सामाजिक जीवन की अपेक्षा में

सामाजिक जीवन की अपेक्षाओ मे आचार्य भिक्षु का विवेक पूर्ण जागरूक था । अपने बारह व्रत की चौपई मे वे श्रावक की भाषा मे बोलते हैं—मैं गृहस्थाश्रम मे बसता हू । नाना कार्यो मे स्थावर जीवो की हिंसा होती ही रहती है । आरम्भ किए बिना उदर नही भरता और आरम्भ मे हिंसा हुए बिना नही रहती । इसलिए स्थावर जीवो की हिंसा का यथाशक्य परिमाण करता हू । जगम प्राणियो के विषय मे निरपराध प्राणी की हिंसा का त्याग करूगा, अपराधी प्राणी की हिंसा का नही । मैं खेती करते हुए हल चलाता हू, जमीन पोली करता हू, घास आदि काटता हू, निरपराध जीव भी उसमे मरते हैं । अत निरपराध जीवो को भी मैं

---

१. मछ गलागल लोक में, सबला ते निबला ने खाय ।
तिण में धर्म परूपीयो, कुगुरा कुबुध चलाय ॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ७ दोहा १

२ राकां ने मार धींगाने पोषे, आ तो बात दीसै घणी गेरी ।
ईण माहीं दुष्टी धर्म परूपै, तो राक जीवांरा उठ्या वेरी ॥
—ज्ञानप्रकाश पृष्ठ ६८

३. जीवा ने मारे जीवा ने पोषै, ते तो मारग ससार नो जाणो जी ।
तिण माहे साध धर्म बतावै, ते तो पूरा छै मूढ अयाणो जी ॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ६ गाथा २५

सकल्परूप से मारने का ही त्याग करता हू ।[1]

स्थावर-अहिंसा का विवेक

आचार्य भिक्षु ने स्थावर अहिंसा पर जो विवेक दिया, वह अवश्य निराला है। उनके अहिंसा-चिन्तन का वह एक प्रमुख भाग कहा जा सकता है। धर्म-अधर्म, हिंसा-अहिंसा के निरूपण मे उन्होंने स्थावर जीवो को कही भुलाया नही है। महात्मा गाधी के अहिंसा-चिन्तन मे भी स्थावर जीवो के अस्तित्व और अहिंसा-विवेक की एक झाकी मिलती है—इसमे कोई सन्देह नही है कि वनस्पति मे भी प्राण हैं, परन्तु वनस्पति का उपयोग किए बिना भी हम नही रह सकते। यह जीवन के नाश से किसी तरह कम नही है।[2] अग्नि को प्रगट करने मे हिंसा होती है। फिर उस अग्नि मे सूखी या हरी वस्तु का होम करना विशेष हिंसा है।[3] जिस तरह मनुष्य ईश्वर की कृति है उसी तरह प्राणीमात्र ही उसकी कृति हैं। अत वे भी एक कुटुम्ब रूप है, इसलिए उनके प्रति भी हमे सद्भावना रखनी चाहिए। मिट्टी या पत्थर का भी दुरुपयोग नही करना चाहिए।[4]

---

१. वसता गृहस्थावास, हिंसा हुवै जास।
आरम्भ विण करीये ए, पेट किम भरीये ए ॥३॥
करूं तस तणा पचखाण, थावर नो परमाण।
भेद तस तणा ए, ग्यानी कह्या घणा ए ॥४॥
कोई मोने घाले घात, माहरो अपराधी साख्यात।
खमता दोहिलो ए, नहीं मोनें सोहिलो ए ॥५॥
विण अपराधी होय, तिणरी हिंसा दोय।
मारे जाणता ए, वले अजाणता ए ॥७॥
म्हारे धान जोखण रो काम, गाडी चढ जाऊ गाम।
खेती हल खडू ए, सूर निनाण करू ए ॥८॥
तिहा वहू जीव हणाय, किम पालू मुनीराय।
नहीं सझे एसो ए, ग्रहवासे फस्यो ए ॥९॥
आकुटी ने साम, जीव मारण रे काम।
व्रत छै जाणतां ए, नहीं अजाणता ए ॥१०॥
—बारह व्रत री चौपई गीति १

२ गाधीजी, खण्ड दश, अहिंसा—प्रथम भाग पृष्ठ २३

३ व्यापक धर्म भावना पृष्ठ ३०८

४. गाधी और गाधीवाद पृ० २७३-७४

जीवन धारणा की अपेक्षा और सूक्ष्म जीवो की अहिंसा के सम्बन्ध मे महात्मा गाधी ने सुन्दर सगति दी है। आचार्य भिक्षु ने इस लोक को 'मच्छ गलागल' और महात्मा गाधी ने 'जीवो जीवस्य जीवनम्' के शब्द-विन्यास से देखा है। वे कहते हैं—अहिंसा एक व्यापक वस्तु है। हम लोग ऐसे पामर प्राणी है, जो हिंसा की होली मे फसे हुए है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह बात असत्य नही है। मनुष्य बाह्य हिंसा के बिना जी नही सकता। खाते-पीते, उठते-बैठते, इच्छा से या अनिच्छा से कुछ-न-कुछ हिंसा करता ही रहता है। इस हिंसा से छूट जाने का प्रयास करता हो उसकी भावना मे केवल अनुकम्पा हो, वह सूक्ष्म जन्तु का भी नाश न चाहता हो तो समझना चाहिए, वह अहिंसा का पुजारी है। उसकी प्रवृत्ति मे निरन्तर सयम की वृद्धि होती रहेगी, उसकी करुणा निरन्तर बढती रहेगी।[1]

धर्म के दो स्वरूप-आधिभौतिक और आध्यात्मिक

गीता कहती है—जो प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बन्ध और मोक्ष, इन भेदो को जानती है, वह बुद्धि सात्त्विक है। जो धर्म और अधर्म, कार्य और अकार्य आदि भेद-प्रभेदो को यथार्थ नही जानती, वह बुद्धि राजसी है। धर्म को ही अधर्म माननेवाली और हर तत्त्व को विपरीत समझने वाली बुद्धि तामसी है।[2]

धर्म शब्द का प्रयोग एक समस्या

कार्यो की हेयता और उपादेयता को पाने के लिए नाना वर्गीकरण आवश्यक होते है। मीमासको ने अबन्धक और बन्धक की अपेक्षा से कर्म के दो भेद किए—क्रत्वर्थ (यज्ञार्थ) और पुरुषार्थ। स्मृति विहित वर्णाश्रम कर्म, युद्ध वाणिज्य आदि स्मार्त कर्म और व्रत, उपवास आदि पुराण विहित कर्म पौराणिक कहलाए। नित्य,

---

१. युद्ध और अहिंसा (धर्म की समस्या) पृ० १७५

२. प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी॥३०॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥३२॥
—गीता अध्याय १८

नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध ये भी सव कर्मों के भेद हैं।[1] जैन-आगमो की भाषा मे पाप-आगमन के हेतुरूप कर्म अशुभ योग आश्रव है, पाप-निरोधक कर्म सवर है, पाप-मोचक कर्म निर्जरा है, पुण्य-निमित्तक कर्म शुभ योग आश्रव है। आचार्य भिक्षु ने इन्ही हेयोपादेय भेद-प्रभेदो को सावद्य-निर्वद्य, व्रत-अव्रत, प्रवृत्ति-निवृत्ति, त्याग-भोग, आज्ञा-अनाज्ञा आदि भेदो से अभिहित किया।

वैदिक परम्परा मे समाजस्थ प्राणियो के सभी करणीय और अकरणीय कर्म धर्म और अधर्म शब्दो से कहे जाने लगे। कार्यों की करणीयता और अकरणीयता विविध अपेक्षाओ पर आधारित थी। धर्म शब्द मे उन सवका समावेश वहुत ही भ्रामक हो गया। धर्म शब्द का मुख्य अर्थ आत्म-शुद्धि का साधन है, पर जब वह नीति, कर्तव्य और नाना सामाजिक नियमनो के अर्थ मे व्यवहृत होने लगा तो सामान्य लोगो मे वे सभी कर्म मोक्ष साधक धर्म के अन्तर्गत समझे जाने लगे। विद्वान् और विचारक उन शब्द-प्रयोगो मे भले ही स्वय न उलझे हो, परन्तु उनके विभिन्न अपेक्षाओ से किए गए वे धर्म शब्द के प्रयोग समाज की धर्म सम्बन्धी धारणाओ मे एक समस्या वन गए।

महात्मा गाधी के शब्द-प्रयोग

महात्मा गाधी के शब्द-प्रयोगो को देखे। वे कहते है—बन्दर जिस जगह उपद्रवरूप हो गए हैं, उस जगह उनको मारने मे जो हिंसा होती है, वह क्षम्य है। ऐसी हिंसा धर्म होती है।[2] एक अन्य प्रसग से वे कहते हैं—जब अकाल सामने हो। तब अहिंसा के नाम पर फसल को उजडने देना मे तो पाप ही समझता हू।[3] इसी प्रकार एक प्रसग मे वे लिखते हैं—मछली या मास खाने वाले को ये चीजे खाने देने मे जो हिंसा होती है, उसे मैं हिंसा नही मानता। मैं उसे अपना धर्म समझता हू।[4] इन्ही विषयो पर वे प्रसगान्तर मे दूसरी ही भाव-भाषा मे अपनी मान्यता प्रस्तुत करते हैं—बन्दर को मार भगाने मे मैं शुद्ध हिंसा ही देखता हू। यह भी स्पष्ट है कि उन्हे अगर मारना पडे तो उसमे अधिक हिंसा होगी। यह हिंसा तीनो कालो मे हिंसा ही गिनी जाएगी। उसमे बन्दर के हित का विचार नही है, किन्तु आश्रय के ही हित का विचार है।[5] किसान जो हिंसा करता है, वह हिंसा अनिवार्य होकर

---

१ कर्मयोग शास्त्र पृ० ५६-५७

२ हरिजन ता० २६-४-४६

३. हरिजन वन्धु ता० २६-५-४३

४. आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी पृ० २०

५. अहिंसा (गुजराती) पृ० ५०-५२

क्षम्य हो सकती है, परन्तु अहिंसा नही हो सकती।[1] प्लेग के चूहे और चीचड भी मेरे सहोदर हैं। जीने का जितना अधिकार मेरा है, उतना ही उनका है।[2] इन परस्पर विरोधी उल्लेखो से यह स्पष्ट हो जाता है, बन्दर आदि की हत्या मे धर्म कहते समय उनकी बुद्धि एक सामाजिक व राष्ट्रीय कर्तव्य की ओर रही है और उन्ही कार्यो को हिंसापरक तथा दोषपूर्ण बताते समय उनका चिन्तन प्राणीमात्र की समानता और आत्म-धर्म की यथार्थता पर रहा है।[3]

तिलक और धर्म का उभयात्मक स्वरूप

कर्मयोग के असाधारण विवेचक लोकमान्य श्री बालगगाधर तिलक के सामने धर्म शब्द का यह व्यापक प्रयोग कठिनाई होकर आया है। गीता-रहस्य के अनेको पृष्ठो मे धर्म के उभयात्मक रूप को उन्हे स्पष्ट करना पडा है। वे लिखते हैं—धर्म और उसका प्रतियोग अधर्म ये दोनो शब्द अपने व्यापक अर्थ के कारण कभी-कभी भ्रम उत्पन्न कर दिया करते है। नित्य व्यवहार मे धर्म शब्द का उपयोग पारलौकिक सुख का मार्ग इसी अर्थ मे किया जाता है। जब हम किसी से प्रश्न करते है कि तेरा कौन-सा धर्म है ? तब उससे पूछने का यही हेतु होता है कि तू अपने पारलौकिक कल्याण के लिए किस मार्ग—वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुहम्मदी या पारसी से चलता है और वह हमारे प्रश्न के अनुसार ही उत्तर देता है। इसी तरह स्वर्ग-प्राप्ति के लिए साधन-भूत यज्ञ-याग आदि वैदिक विषयो की मीमासा करते समय 'अथातो धर्मजिज्ञासा' आदि धर्म-सूत्रो मे भी धर्म शब्द का यही अर्थ लिया गया है, परन्तु धर्म शब्द का इतना ही सकुचित अर्थ नही है। इसके सिवा राजधर्म, पूजाधर्म, देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, मित्रधर्म इत्यादि सासारिक नीति-बन्धनो को भी धर्म कहते है। धर्म शब्द के इन दो अर्थो को यदि पृथक् करके दिखलाना हो तो पारलौकिक धर्म को मोक्ष धर्म अथवा सिर्फ मोक्ष और व्यवहारिक धर्म अथवा केवल नीति को केवल धर्म कहा करते है।[4] इसी प्रकरण मे वे आगे लिखते हैं—जो कर्म हमारे मोक्ष, हमारी आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल हो वही पुण्य है, वही धर्म है और वही शुद्ध कर्म है और जो कर्म उसके प्रतिकूल है वही पाप, अधर्म अथवा अशुभ है।[5]

---

१ अहिंसा (गुजराती) पृ० १३६

२. व्यापक धर्म भावना पृ० ९-१०

३ विशेष विवरण—आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी पृ० १७-२९

४ गीता रहस्य प्रकरण ३ पृ० ६७-६८

५. गीता रहस्य प्रकरण ३ पृ० ७०

मोक्ष-धर्म और समाज-धर्म की इतनी स्पष्ट धारणा होते हुए भी लोकमान्य तिलक ने विषय के उपसहार मे यही कहा है—"क्या सस्कृत और क्या भाषा सभी ग्रन्थो मे धर्म शब्द का प्रयोग उन सब नीति-नियमो के बारे मे किया है, जो समाज धारणा के लिए शिष्टजनो के द्वारा अध्यात्म-दृष्टि से बनाए गए है। इसलिए उसी शब्द का उपयोग हमने भी इस ग्रन्थ मे किया है।"[1]

मोक्ष-धर्म और व्यवहारिक धर्म विषयक अपनी धारणा को यदि लोकमान्य तिलक अपने सहस्र पृष्ठो के विशाल ग्रन्थ गीता-रहस्य मे आदि से अन्त तक उसी शब्द-भेद के साथ निभाते तो गीता-दर्शन एक नया ही रूप ले लेता। वह इस पहलू पर एक वैसी ही क्रान्ति होती, जैसी जैन-परम्परा मे आचार्य श्री भिक्षु ने की है। पर वर्तमान गीता-रहस्य तो लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म को मिलाकर चलने वाली प्राचीन परम्परा का ही पोषक ग्रन्थ बन गया है। शब्द-प्रयोग का प्रारम्भ मे किया जानेवाला मात्र स्पष्टीकरण सामान्य पाठको के साथ बहुत आगे तक नही चल पाता।

लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म की विभक्ति

आचार्य श्री भिक्षु लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म को मिला देने के नितान्त विरोधी थे। उनकी धारणा थी, दोनो धर्मों को एक ही मानकर चलने मे उद्देश्य-हानि के कारण दोनो ही अपना स्वरूप खो सकते है। एक वणिक् घृत और तम्बाकू इन दो चीजो का व्यापार करता था। एक दिन अपनी दुकान लडके को सम्भला-कर स्वय किसी दूसरे गाव को चला गया। लडका वस्तु-विवेक से रहित था। उसने सोचा, पिताजी दोनो वस्तुओ का भाव तो एक ही बतला कर गए है और इधर आधा बर्तन तम्बाकू से भरा है और इधर आधा घृत से। क्यो नही मैं दोनो को एक ही बर्तन मे डालकर एक बर्तन खाली करके ही रख दू? वैसे ही किया। कोई भी ग्राहक आता—घृत या तम्बाकू का तो वह उसे घृत-तम्बाकू-क्वाथ दिखलाता और कहता दोनो चीज एक ही भाव की है। ले जाइये। ग्राहक उसकी मूर्खता पर हसकर वापिस लौट जाते। सायकाल पिता दुकान पर आया। लडके की बुद्धिमानी देखी। हैरान रहा। बोला, ऐसा करके तो तू ने दोनो ही वस्तुओ का सत्यानाश कर दिया।[2] यही बात आचार्य भिक्षु मोक्ष-धर्म और समाज-धर्म को

---

१. गीता रहस्य प्रकरण ३ पृ० ७२

२. जिम कोइ घ्रत तंबाखू विणजै, पिण वासण विगत न पाडै रे।
घ्रत लेई तबाखू में घालै, ते दोनूई बसत विगाडै रे॥
—व्रताव्रत चौपई गीतिका ४ गाथा १

एक कर देने के विषय मे माना करते थे। उनका कथन था, अपने-अपने स्थान पर दोनो वस्तुए उपयोगी और मूल्यवान् है। पर दोनो का इस प्रकार का मेल दोनो के लिए ही घातक होता है। सर्वसाधारण को विविध उदाहरणो से उन्होने आधिभौतिक और आध्यात्मिक धर्मों का वोध दिया है। वे कहते है—कोई व्यक्ति अग्नि से जल रहा है या कुए मे गिर रहा है, उसे किसी ने बचाया, यह लौकिक उपकार है।[1]

किसी ने किसी व्यक्ति को वोध-दान कर पाप-मुक्त किया और वह पाप-मुक्त व्यक्ति भव-कूप मे गिरने से वचा और भव-दावाग्नि से जलते-जलते वचा, यह लोकोत्तर उपकार है और मोक्ष-मार्ग है।[2]

कोई किसी मरणासन्न रोगी को औषधादि उपचार से स्वस्थ कर मरने से बचा लेता है, यह सासारिक उपकार है।[3]

किसी व्यक्ति ने मरणासन्न व्यक्ति को चार शरण दिए, नानाविध त्याग कराए, सासारिक आसक्ति से मोह-मुक्त किया, यावत् आमरण अनशन (सथारा) करा दिया, यह उपकार मोक्ष सम्बन्धी है।[4]

किसी व्यक्ति ने किसी को तालाव मे डूबने से बचाया या ऊपर से गिरते हुए को बचाया, यह उपकार सासारिक है।[5]

---

१ कोइ द्रवे लाय सू वलतो राखै, द्रवे कूवो पड़ता नें झाल बचायो।
ओ तो उपगार कीयो इण भव रो, जो विवेक विकल त्याने खबर न कायो॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ८ गाथा २

२. घट में ग्यांन घाल नें पाप पचखावै, तिण पड़तो राख्यो भव कूआ माह्यो।
भावे लाय सू वलता नें काढ़ै रिषेश्वर, ते पिण गेहला भेद न पायो॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ८ गाथा ३

३. कोइ मरता जीव नें जीवा बचावै, झाड़ा झपटा करै ओषध देइ तांम।
वले अनेक उपाय करै नें तिणनै, मरतो राख्यो साजो कीयो तमाम॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा ८

४. कोइ मरता जीव नें सूस करावै, च्यारू सरणा देइ नें करावै सथारो।
ग्यांन ध्यान माहें परिणाम चढावै, न्यातीलां सू देवें मोह उतारो॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा ९

५ कोइ लाय सू बलता नें काढ बचायो, वले कूए पडता नें झाल बचायो।
तलाव माहे डूबा नें बारै काढै, वले उंचा थी पडतां नें झालै लीयो ताह्यो॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १२

किसी ने किसी व्यक्ति को ससार-समुद्र मे डूबने से वचाया या नरकादि निम्न गतियो मे पडने से वचाया, यह उपकार मोक्ष सम्वन्धी है।[1]

किसी के घर मे आग लगी है। छोटे-वडे सभी लपेट मे आ गए है। किसी ने आग वुझाकर उन सवको वचा लिया है, यह सासारिक उपकार है।[2]

किसी व्यक्ति के घट मे तृष्णा की होली जल रही है, उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुण उसमे जल रहे है। किसी ने धर्मोपदेश कर वह तृष्णा की आग वुझा दी, उसके हृदय मे शान्ति का मेघ वरसा दिया, यह उपकार आध्यात्मिक है।[3]

कोई व्यक्ति अपने पुत्र का लालन-पालन करता है, उसका विवाह करता है, उसके लिए भोगोपभोग की सभी सामग्री जुटाता है, यह उपकार सासारिक है।[4]

कोई व्यक्ति अपने पुत्र को प्रारम्भ से आध्यात्मिक प्रशिक्षण देता है, ससार की अनित्यता वताता है, विपय-सुखो को दु ख-मूल वताता है और त्याग-मार्ग पर अग्रसर कर देता है, यह उपकार आध्यात्मिक है।[5]

कोई व्यक्ति माता-पिता को कावड मे लिए चलता है, यथासमय उन्हे यथा-रुचि भोजन कराता है, यह सेवा सासारिक है।[6]

---

१. जनम मरण री लाय थी वारै काढै, भव कूआ माहि थी काढ़ वारे।
नरकादिक नीची गति माहे पडता नें राखै, ससार समुद्र थी वारै काढ उधारै॥
—अनुकम्पा चौपाई गीति ११ गाथा १३

२ किणरै लाय लागी घर वलै छै, तिणमें नान्हा मोटा जीव वलै लाय माहि।
कोइ लाय वुझाय त्यानै वारै काढै, घणारै साता कीधी लाय वुझाई॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १४

३. किणरे तिसणा लाय लागी घट भितर, ग्यानादिक गुण वलै तिण माय।
उपदेस देइ तिणरी लाय वुझावै, रूम रूम में साता दीधी वपराय॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १५

४. कोइ टावर पालै नें मोटा करै छै, आछी आछी वस्त तिणनें खवाय।
वले मोटे मडाण करै परणावै, वले धन माल देवै कमाय कमाय॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १६

५. कोई वेटा नें रूडी रीत समझाए, धन माल सगलोइ देवै छोडाय।
काम भोग अस्त्रीयादिक खावो नें पीवो, भली भाति सू त्याग करावै ताय॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १७

६. माता पिता री सेवा करै दिन रात, वले मनमान्या भोजन त्यानै खवावै।
वले कावड़ काधे लीयां फिरै त्यारी, वले वेहू टका रो सिनान करावै॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १८

कोई व्यक्ति वृद्धावस्था मे माता-पिता को धार्मिक स्वाध्याय कराता है, शब्दादि विषयो मे अरुचि उत्पन्न कराता है और ज्ञान, दर्शन आदि आत्म-गुणो मे लीन करता है, यह सेवा पारमार्थिक है।[1]

जगल मे राह भूले व्यक्ति को कोई राह बता देता है या उसे कन्धो पर विठाकर उसके घर पहुचा देता है, यह आधिभौतिक उपकार है।[2]

ससाररूप अटवी मे भटकते हुए मनुष्य को कोई ज्ञान-मार्ग बता देता है, उसका पाप-भार दूर कर देता है और उसे आनन्दपूर्वक मुक्ति पहुचा देता है, यह धार्मिक उपकार है।[3]

प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वित मार्ग

आचार्य भिक्षु की धर्म के विषय मे जिस प्रकार आधिभौतिक और आध्यात्मिक उभय स्वरूपात्मक व्याख्या रही इसी प्रकार दया, दान, सेवा आदि सभी व्यापक शब्दो को लौकिक और लोकोत्तर भेदो मे बाट देने की मीमासा रही। उन्होने मुनि-जीवन को निकेवल अध्यात्म साधक माना और गृही-जीवन को निवृत्ति और प्रवृत्ति का एक समन्वित मार्ग।

गृही-जीवन के उभयात्मक रूप को स्पष्ट करते हुए उन्होने एक बहुत ही सरल और भावबोधक उदाहरण दिया। किसी नगर मे एक धनवान् सेठ रहता था। उसके दो पत्निया थी। दोनो की ही सेठ के प्रति अत्यन्त आत्मीयता थी। दो पत्निया होकर भी सेठ का दाम्पतिक जीवन सुख-पूर्ण था। उन दोनो मे एक आध्यात्मिक दृष्टि को समझनेवाली थी और दूसरी इससे सर्वथा अनभिज्ञा थी। अकस्मात् सेठ का शरीरान्त हो गया। घर मे कोलाहल मचा। पारिवारिक लोग एकत्रित हुए। प्रथम स्त्री धर्म-मर्मज्ञा थी। उसने सोचा, यह ससार की नश्वरता है, इसे कोई टाल नही सकता। दिवगत आत्मा के प्रति मोह, आसक्ति और आर्त्त-

---

१ कोइ मात पिता नें रूडी रीते, भिन भिन कर नें धर्म सुणावै।
ग्यान दरसण चारित त्यांनें पमावै, कांम भोग शब्दादिक सर्व छोड़ावै॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १९

२ गृहस्थ भूलो उज्जड़ वन में, अटवी नें बले उजाड़ जावै।
तिणनें मारग बताय ने घरे पोहचावै, बले थाको हुवै तो कांधे बेसावै॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा २४

३ संसार रूपणी अटवी में भूला नें, ग्यांनादिक सुध मारग बतावै।
सावद भार नै अलगो मेलाए, सुखे सुखे सिवपुर में पोहचावै॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा २५

ध्यान करके मैं क्यो अपनी आत्मा को बन्धन मे डालू। मुझे अपनी राग-वृत्ति पर विजय पानी चाहिए। वह स्वाध्याय, ध्यान, जप आदि मे लीन हो गई। दूसरी स्त्री ने अपने अनुराग का और सासारिकता का मुक्त प्रदर्शन होने दिया। शर पीटना, छाती कूटना, हृदय द्रावक शब्दो मे विलापात करना आदि सब किए। आने वाले लोग परस्पर यही चर्चा करते घर से वापिस होते देखे गए—सही पति-भक्ता तो यही है। इसीको अपार कष्ट हुआ है। उसके तो मानो, वह कुछ लगता ही नही था। वह तो अपने स्वार्थ की पतिभक्ता थी। किसी एक तत्त्वज्ञ ने यह भी कहा, उसका विवेक, उसकी साधना बहुत ऊची है। उसने दर्शन और धर्म के अध्ययन से जीवन की नश्वरता का जो पाठ पढा है, उसे जीवन मे भी उतारा है। रोने-पीटनेवाली तो सहस्रो स्त्रिया मिलेंगी, इस प्रकार की मर्मविद् तो कोई विरली ही मिलती है। आचार्य भिक्षु कहते हैं, यह लोक-दृष्टि और लोकोत्तर दृष्टि का भेद है।[1]

धर्म के दो विभाग

सुप्रसिद्ध गान्धीवादी विचारक श्री हरिभाऊ उपाध्याय लिखते हैं—भारतीय प्राचीन ग्रन्थो मे धर्म के दो विभाग माने गए हैं—मोक्ष धर्म और व्यवहार या ससार-धर्म। पारलौकिक, आध्यात्मिक या ईश्वर सम्बन्धी विभाग को मोक्ष-धर्म और समाज-व्यवस्था, समाजोन्ननि सम्बन्धी सासारिक विभाग को ससार-धर्म कहा गया है।[2] इसी विषय को स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं—एक धर्म वह है, जो परम सत्य तक पहुचने का साधन है। जैसे—प्राणीमात्र के प्रति आत्म-भाव रखना, सबको अपने जैसा समझना, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय, आदि का पालन करना। एक धर्म है, कर्तव्य—जैसे माता-पिता की सेवा करना पुत्र का धर्म है। पडोसी की और दीन-दुखियो की सहायता करना या प्रतिज्ञा-पालन करना मनुष्य का धर्म है।[3]

जीवन का परम उद्देश्य सुख है। सुख को दो भागो मे विभक्त करते हुए वे कहते हैं—धन, वैभव, राज्य, पुत्र-सन्तति, कीर्ति, मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा आदि सुख शारीरिक, भौतिक, ऐहिक तथा मानसिक है।

मुक्ति, ईश्वर-प्राप्ति, शान्ति, सुख, आनन्द, ज्ञान आदि सुख पारमार्थिक या

---

१ भिक्षुजसरसायन गीति २२ व भिक्खु दृष्टान्त स० १३०

२ स्वतन्त्रता की ओर पृ० २८३

३. स्वतन्त्रता की ओर पृ० २८२

आध्यात्मिक हैं ।[1]

द्वेष और राग की परख

चिन्तन के क्षेत्र मे आचार्य भिक्षु की मान्यता जरा भी अपूर्व या अनघड नही है । अतीत और वर्तमान के अनेको विद्वानो एव विचारको ने उसी क्रम से सोचा, माना और लिखा है । आचार्य भिक्षु को इस यथार्थ और सर्वसम्मत जैसी मान्यता के निरूपण मे अनेको विरोध सहने पडे । इसका कारण लोगो का साम्प्रदायिक अभिनिवेश था । आचार्य भिक्षु की दृष्टि मे राग को समझने की क्षमता थी । उन्होने कहा—किसी व्यक्ति ने किसी एक बालक के शर मे चपेटा मारा । देखनेवालो ने कहा—भले मानस ! यह क्या करते हो ? किसी एक व्यक्ति ने बालक के हाथ मे मोदक या मूला दे दिया । देखनेवालो ने टोका नही, प्रत्युत वे खुश हुए । इस प्रकार द्वेष को परखना बहुत सहज है, पर राग की यथार्थता को परख लेना कठिन है ।

गृहस्थ सब कुछ आध्यात्मिक ही करे और समाजोपयोगी या लौकिक कार्य करे ही नही, यह आचार्य भिक्षु का आग्रह नही था । उनका कथन था, वणिग् अपनी दुकान पर बैठकर नामे और जमा का हिसाब बराबर नही समझेगा और नही रखेगा तो उसकी दुकान नही चलेगी । जीवन भी एक व्यापार है । उसमे हरएक व्यक्ति के पास विवेक-चक्षु होना चाहिए कि वह लौकिक और लोकोत्तर के सतुलन व वैषम्य को समझकर अपने आपको सम्भालता रहे ।

एक सन्तुलित जीवन-दर्शन

तर्क और चिन्तन के राजपथ पर

महाशास्ता गौतम ने कहा—भिक्षुओ, मैं जो कुछ कहता हू, वह परम्परागत है इसलिए सच मत मानना, लौकिक न्याय है ऐसा मानकर सच मत मानना, सुन्दर लगता है ऐसा मानकर सच मत मानना, तुम्हारी श्रद्धा का पोषक है इसलिए सच मत मानना, हमारे शास्ता का कहा हुआ है यह मानकर सच मत मानना, किन्तु तुम्हारा हृदय और मस्तिष्क जिस बात को विवेकपूर्वक ग्रहण करते हो उसे ही सत्य मानना ।[2]

महाकवि कालिदास ने कहा—सब कुछ प्राचीन ही यथार्थ नही है । न सबकुछ नवीन ही यथार्थ है । विज्ञजन अपने परीक्षा-बल से यथार्थ को ग्रहण करते हैं ।

---

१. स्वतन्त्रता की ओर पृ० २६४ पर किए गए विवेचन से

२ अंगुत्तर निकाय—कालाम सुत्त

अज्ञजन ही केवल इतर विश्वासो के अनुयायी होते है।[1]

वर्तमान युग का एक स्वस्थ विचारक इस वात को और भी वलपूर्वक कहेगा—यथार्थता की अन्तिम कसौटी हमारा अपना विवेक ही हो सकता है।

विवेचन की परिपाटी

शास्त्रो ने अमुक विपय मे क्या कहा, दूसरे विचारक और विद्वान् इस विषय मे क्या कह रहे है, विवेचन की इस परिपाटी को मान्यता इसलिए दी जाती है कि वह हमारे नए चिन्तन की प्रेरक भूमिका वनती है। यदि ऐसा न होता तो एक पचवर्षीय वालक भी किसी विपय पर इतना ही प्रशस्त सोच लेता, जितना कि एक पारगत पण्डित। पर ऐसा इसलिए नही होता कि उस वालक के मस्तिष्क मे तत्सम्वन्धी अध्ययन की वह भूमिका नही है, जिस पर वह अपना नया चिन्तन अकुरित कर सके। वर्तमान पीढी यदि अतीत की पीढियो से कुछ भी नही लेती होती तो ज्ञान-विकास की दृष्टि से प्राक्तन और चिरन्तन पीढी मे ज्ञान-विकास की कोई तरतमता ही नही वनती। स्वतन्त्र और तर्क-प्रधान चिन्तन का अर्थ सिमिट कर केवल इतना ही रह जाता है—जिस विपय मे अव तक जितना सोचा जा चुका है, उसके साथ अपनी वुद्धि का नवीन मेल वह और विठा दे। आधुनिक विज्ञान भी इसी क्रम से विकसित होता रहा है। न्यूटन और गेलेलियो की ज्ञान-भूमि पर खडे होकर ही आईस्टीन ने अपनी वुद्धि-सयोजन से विश्वमान्य सापेक्षवाद को जन्म दिया है। यह ठीक है, स्वस्थ सिद्धान्त निकेवल वही है, जो विना किसी पर-आलम्वन के अपने वूते पर खडा रह सके, उतना ही सत्य यह है—दो विचार पारस्परिक सगति पाकर और अधिक प्रभावशाली वन जाते है। दीप वह है, जो अपनी वर्ती और तेल के सहारे पर जलता है और प्रकाश देता है। किसी विशेप हेतु मे यदि इधर-उधर विखरे दीपो को कोई सावधान व्यक्ति एक ही आलय विशेप मे सजोकर रख दे तो क्या वह आलय अधिकाधिक नही जगमगा उठेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे अव तक हम उन शास्त्राधार और व्यक्ति वैशिष्ट्य के दृष्टि-कोणो से शोध करते रहे हैं। अव हमे इसी विपय को निरपेक्ष चिन्तन की कसौटी पर कसना है।

जीवन : सराय का वसेरा

कुछ एक विचारक कहते हैं, जीवन को लौकिक और लोकोत्तर आदि भागो

---

१. पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्य नवमित्यवद्यम्।
सन्त. परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धि ॥

मे विभक्त करना उचित नही। जीवन के मूल मे नाना आपेक्षाए शाश्वत हैं ही। जीवनगत समीक्षा मे उन्हे भुलाया नही जा सकता। प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ की यह उक्ति यथार्थ है—यदिद स्वयमर्थाना रोचते तत्र के वयम्[1]—यदि सापेक्ष स्थिति स्वय पदार्थो को अभीष्ट है तो हम उन्हे निरपेक्ष स्थिति मे वताने वाले कौन ? भारतीय दर्शन की यह मुस्थिर मान्यता है—मनुष्य-जीवन एक सराय का बसेरा है। उसका परम लक्ष्य तो चौरासी लक्ष जीवयोनि के चक्र से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करना है। मजिल और सराय एक नही हो सकते। पथिक को दोनो की अपेक्षाए समझकर बरतना होगा। सराय मे ठहरा पथिक दिनो और पहरो की अवधि के लिए एकत्रित जन-समुदाय का एक अग होगा। वहा की व्यवस्था का वह पूर्ण पालक होगा। एकत्रित लोगो से भाईचारा निभाएगा। वहा की व्यवस्था को और अधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न करेगा। एक विवेकशील बटोही अपने इन कर्तव्यो से चुकेगा नही। साथ-साथ अपने आपको वहा वह इतना भी समर्पित नही कर देगा कि उसकी मजिल जहा-की-तहा धरी रह जाए। अपनी शक्ति और अपनी सम्पत्ति का सन्तुलित उपयोग वह अपने सराय के बसेरे को सुविधापूर्ण बनाने के लिए करेगा। शेष शक्ति व सम्पत्ति को मजिल तक पहुचने के लिए बचा रखेगा। पथिक का यह मान लेना भ्रम ही होगा कि मेरी अन्तिम मजिल यह सराय ही है, और मुझे यहा की सुख-सुविधा के लिए ही न्यौछावर हो जाना है।

नये जीवन-दर्शन का ज्वलन्त प्रश्न

युग बदला है। स्थितिया वदली हैं। मनुष्य के विश्वास वदले हैं। परिणाम-स्वरूप समाज व्यवस्था भी नई करवटे ले रही है। जीवन के नये मूल्य स्थापित किए जा रहे है। भारतवर्ष निकट भूत मे स्वतन्त्र हुआ है। जीवन की नूतन व्यवस्थाओ की ओर अग्रसर हो रहा है। भारतीय जनता के सामने नये जीवन-दर्शन की सृष्टि का ज्वलन्त प्रश्न है। ऐसे सामुदायिक और समताप्रधान समाज-दर्शन भी इस युग के आकर्षक वन रहे है, जिनमे साधन की हेयोपादेयता पर कोई विचार नही है। साध्य ही जहा केवल आखो से दिखनेवाला पार्थिव जगत है। आत्मा और चैतन्य दो विरोधी जडो के गुणात्मक परिवर्तन के परिणाम हैं।[2]

भारतीय मानस चेतन की शाश्वतता का विश्वास नही खो सकता। क्षितिज के उस ओर को भूलाकर न ही वह इस छोटे-से घेरे मे चेतन की अथ से इति मान सकता है। क्षण स्थायी वर्तमान के लिए अनन्त भविष्य को भुला देना, वह बराबर घाटे का सौदा समझेगा। साथ-साथ उस दूरवर्ती विश्व की चिन्ता मे इस प्रत्यक्ष

१. धर्मकीर्ति रचित प्रमाणवार्तिक २-२०९
२. विशेष विवेचन के लिए देखें—जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान

विश्व के लिए वह नितान्त निष्क्रिय और अपेक्षाशील होकर बैठे, यह भी विचारकता नही होगी। अध्यात्मपरायण जनता के लिए ऐसे जीवन-दर्शन की अपेक्षा है, जिसमे वर्तमान और भविष्य मे एक के लिए दूसरे का विघटन न हो। प्रत्युत दोनो पक्षो को आलोकित करनेवाला वह जीवन-दर्शन 'देहली दीपक' हो। वह जीवन-दर्शन सामुदायिक हो या विकेन्द्रित, उसका मूल आत्मवाद और अहिंसा पर तो टिका ही होगा।

समाज-धारण के आधार सूत्र

अहिंसा और धर्म श्रेयोभिगमन के हेतु है। हिंसा और अधर्म आत्मा के अधोगमन के हेतु हैं। इन दो पक्षो के बीच मे समाज-व्यवस्था का प्रश्न है। समाज की वर्तमान अपेक्षाओ को पूरा करने के लिए उसके स्वास्थ्य, भोग और शान्ति की अभिवृद्धि के लिए कुछ आचरण अहिंसा और धर्म के आध्यात्मिक क्षेत्र से अपनाये जाते हैं और कुछ आचरण हिंसा और अधर्म के अनाध्यात्मिक पक्ष से। उन समाज-सम्मत आचरणो को नीति कहा जाता है। समाज-शास्त्री उसे ही अपने समाज-शास्त्र का मेरुदण्ड मानकर चलते हैं। लोगो का पारस्परिक व्यवहार नैतिक हो, उनकी प्रवृत्तियो मे सकीर्ण स्वार्थ न हो, उनके विचारो मे विश्व-बन्धुत्व हो, वे सदाचारी हो, ये समाज व्यवस्था को शान्त और प्रसन्न बनाए रखने के वे सूत्र हैं जो आत्म-साधना के क्षेत्र से आए हैं और उन्हे आध्यात्मिक मान्यताओ के साथ सामाजिक मान्यताए भी मिली है। फसल उजड न जाए और लोगो को भूखो न मरना पडे, इसलिए टिड्डियो को मारा जाता है। जन-जीवन की रक्षा के लिए हिंस्र पशुओ और चोर-डाकू आदि असामाजिक तत्त्वो को दण्डित और पीडित किया जाता है, समय-समय पर उठने वाले आतक को दबाने के लिए आरक्षक गोली चलाते है, देश की सुरक्षा के लिए बडी-से-बडी सेना रखी जाती है, आवश्यकतावश वह सहस्रो मनुष्यो को मौत के घाट लघाती है, ये वे व्यवस्थाए है, जो हिंसा और अधर्म के अनाध्यात्मिक क्षेत्र से आती है और समाज मे मान्यताए प्राप्त कर एक नीति का रूप लेती हैं। हिंसा और अहिंसा के, धर्म और अधर्म के इस योग से एक समाज-व्यवस्था बनती है। समाज-व्यवस्था के इन हिंसापूर्ण व्यवहारो को चलाने मे व्यक्ति निष्काम और अनासक्त जितना भी रह सके, अच्छा है। पर इस निष्कामता और अनासक्ति से हिंसा मिटकर अहिंसा नही बन जाती, अधर्म मिटकर धर्म नही बन जाता। हिंसा मे सर्वभूत हित कभी नही निभ सकता। स्थावर या जगम जिन जीवो को मरना पड रहा है, उन्होने अपने प्राण समाज हित के लिए कब न्योछावर किए थे। भले ही व्यवहार-सचालको के मन मे व्यक्तिगत स्वार्थ

की बात न हो, परन्तु किसी एक प्राणी को मारकर दूसरे को सुख-सुविधा पहुचाने की बात प्रत्यक्ष स्वार्थपूर्ण ही है। अनासक्ति और निष्कामता का यथार्थ निर्वाह भी तथा प्रकार की हिंसाओ मे यथार्थ रूप से नही हो सकता। कुछ को मारकर कुछ के संरक्षण मे रागात्मक कामना और आसक्ति तो है ही।

यह प्रश्न तो उचित हो सकता है कि उक्त प्रकार की अनिवार्य हिंसाओ के बिना समाज का धारण कैसे हो सकता है ? शासन-मुक्त समाज की परिकल्पना भी विकसित हुई है, जिसमे समाज-धारणा की बहुत सारी हिंसाए विघटित हो जाती हैं। पर यह एक बहुत दूर की बात है। जन-जीवन के वर्तमान स्तर मे जो हिंसाए अपेक्षित है, समाज-शास्त्र की दृष्टि से उन्हे तो एक नीति का अग मानना ही पडता है। उस सामाजिक जीवन मे हिंसा और अहिंसा की तरह त्याग और भोग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, स्वार्थ और परमार्थ साथ-साथ चलते हैं। व्यक्ति अपने समाज और मोक्ष के उद्देश्य युग्म को साधता भी जाता है और एक के लिए दूसरे की स्वरूप-हानि भी नही करता। वह समाज मे रहकर भी स्वतन्त्र रूप से मोक्षा-राधना करता है, पर उससे सामाजिक सहजीवन मे कोई विक्षोभ या विघटन नही आने देता। सामाजिक मर्यादाओ का वह इसलिए पालन करेगा कि उसने अपने आपको समाज का एक अग माना है। वह हिंसा परक और अहिंसा परक सामा-जिक नियमनो का कर्तव्य-भाव से पालन करता ही रहेगा। कर्तव्य-भावना से वह सेवा, परोपकार, दान, करुणा आदि के लौकिक और लोकोत्तर स्वरूप को यथावत् समझना भी रहेगा और दोनो अपेक्षाओ से सम्बद्ध होने के कारण उन्हे करता भी रहेगा। धर्म और समाज का यही सम्बन्ध यौक्तिक और यथार्थ लगता है।

निर्हेतुक भय

कुछ लोगो को भय है, समाज-धारण सम्बन्धी प्रवृत्ति-प्रधान कार्यों को धर्म के अन्तर्गत न रखने से लोग सामाजिक अपेक्षाओ से विमुख हो जाएगे और समाज दिन प्रतिदिन विश्रृंखल और दु खमय बनता जाएगा। समाज सुखी बने या नही, यह एक पृथक् चिन्ता है और प्रवृत्ति जन्य कार्य अध्यात्म कोटि मे आते हैं या नही यह एक पृथक् प्रश्न है। असाधन को साधन मानकर चलना उचित नही। धर्म यदि समाज की समस्त अपेक्षाओ का पूरक साधन है ही नही तो उसे उस रूप मे जोड लेना यथार्थ भी नही और श्रेयस्कर भी नही। आख की दवा आख मे और जीभ की दवा

जीभ पर ही यथार्थ होती है।[1] लोग समाजोपयोगी कार्यों मे विमुख हो जाएगे, यह आगका भी सगत नही है। जिन देशो मे धर्म समाज-व्यवस्था का या परलोक-सिद्धि का अग माना ही नही गया है, उन देशो मे भी लोग कर्तव्य-भावना से समाज हित के सभी कार्य करते है और वर्तमान भारतीयो से कही अधिक निष्ठा के साथ।

सामाजिक परिणाम भी असुन्दर

सामाजिक अभिसिद्धियों के लिए भारतवर्ष मे धर्म का उपयोग होता रहा है। निष्कर्ष रूप मे इनके लौकिक परिणाम भी सुन्दर नही रहे है। हिन्दू धर्म मे जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के समस्त क्रिया-काडो को धर्म का अग बना दिया गया। आज उसका परिणाम यह है कि नाना रूढिया, नाना अन्धविश्वास और नाना असामाजिक प्रथाए भी धर्म के नाम पर पल रही है। देश, काल के अनुसार लोग अपने जीवन-क्रम मे थोडा भी परिवर्तन लाने के लिए उत्सुक नही देखे जाते।

मानव जीवन व्यष्टिपरक से समष्टिपरक बना। परिवार, ग्राम, समाज और देश बने। अनाथ, अगहीन व अकर्मण्य लोगो की सख्या बढी। हल निकाला गया—दान करो, गरीबो पर दया करो। परोपकार ही अष्टादश पुराणो का सार है। यही सर्वोत्तम पुण्य कर्म है।[2] समाज मे भीखमगी बढी, अकर्मण्यता बढी और उदरपूर्ति के ढोग बढे। स्थिति यहा तक पहुच गई, तथारूप प्रत्येक राष्ट्र के लिए भीख-मगी एक ज्वलन्त समस्या बन गई। नाना नियमनो के निर्धारण मे भी उसका नियमन दुष्कर हो रहा है।

करुणा और सेवा

करुणा का पूरक सेवा शब्द समाज मे आया। उपकारक को अपना अह सम-झने का अवसर मिला। सेवा भावी सस्थाए बनी। जीवन-दानी समाज-सेवक बने। वे जनता की शिक्षा, स्वास्थ्य आदि से सम्बन्धित अनिवार्य अपेक्षाओ के जुटाने मे लगे। महात्मा ईसा ने कहा था, सूई की नोक से ऊट निकल सकता है, पर धन-

---

१. जीभ री ओषद आख्या में घाल्यो, आख्या री ओषद जीभ में घाल्यो रे।
तिण री आखई फूटी नें जीभई फाटी, दोनूंइ इन्द्री खोय चाल्यो रे॥
—व्रतावत चौपई ग.ति ४० गाथा ४

२. अष्टादश पुराणाना, सार सार समुद्धृतम्।
परोपकार पुण्याय, पापाय परपीड़नम्॥

वान् को स्वर्ग नही मिल सकता। यहा दान, करुणा और सेवा के आवरण मे धनिको को तीनो मगल मिले। आदि मगल—समाज मे प्रतिष्ठा, मध्य मगल—सग्रह और शोषण की अवधि का विस्तार हो जाना, अन्त मगल—स्वर्ग मे भी ऊचा स्थान प्राप्त कर लेना।

सेवा और दान की अपेक्षा नहीं

दया, दान आदि के विचार सामाजिक अपेक्षाओ पर खडे थे, पर आज के परिवर्तनशील युग मे वे अपेक्षाए बदल चुकी है। पिछले युग ने दानियो को उच्चता की अनुभूति से ऊपर उठने का विवेक दिया। दया, दान और परोपकार के बदले जन-जन का सेवक होकर रहने की बात कही। वर्तमान युग ने मनुष्य को वह बोध दिया है, जिससे वह किसी के द्वारा सेवा लेकर उपकृत होने की बात से हीनता की अनुभूति करने लना है। समानता व स्वतन्त्रता को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानने लगाहै। वह अपने जीवनयापन के लिए सेवा कराना और दान नही चाहता। वह अपने सामाजिक अधिकार की भूमि पर ही अपने जीवन की गाडी को खीचना चाहता है। जन-मानस की उद्दीप्त प्रेरणा ने सारा समाज-शास्त्र बदल डाला है।"कुछ आदमी सोचते हैं कि हमे अपने काम से इतनी अधिक आय होनी चाहिए कि हम दान-धर्म, तीर्थ यात्रा आदि अच्छी तरह कर सकें। समय-समय पर ब्राह्मण भोज व जातीय भोज कराकर उसका पुण्य ले सके। यह समझ ठीक नही। अनुचित कार्य कर धन कमाना और उस धन से कुछ पुण्य प्राप्त करने की कोशिश करना वैसा ही है, जैसा कीचड मे पाव रखकर पीछे उसे धोने की कोशिश करना। सात्विक ईमानदारी या मेहनत का काम करने वालो को दान-पुण्य आदि की चिन्ता मे नही पडना चाहिए। उनका काम ही यज्ञ रूप है।"[1]

महात्मा गाधी कहते हैं—बिना प्रामाणिक परिश्रम के किसी भी चगे मनुष्य को खाना देना मेरी अहिंसा बर्दास्त नही कर सकती। अगर मेरा वश चले तो जहा मुफ्त खाना दिया जाता है, ऐसा प्रत्येक सदाव्रत या अन्न-छत्र बन्द करा दू।[2]

आचार्य विनोबा भावे कहते हैं—दुनिया मे बिना शारीरिक श्रम के भिक्षा मागने का अधिकार केवल सच्चे सन्यासी को है। सच्चे सन्यासी को जो ईश्वर भक्ति के रग मे रगा हुआ है—ऐसे सन्यासी को ही यह अधिकार है। क्योकि ऊपर मे देखने से यह भले ही मालूम पडता हो कि यह कुछ नही करता, पर अनेकों दूसरी बातो से वह समाज की सेवा करता है। ऐसे सन्यासी को छोडकर किसी

१ सर्वोदय दैनिक जीवन में पृ० ४०
२ सर्वोदय दिसम्बर ३८, गान्धीवाणी पृ० १५३

को अकर्मण्य रहने का अधिकार नही है।[1]

आधुनिक समाज-शास्त्र में

आधुनिक समाज-शास्त्र मानता है—समाज-सेवा का अर्थ अजानतान्त्रिक समाज-व्यवस्था मे मान्यता प्राप्त दान-पुण्य नही है। दान-प्रवृत्ति का आविर्भाव दया की भावना पर आधारित होता है और दया सर्वदा दु खित और पीडित की सहानुभूति मे पैदा होती है। जब मानव-वेदनाए नष्ट हो जाएगी, तब दया और दान के लिए कोई अवसर ही नही रहेगा। किन्तु ऐसा हो जाना अजानतान्त्रिक समाज-व्यवस्थाओ मे कभी सम्भव नही है। प्राचीन समाज-व्यवस्था मे जाति और वर्ग के भेद मूलभूत है। वहा निम्न वर्ग होना ही है और वही दया और दान का भाव जागृत करता है। उस समाज-व्यवस्था मे दान एक अनिवार्य गुण हो जाता है और वह मनुष्य के दु खो पर पलता हुआ बना ही रहना चाहता है। रामायण की एक घटना वस्तु-स्थिति पर बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाल देती है। "राम लका-विजय कर सीता को लेकर जब अयोध्या आए, तब एक विशेष समारोह आयोजित किया गया। राम ने एक-एक करके सभी वीरो को बुलाया और उन्हे यथोचित रूप से सत्कृत किया। आश्चर्य की बात यह रही कि राम ने सर्वोत्कृष्ट भक्त हनुमान को अपने सम्मुख नही बुलाया किसी सभासद के याद दिलाने पर राम मुस्कराये और हनुमान को बुलाया। सभी सभासदो की आखे राम और हनुमान पर टिक गई। राम ने कहा—बोलो, क्या चाहते हो ? हनुमान बोले, बस यही कि सदा की भाति आपकी सेवा करता रहू। राम बोले—हे हरि! जो कुछ भी तूने मेरे लिए किया है, वह मेरे साथ ही समूल नष्ट हो जाने दे। जो व्यक्ति दूसरे का भला करना चाहता है, वह उसका दु ख चाहता है।

दान-पुण्य और जनतन्त्र व्यवस्था

"दान-पुण्य जनतन्त्र-व्यवस्था के प्रतिकूल है, क्योकि वह दया पर आधारित है। दया के भाव तभी जागृत होते हैं, जबकि दूसरो को अपने से हीन या निम्न समझा जाता है। जनतन्त्र मे कोई ऊचा या नीचा नही होता। प्राचीन अजानतान्त्रिक समाज व्यवस्थाओ मे सम्पन्न लोगो को दरिद्र लोगो पर दया करना और अपनी कमाई मे से थोडा-सा भाग उनके लिए रख लेना, सिखलाया जाता है, जबकि दयापात्र दरिद्र लोगो को दूसरे जन्म मे सुखपूर्ण जीवन का आश्वासन दिया जाता है। 'आशीर्वाद प्राप्त वे हैं, जो कि यहा शोकग्रस्त हैं, क्योकि वे अग्रिम जन्म मे

---

१. विनोबा भावे के विचार पृ० १२०

लाभान्वित किए जाने वाले है।' 'यहा जो अन्तिम है, वह अगले जन्म मे प्रथम होगा और यहा जो प्रथम है, वह वहा अन्तिम होगा।' प्राचीन समाज-व्यवस्था जो कि समता और स्वतन्त्रता से रहित है, उसकी नीति और दर्शन के अनुसार जो उपदेश दिया जाता है वह कोई समाज-सेवा नही है। जनतन्त्र मे प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक मूल्याकन मे एक दूसरे के समान है, इसलिए कल्याण का अर्थ है—सभी का समान मात्रा मे कल्याण। गलियो का स्वच्छ रहना स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक है तो सभी गलियो को स्वच्छ रखना होगा, न कि केवल उन गलियो को जिनमे नगरपालिका के सदस्य रहते हैं। यदि चिकित्सा निशुल्क है तो वह सभी के लिए निशुल्क है।

"इस भावना को चरितार्थ करने के लिए विशेष सस्थानो की अपेक्षा है। दुनिया के कुछ विशेष भागो मे तत्सम्बन्धी कुछ विशेष प्रयोग हुए हैं—स्वास्थ्य प्रवृत्तिया इस प्रकार से चलाई गई है, जिनमे रोगी के प्रति दया, आभार या वैषम्य नही वरता जाता है।

दान और मनुष्य का स्वाभिमान

"दान एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो मनुष्य के स्वाभिमान को नीचा करती है। वह पराश्रितो की सख्या वढाती है। हम देखते है—रास्तो पर भिखारी, अपाग, रोगी सहायता के लिए चिल्लाते है। उनमे से अधिकाश ऐसे लोग है, जो ढोग रचकर दान प्राप्त करने मे निष्णात हो चुके है। ऐसी स्थितिया उस समाज मे वनती हैं, जिसमे दान को पुण्य माना जाता है और परिणामस्वरूप पराश्रितता को वढावा दिया जाता है। मान लिया जाए—हमारे समाज मे हरेक व्यक्ति को जीवन-निर्वाह के लिए कमाना होता है, पराश्रितता मान्य नही है। समाज के सामूहिक प्रयत्न से प्रत्येक व्यक्ति को कार्य और आजीविका मिल जाती है, तो वहा दान का क्या स्थान होगा ? यह क्यो आवश्यक है, एक व्यक्ति दूसरे के पास दानार्थी हो ? इससे तो असमानता पनपती है, जो कि जनतन्त्र को स्वीकार नही है।

समाज-कल्याण का अर्थ

"दान कष्टो का नाश नही करता। वह दु खी को एक क्षणिक सन्तोष देता है। जनतान्त्रिक समाज के निर्माण मे हमे सामूहिक प्रयत्नो द्वारा कष्टो का समूल अन्त करना है, क्योकि यहा सवका सुख अभीष्ट है।' इसलिए सवका प्रयत्न भी अपेक्षित है। सव लोगो के सुख-निर्माण मे सव लोगो ने भाग लिया, अत कोई किसी का अहसानमन्द नही है। इस प्रकार मानव का व्यक्तित्व सुरक्षित है।

मनुष्य का स्वाभिमान उस समाज मे सुरक्षित नही रह सकता, जिस समाज मे दान (Charity) अनुकम्पा (Compassion) और दया (Kindness) का ऊचा मूल्य माना गया है। मनुष्य का स्वाभिमान केवल उस समाज मे सुरक्षित रह सकता है, जहा मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति सामूहिक और सहयोगिक प्रयत्नो द्वारा ही होती है। सहयोग ही ऐसे समाज का आधार है और उस जन-तन्त्र मे यही सर्वोत्कृष्ट गुण है।

इस प्रकार जनतन्त्र मे समाज-कल्याण का अर्थ होता है—विना किसी आभार, दया, अनुकम्पा और ऐसे किसी शास्त्रोक्त पुण्य के सामुदायिक प्रयत्नो द्वारा सामुदायिक कल्याण।[1]

समाजोपयोगिता और अध्यात्म

दान, दया और सेवा आदि समाजोपयोगी है, केवल इसीलिए इन्हे धर्म और अध्यात्म की कोटि मे ले लेना लोक-वचना है। करुणा प्रधान होने से ये समस्त व्यवहार आध्यात्मिक है, इसलिए इन्हे समाज मे अधिक-से-अधिक फैलाया जाए, यह दृष्टि भी सदोष है। वर्तमान समाज-व्यवस्था एक वर्ग को दूसरे वर्ग के लिए व एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के लिए आभारी और अधीन बनाकर नही छोड देना चाहती। हीनता और उच्चता के पोषक समस्त व्यवहारो को वह समूल मिटा देना चाहती है। अध्यात्म का स्वरूप व्यापक है। सामाजिक लोगो को उसका पाठ देने मे यह अवश्य देखना होता है, अमुक पहलू आध्यात्मिक होते हुए भी नितान्त समाज-विरोधी तो नही है। पिता के प्रति पुत्र का मोह और पुत्र के प्रति पिता का मोह अनाध्यात्मिक तो है ही, पर पुत्र-पालन व पितृ-सेवा मत करो, यह उप-देश तो किसी धर्म या सम्प्रदाय ने जोरो से नही उठाया है, इसीलिए न कि उक्त व्यवहार वर्तमान परिवार-व्यवस्था के मेरुदण्ड है। सुदूर भविष्य मे यदि समाज किसी ऐसी व्यवस्था को अपना ले, जिसमे पारिवारिकता अपेक्षित न हो तो अध्यात्मवादियो के लिए भी दृढतापूर्वक यह कहने का समुचित अवसर बन जाएगा कि पितृ-राग और सन्तति-राग मिटा ही देना चाहिए।

धर्मोपदेशको की जागरूकता

धर्म यद्यपि व्यक्ति को समस्त राग-बन्धनो से मुक्त कर मोक्ष तक पहुचा देना चाहता है, पर मेघ शील धर्म-प्रवर्तक और धर्मोपदेशक समाज और मोक्ष के सम्बन्धो मे सदा जागरूक रहे है। भगवान महावीर ने धर्म का आगार-धर्म और अनगार-

1 The Psychological Foundations of the State p 19

धर्म, इन दो भागो मे उपदेश किया है। अनगार-धर्म अध्यात्म साधना की पराकाष्ठा का जीवन है। वह साधना मुख्यत व्यक्तिगत है। कुछ ही व्यक्ति समाज से पृथक् रहकर अपने ध्येय मे लीन होते हैं। उनकी माधुकरी जीवन-चर्या समाज मे कोई असन्तुलन या विक्षोभ पैदा नही करती। भगवान् महावीर ने तो इस व्यक्तिगत साधना को सामाजिक रूप दिया। साधु अरण्यवासी होकर सर्वथा समाज निरपेक्ष नही होते। वे समाज के वीच मे रहकर अपने आचरणो व उपदेशो से समाज को लाभान्वित करते हैं। समाज से वहुत अल्प लेते है और उसे वहुत अधिक देते हैं। आगार-धर्म गृहस्थो का है। उनका द्वादश व्रत रूप धर्म जितना आध्यात्मिक है, उतना समाजोपयोगी भी। इस प्रकार धर्म समाज से पृथक् होकर भी उसकी सद्व्यवस्था मे एक आधारभूत नीति का रूप ले लेता है। नीति के रूप मे मान्यता प्राप्त हिंसाए क्रमश मिटती जाए और अहिंसा अधिकाधिक विकास पाती रहे, यही समाज और धर्म के सन्तुलित जीवन-दर्शन का एक स्वरूप है।

रक्षा और उसका विवेक

रक्षा शब्द अधिकांशतः प्राण-रक्षा के अर्थ मे प्रचलित हो चला है। जीवन और मरण ससारी आत्मा के सहज स्वभाव है। जीर्ण वस्त्रो का परित्याग कर मनुष्य नवीन वस्त्र धारण करता है, आत्मा उसी प्रकार जीर्ण शरीर को छोडकर नवीन गति मे नवीन शरीर धारण करती है।[1] भारतीय दर्शन मे जीवन और मरण का यह लेखा-जोखा है। आत्मा अविनाशी है। उसी के ऊर्ध्व सचरण की चिन्ता यहा प्रमुख है। कसाई वकरे को मारने जा रहा है। दर्शक के हृदय मे वकरे के प्रति करुणा उत्पन्न होती है। वह करुणाराधक दर्शक आततायी को मार-पीटकर या प्रलोभन आदि देकर वकरे को छुडाता है और समझता है, मैंने अपनी करुणा का निर्वाह किया है। तत्त्व-दृष्टि मे वह यथार्थ करुणा या अनुकम्पा नही है, मार-पीट, वलात्कार है। आचार्य भिक्षु के शब्दो मे—एक को चपेटा मारना और एक को पुचकारना स्पष्ट रूप से राग और द्वेष हैं।[2] धनादि देकर वकरे को वचाना अध्यात्म तो क्या लौकिक न्याय भी नही है। कसाई का हृदय तो वदलता नही, प्रत्युत वह

---

१. वासासि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ॥
—गीता अध्याय २ श्लोक २२

२. एकण रे देरे चपेटी, एकण रो दे उपद्रव मेटी।
ए तो राग द्वेष नो चालो, दशवैकालिक संभालो ॥
—अनुकम्पा चौपई गीति २ गाथा १७

एक के बदले दो बकरो को खरीदने और मारने का सरञ्जाम हो जाता है।

दया का आध्यात्मिक और लौकिक स्वरूप

दया के आध्यात्मिक स्वरूप को समझना तो कठिन है ही, सर्वसाधारण के लिए उसके लौकिक स्वरूप को समझ लेना भी सहज नही है। महात्मा गाधी कहा करते थे—बहुत-से लोग चींटियो को आटा डालकर सन्तोष मानते है। ऐसा मालूम होता है, मानो आजकल की जीव-दया मे जान ही नही रही। धर्म के नाम पर अधर्म चल रहा है, पाखण्ड फैल रहा है।[1]

प्राण-रक्षा के सम्बन्ध मे महात्मा गाधी ने साधन-शुद्धि पर बहुत बल दिया है। वे कहते हैं—यह तो कही नही लिखा कि अहिंसावादी किसी आदमी को मार डाले। उसका रास्ता तो सीधा है। एक को बचाने के लिए वह दूसरे की हत्या नही कर सकता। उसका पुरुषार्थ और कर्तव्य तो केवल विनम्रता के साथ समझाने-बुझाने मे है।[2]

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की पीठ मे छुरा भोक रहा है, ऐसे प्रसग पर महात्मा गाधी कहते हैं, "तो क्या हमे भी अपराधी की पीठ मे छुरा निकालकर भोक देना चाहिए ? मैं समझता हू यह रास्ता भी गलत होगा। हमारे लिए एकमात्र ठीक रास्ता यही होगा कि दुष्टता करने वाले से कहे कि वह निर्दोष रक्त से हाथ न रगे और यदि ऐसा करते समय हम स्वय उसके कोप-भाजन बन जाए तो हमे उसका स्वागत करना चाहिए।"[3]

साध्य और साधन का विचार

यहा साधन का विचार है, पर जिस व्यक्ति को बचाया जा रहा है, उस साध्य का नही। आचार्य भिक्षु के मन्तव्यानुसार उस प्राण-रक्षा को परम विशुद्ध और आध्यात्मिक रखने के लिए रक्षणीय पात्र का भी विवेक परम अपेक्षित होता है। जिसे हम बचा रहे हैं, वह सयति है या असयति, व्रती है या अव्रती, त्यागी है या भोगी इन तथ्यो के आधार से ही की गई प्राण-रक्षा की लौकिकता और लोकोत्तरता आकी जा सकती है। दान देते समय दाता और देय वस्तु की विशुद्धता भी जिस प्रकार अपेक्षित है उसी प्रकार पात्र की विशुद्धता भी। प्राण-रक्षा के सम्बन्ध मे रक्षक की अभिप्राय-शुद्धता व साधन की अहिंसात्मकता जिस प्रकार अपेक्षित है, उसी

१. हरिजन बन्धु ता० २९-५-४३
२. हिन्द स्वराज्य पृ० ७९
३. हिन्दुस्तान दैनिक

प्रकार रक्षित पात्र की सयमशीलता भी। गृहस्थ का शरीर अधिकरण अर्थात् जगम, स्थावर प्राणियो के विनाश का शस्त्र है।[1] उसका सरक्षण या पोषण अध्यात्म-गत कैसे हो सकता है ? गृहस्थ के जीवन मे त्याग की अनिवार्यता नही, भोग तो अवश्यम्भावी है ही। असयत प्राणी के सरक्षण मे योग देना असयम मे ही योग देना है।

महात्मा गाधी कहते है—जो मनुष्य बन्दूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है, दोनो मे अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद नही दिखाई पडता। जो आदमी डाकुओ की टोली मे उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता है, तब उसकी चौकीदारी करने, जब वह घायल हो तो उसकी सेवा करने का काम करता है, वह उस डकैती के लिए उतना ही जिम्मेदार है जितना कि खुद वह डाकू। इस दृष्टि से जो मनुष्य युद्ध मे घायलो की सेवा करता है, वह युद्ध के दोषो से मुक्त नही रह सकता।[2] महात्मा गाधी का यह चिन्तन एक स्थूल घटना पर अभिव्यक्त हुआ है, इसलिए सहजतया बुद्धिगम्य होता है। आचार्य भिक्षु का मन्तव्य जीवन-व्यवहार की सूक्ष्मता मे प्रकट हुआ है, अत सर्वसाधारण के लिए सहजगम्य नही होता। परन्तु असयमी पुरुष के जीने मे योगभूत होना और किसी डाकू या सैनिक के कार्य मे योगभूत होना चिन्तन की एक ही दिशा के उदाहरण है।

दो मर्यादाएं

साधारण दृष्टि मे यह अवश्य आता है, आचार्य भिक्षु की करुणाधारा मानो चलते-चलते रुक ही गई हो। उसके व्यापक प्रसार के लिए कोई विस्तृत अवकाश नही रह गया है। प्राण-रक्षा अहिंसात्मक साधनो से हो, सयति पुरुष की हो, ये दो ऐसी सकीर्ण मर्यादाए हैं, जिनके बीच से इने-गिने लोग ही गुजर सकते है। परन्तु आचार्य भिक्षु की दया और अनुकम्पा अपनी परम विशुद्धि के साथ ही सहसा एक

---

१. सूत्र भगवती नें विषै, सप्तम सतके भेव।
प्रथम उद्देशा नें विषै, दाख्यो श्री जिनदेव॥
सामायक मांहें कही, श्रावक नी सपेख।
आतम ते अधिकरण इम, प्रगट पाठ में लेख॥
शस्त्र जे षट्काय नो, अधिकरण कहिवाय।
तसु तीखो कीधा छता, धर्म पुण्य किम थाय॥

—प्रश्नोत्तर तत्त्व बोध अ० २६, दुहा ६७-६९

२ गांधीजी, खण्ड दश, अहिंसा प्रथम भाग पृ० ४

ऐसा मार्ग पकड लेती है, जो पूर्ण यौक्तिक, पूर्ण यथार्थ और सर्वाधिक व्यापक है। उनका मन्तव्य है—एक आदमी चोरी कर रहा है, बलात्कार कर रहा है या अन्य कोई दुराचरण कर रहा है, सही करुणा तो उस व्यक्ति की पतनोन्मुखता के प्रति होनी चाहिए। उसकी दुर्वृत्ति से आक्रान्त होने वाला व्यक्ति तो सहजतया ही बच जाता है, जबकि हम उस दुराचारी की आत्मा को उस आत्म-हनन से बचा लेते है। कसाई बकरे को मारता है। बकरे का प्राण-घात होता है, पर आत्म-पतन नही। वह यहा से मरकर और किसी श्रेष्ठ योनि को भी प्राप्त कर सकता है। पर वधिक का अधोगमन तो निश्चित है ही। इस स्थिति मे हमारा प्रथम करुणा-पात्र तो वधक ही होना चाहिए। वधक को पापाचरण से बचा लेने मे वध्य का बच जाना तो सहज है ही। इस करुणा मे वध्य का हित विघटित नही होता और वधक की करुणा हो जाती है। जन-सस्कार सर्वथा इसके विपरीत चल रहा है। 'बचाओ और रक्षा करो' का ही उद्घोष सर्वोपरि हो रहा है। वधक की करुणा से 'मत मारो' का उद्घोप प्रस्फुटित होता है। 'बचाओ' की अपेक्षा 'मत मारो' की बात अधिक यौक्तिक और व्यापक है। 'बचाओ' को ध्येय मानने मे, 'मारते रहो' का भी परोक्ष रूप से स्वीकार होता है। इससे प्राणी-वध परम्परा मिटती नही। समाज मे दो वर्ग हो जाते है, एक मारनेवाला, दूसरा बचानेवाला। 'मत मारो' के उद्घोष को व्यापक करने मे समस्या का अन्त निकट होता है।

तीन दृष्टान्त

अहिंसा और धर्म व्यक्ति को पापाचारण से बचाने मे सफल होते है। आचार्य श्री भिक्षु के तीन दृष्टान्त इस विषय मे बहुत यथार्थ है।[1]

१ एक दुकान के एक भाग मे साधुजन ठहरे हुए थे। रात्रि के निस्तब्ध अन्धकार मे चोर आए। धनवान् की तिजोरियो पर छापा मारा। चुपचाप धन निकालकर चलने लगे। साधुओ की नीद टूटी। देखा, चोर धन लिए जा रहे हैं। साधु दरवाजे पर आ खडे हुए। चोर भी सकपकाए, पर देखा सन्त पुरुष है, इनसे हमे कष्ट नही होना है। साधुओ ने उपदेश देना प्रारम्भ किया। उनकी वाणी और व्यक्तित्व से प्रभावित चोर बिना कुछ आगा-पीछा सोचे उपदेश श्रवण मे लीन हो गए। समय की बात थी। तीर खाली नही गया। धन की नश्वरता, पर-पीडन के दु खावह परिणामो को सुनकर वे चोर सज्जन हो गए। भविष्य मे कभी चौर्य कर्म करने का व्रत ले लिया। सवेरा होते-होते धनवान् अपनी दुकान पर पहुचा। सारा हाल देखकर अवाक् रह गया। चोरो ने कहा—सेठजी, डरने की

१. अनुकम्पा गीति ५ गाथा १-१०

बात नही है। साधुजी ने हमे और आपको, दोनो को बचा लिया है, आपकी धन-क्षति बची है और हमारा आत्म-पतन बचा है। सेठ साधुजनो के चरणो मे गिर पडा और अपनी हार्दिक कृतज्ञताएं व्यक्त करने लगा।

यहा साधुओ की प्रवृत्ति से दो परिणाम निष्पन्न हुए है--चोरो की आत्मा पापाचरण से बची है और सेठ का धन चोरी होने से बचा है। धर्म क्या है, पहला परिणाम या दूसरा ?

२ एक कसाई कुछ बकरो को साथ लिए कसाईखाने की ओर जा रहा था। सयोगवश साधुओ से साक्षात्कार हो गया। साधुओ ने उपदेश दिया—तुम्हारा प्राण-वियोजन तुम्हे जैसा लगता है, इन बकरो को भी अपना प्राण-वियोजन वैसा ही लगता है। क्यो इस तुच्छ जीवन के लिए निरपराध प्राणियो की हत्या से अपने हाथ रगते हो। और भी तो अनेको आजीविकाए हुआ करती हैं। कसाई को बात लग गई। जीवन-भर के लिए तथारूप निर्मम हत्या का प्रत्याख्यान कर लिया।

यहा भी कसाई की आत्मा पापाचरण से बची और बकरे अपने प्राण-वियोजन से।

साधारणतया लोग कहेगे, चोरो और कसाई की आत्मा बची, वह भी धर्म और धन और बकरे सुरक्षित रहे यह भी धर्म। इस लोकमत को अयथार्थ प्रमाणित करने के लिए तीसरा उदाहरण दिया गया है।

३ राजमार्ग पर अवस्थित किसी एक दुकान पर साधु ठहरे थे। रात्रि के सन्नाटे मे कुछ लोग उन्मत्त गति से चले जा रहे थे। साधुओ ने समझ लिया, वेश्यागामी लोग हैं। अकस्मात् उनकी दृष्टि भी उन पर पडी। सबने प्रणाम किया। साधुओ ने अवसर पाकर वार्तालाप प्रारम्भ कर दिया। बात वही निकली जो साधुओ की कल्पना मे थी। धर्मोपदेश लगा। सबकी आखे खुल गई। अपने प्रति ग्लानि हुई। सदा के लिए व्यभिचार का परित्याग कर लिया। प्रतीक्षा मे बैठी हुई वेश्या ऊब गई। वह उनके रास्ते पर चल पडी। जहा सब लोग थे, वहा पहुच गई। उसके प्रेमी प्रणबद्ध हो चुके थे। उसे अत्यन्त निराशा हुई। साधुओ पर और अपने प्रेमियो पर झल्लाती हुई पास के एक कुए मे जा गिरी।

यहा भी साधुओ के उपक्रम से दो फलित निकले। विषयी लोगो की आत्मा उन्नत हुई और प्रेमिका कुए मे जा गिरी। धन का बच जाना और बकरे का बच जाना यदि धर्म है तो प्रेमिका का मर जाना क्या साधुओ के लिए पाप-बन्ध का हेतु होगा ? साराश, चोर कसाई और व्यभिचारी लोगो का आत्म-उत्थान धर्म है। शेष परिणाम उपदेश प्रवृत्ति के अवान्तर फलित रूप हैं। उनसे उपदेशक पुण्यभाक् या पापभाक् नही बनता।

साधुओ की प्रवृत्ति पापोन्मुख व्यक्तियो को इस भवसिन्धु से तारने की थी, न कि धनादि वचाने की या वेश्या को मारने की। जीवो का सहज जीना और मरना दया या हिंसा नही है। मारने की प्रवृत्ति से व्यक्ति हिंसक होता है और नही मारने की प्रवृत्ति से दयाशील।[1] कोई आम, नीम आदि वृक्षो को काट गिराने का त्याग ले लेता है, यह धर्म है, पर वे वृक्ष खडे रह जाते है, वह धर्म नही है।[2] कोई लड्डू, घेवर आदि खाने का त्याग ले लेता है, यह सयम है, धर्म है, पर वे मिष्टान्न वचे रहे, वह धर्म नही है।[3]

आचार्य श्री भिक्षु के हृदय मे लोक-अज्ञान के प्रति एक व्यथा थी। उनका कहना था—दया दया सभी कहते है और दयाधर्म उत्तम भी है, पर मोक्षोन्मुख वे ही लोग हैं, जिन्होने दया के हार्द को पा लिया है।[4] अनुकम्पा के नाम मे ही केवल नही भटक जाना चाहिए, उसकी अन्तर्दृष्टि से परीक्षा करनी चाहिए।[5] गाय और भैस का भी दूध होता है और आक व थोहर का भी। आक और थोहर के दूध को पीने से मृत्यु ही होती है। इसी प्रकार सावद्य अनुकम्पा कर्म-वन्ध का कारण ही होता है।[6]

---

१. जीव जीवे ते दया नहीं, मरे ते हो हिंसा मत जाण।
मारण वाला ने हिंसा कही, नहीं मारे हो ते दया गुणखाण॥
—अनुकम्पा चोपई गीति ५ गाथा ११

२ निम्ब अम्बादिक विरख नो किण ही किधो हो वाढण रो नेम।
इविरत घटी तिण जीव तणी, वृक्ष उभो हो तिणरो धर्म केम॥
—अनुकम्पा चोपई, गीति ५ गाथा १२

३. लाडू घेवर आदि पकवान नें, खाणा छोडचा हो आतम आणी तिण ठाय।
वैराग बढचो तिण जीव रे, लाडू रह्यो हो तिण रो धर्म न थाय॥
—अनुकम्पा चोपई गीति ५ गाथा १४

४. दया-दया सहु को कहे दया धर्म छै ठीक।
दया ओलख नें पालसी त्यारे मुगत नजीक॥
—अनुकम्पा चोपई गीति ८ दुहा १

५. भोलेई मत भूलज्यो अनुकम्पा रे नाम।
कीजो अन्तर पारखा ज्यू सीझे आतम काम॥
—अनुकम्पा चोपई गीति १ दुहा ४

६ गाय भैस आक थोहर नो ए च्यारूई दूध।
तिम अनुकम्पा जाणजो राखे मन में सूध॥
—अनुकम्पा चोपई गीति १ दुहा २

अल्प हिंसा और अनल्प रक्षा

मिश्र धर्म का विचार

अहिंसा के क्षेत्र मे मिश्र-धर्म का विचार भी बहुत चिन्तनीय है। सामाजिक मनुष्य की अनगिन प्रवृत्तिया तो ऐसी ही हैं, जिनमे हिंसा भी है और लोकोपकार भी। ऐसी प्रवृत्तिया सामान्य विचारक के मन मे सहसा भ्रम पैदा कर देती है। उन्हे धर्म-कार्य कहने मे अहिंसा का सिद्धान्त टूटता है और पाप-कार्य कहने मे करुणा और लोकोपकार का सिद्धान्त। जो लोग यह कहने के लिए तत्पर नही होते थे कि थोडी हिंसा मे यदि अधिक लोगो का लाभ है तो वह पुण्य-कार्य ही है, उन्होने ऐसी प्रवृत्तियो को मिश्रधर्म के नाम से कहा। किसी क्षुधातुर व्यक्ति को मूला खिला देने मे वनस्पति के जीवो की हिंसा हुई, वह पाप है और व्यक्ति को सुख मिला, वह धर्म है।[1] कूप और वापी के निर्माण मे पृथ्वी, जल आदि के जीवो की हिंसा है और तृषातुर लोगो को जल-पान से सुख मिला, वह धर्म है।[2]

देखने मे यह विचार कितना ही सगत लगे, पर अहिंसा के चिन्तन मे अधिक स्थायी नही हो सकता। सिद्धान्त वह है, जो आदि से अन्त तक खरा उतरे। मूला खिलाने और कुआ-वावडी बनाने के उदाहरण को यदि हम अन्य उदाहरणो के साथ परखे तो उसकी अयथार्थता स्वय स्पष्ट हो जाती है।

१ सौ व्यक्तियो को मूला, गाजर आदि खिलाकर बचाया।

२ सौ व्यक्तियो को सचित्त (सजीव) पानी पिलाकर बचाया।

३ सौ व्यक्तियो को अग्नि-ताप देकर बचाया।

४ सौ व्यक्तियो को हुक्का पिलाकर बचाया।

५ सौ व्यक्तियो को पशु-मास खिलाकर बचाया।

६ सौ व्यक्तियो को पशुओ के मृत कलेवर खिलाकर बचाया।

७ सौ व्यक्तियो को 'ममाई' करके अर्थात् रक्तौषधि के उपचार विशेष से बचाया।[3]

---

१. पाप लागो मूला तणो, धर्म हुओ हो खाधा बचीया एह।

—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा १

२. कहे कुवा बाव खणाबिया, हिंसा हुई हो तिणरा लागा कर्म।
लोक पीये कुसले रह्या, साता पामी हो तिणरो हुवा धर्म॥

—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गा० २

३. अनुकम्पा चौपई गीत ७ गाथा ५-१०

हिंसा की उन्मुक्तता

अल्प हिंसा और अधिक रक्षा के विचार को यहा हिचकना पडता है। उक्त सभी कार्यों मे धर्म कहने का साहस नही हो सकता। एक मनुष्य को मारकर उसके रक्त-दान से सौ मनुष्यो को वचा लेने की वात अहिंसा और धर्म के क्षेत्र मे तो लेशतो भी नही आ सकती। साध्य की विस्तृतता मे यदि साधन को नगण्य और गौण न बनाते है तो जीवन-व्यवहार के कुछ एक प्रसग उलझन भरे मालूम पडने लगते है, पर साध्य की विस्तृतता मे साधन शुद्धि की वात को एक ओर छोड देने मे तो अहिंसा का कोई स्वरूप ही नही टिकता। समाज मे प्रयोजन-सिद्धि के लिए हिंसा मुक्त होकर खेलेगी और उसके साथ असत्य और असदाचार भी। आचार्य श्री भिक्षु कहते है—कुछ जीवो की हिंसाकर कुछ जीवो को बचाने मे यदि पाप अल्प और धर्म अधिक है, तव तो हिंसा की तरह समग्र प्रकार के पाप कार्य भी इस धर्म के साधन रूप हो जाएगे।[1] कोई असत्य वोलकर जीव वचाएगा तो कोई चोरी करके। कोई अब्रह्मचर्य-सेवन से जीव वचाएगा तो कोई धनादि के प्रलोभन से।[2] दो वेश्याए कसाईखाने पर गई। वहा होनेवाला जीव-सहार देखा। एक ने अपना समस्त गहना देकर सहस्र जीव वचाए। दूसरी ने अपना शील खोकर सहस्र जीव वचाए। अहिंसावादी और हृदय-परिवर्तन मे विश्वास रखनेवाला साधननिष्ठ व्यक्ति यहा क्या कहेगा?[3] अल्प हिंसा और अनल्प रक्षा के विचार से तो सिंह और कसाई जैसे हिंसको को जहा देखे वही मारे, यह कोई वडा धर्म हो जाएगा।[2]

---

१ जो हिंसा करे जीव राखीया, तिणमें होसी हो धर्म नें पाप दोय।
तो इम अठारेइ जाणजो, ए चरचा में हो विरलो समझे कोय॥

—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा २३

२ जीव मारे झुठ बोल नें, चोरी करने हो पर जीव बचाय।
वले करे अकार्य एहवा, मरता राख्या हो मइथुन सेवाय॥

—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा २१

३. दोय वेस्या कसाइवाडे गइ, करता देख्या हो जीवा रा सघार।
दोनू जण्यां मतो करी, मरता राख्या हो जीव एक हजार॥
एकण गेंहणो देइ आपणों, तिण छोडाया हो जीव एक हजार।
दूजी छोडाया इण विधे, एकां दोया हो चौथो आश्रव सेवार॥

—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा ५१-५२

आचार्य अमृतचन्द्र कहतेहैं—इस एक ही जीव को मारने से बहुत जीवो की रक्षा होती है, ऐसा मानकर हिंसक जीवो की भी हिंसा नही करनी चाहिए ? और न बहुत जीवो के घाती ये जीव जीते रहेगे तो अधिक पाप उपार्जन करेगे इस प्रकार की दया करके हिंसक जीवो को मारना चाहिए।[२]

महात्मा गाधी ने भी ऐसे प्रश्नो पर सोचा है। वे कहते हैं—मेरा कोई भाई गोहत्या पर उतारू हो जाए तो मुझे क्या करना चाहिए ? मैं उसे मार डालू या उसके पैर पकडकर उसे ऐसा न करने की प्रार्थना करू। अगर आप कहे कि मुझे पिछला तरीका अख्तियार करना चाहिए तो फिर अपने मुसलमान भाई के साथ भी मुझे इसी तरह पेश आना चाहिए।[3]

सांप और पड़ोसी

एक बार महात्मा गाधी से यह पूछा गया—आदमी अपनी प्राण-रक्षा के लिए सर्प आदि हिंस्र प्राणियो को मारे, यह हिंसा हो सकती है, पर जो मनुष्य अनेक मूल्यवान् प्राणियो को बचाने के लिए सर्प आदि को मारे तो वह हिंसा नही मानी जानी चाहिए। क्योकि यदि उसे हम नही मारते है तो वह अनेकानेक प्राणियो के प्राण लेता ही रहता है।

महात्माजी ने इसके उत्तर मे कहा—यह दलील सदोष है कि यदि मैं किसी विषैले साप को नही मारूगा तो वह जरूर ही अनेक आदमियो और स्त्रियो की जान का ग्राहक होगा। यह मेरे कर्तव्य का अग नही कि मैं तमाम विषैले जन्तुओ को ढूढ-ढूढकर मारता फिरू। और न मुझे यह मान लेने की जरूरत है कि मुझे मिलने-वाले विषैले साप को यदि मैं नही मारूगा तो वह किसी राहगीर को जरूर ही डस लेगा। उस साप और मेरे पडोसी के बीच मुझे न्यायकर्ता नही बन जाना चाहिए। यदि मैं अपने पडोसियो के साथ वैसा ही सलूक करू, जैसे सलूक की आशा

---

१. कोइ नाहर कसाइ मारनें, मरता राख्या हो घणा जीव अनेक।
जो गिणें दोया नें सारिषा, त्यारी बिगडी हो सर धा बात ववेक॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा २७

२. रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसा हिंस्रसत्वानाम्॥
बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीया शरीरिणो हिंस्रा॥

३. हिन्द स्वराजय पृ० ७९

मैं उनसे करता हू। यदि मैं उनको किसी ऐसे वडे खतरे मे नही डालता, जिससे मैं हू, तो मैं समझूगा कि मैंने अपने पडोसियो के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा कर लिया। इसलिए जैसा अक्सर किया जाता है, मैं उस साप को अपने पडोसी के हाते मैं नही छोडगा। अधिक-से-अधिक यह मैं कर सकता हू कि साप को जितना एक तरफ छोडा जा सके उतना छोडकर अपने पडोसियो को इस बात की सूचना कर दू। मैं जानता हू कि इससे मेरे पडोसियो को न तो कोई आराम मिलेगा न रक्षा ही। पर हम तो मृत्यु के मुह मे खडे रहकर सत्य की राह ढूढ रहे है।[1]

इन्द्रियवाद की मान्यता

हिंसा और अहिंसा के वीच मे इन्द्रियवाद को भी लोगो ने एक मानदण्ड मान लिया है। एकेन्द्रिय आदि जीवो की पचेन्द्रिय जीवो की रक्षा और भोगोपभोग के लिए की जानेवाली हिंसा अहिंसा ही है, क्योकि पचेन्द्रिय जीव अधिक पुण्यशील और सृष्टि के ऊचे प्राणीहोते है।[2] अहिंसा के विवेक मे यह विचार नितान्त मिथ्यात्व पूर्ण है। एक ओर प्राणीमात्र की समानता का यथार्थ आदर्श और दूसरी ओर इन्द्रियाधिक्य का यह भेद-निरूपण किसी प्रकार सगति नही पा सकते। अहिंसा सर्वभूत कल्याणकारी है।[3] उसके साम्राज्य मे प्राणीमात्र समान है। स्थावर और जगम, सूक्ष्म और वादर, एकेन्द्रिय और अधिकेन्द्रिय की उच्चावचता वहा मान्य नही है। मनुष्य सव प्राणियो मे श्रेष्ठ है, यह विचार भी लोकमत का विषय वन गया है। मनुष्य की श्रेष्ठता इतर प्राणियो के वीच विभिन्न अपेक्षाओ से ही है,परन्तु जीवमात्र की जिजीविषा अपना स्वतन्त्र मूल्य रखती है, वहा एक के लिए दूसरे का वध मान्य नही हो सकता। अन्य प्राणियो की अपेक्षा मे जिस प्रकार मनुष्य श्रेष्ठ है, उसी प्रकार मनुष्यो मे भी अनेको निकृष्ट और अनेको श्रेष्ठतर और श्रेष्ठ-तम है। इन्द्रियवाद की तरह यहा भी एक के वध और एक की रक्षा मे यह तरतम-वाद मान्य करना होगा। ऊचे लोगो के लिए निम्न लोगो की हिंसा भी अहिंसा वन जाएगी। वहुत वार दो मे एक के वध की अनिवार्यता उपस्थित होने पर एक का

१. गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ८५-८६

२. केइ कहे म्हे हणा एकेंद्री, पंचेंद्री जीवां रे तांइ जी।
एकेंद्री मार पंचेंद्री पोष्या, धर्म घणो तिण माहि जी ॥
एकेंद्री थी पचेंद्री नां, मोटा घणा पुन भारी जी।
एकेंद्री मार पंचेंद्री पोष्या म्हाने पाप न लागे लिगारी जी ॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ६ गाथा १६-२०

३. अहिंसा सव्वभूयखेमंकरी

वध स्वीकार किए बिना लोक-व्यवहार नही चलता । गर्भिणी स्त्री और गर्भ मे एक की मृत्यु अनिवार्य होने पर डाक्टर और घर के लोग गर्भिणी की रक्षा को प्राथमिकता देते है । यह लोक नीति है । गर्भस्थ प्राणी अल्प वयस्क और अजनबी है । गर्भिणी परिवार की एक चिरन्तन सदस्या है । उसके रहते दूसरी सन्तान होने की भी आशा है, पर यह विचार अध्यात्म और अहिंसा का अग तो नही वन सकता । यही लोक-नीति मनुष्य और इतर प्राणियो के बीच मे वरती जाती है । अग्नि, पानी, वनस्पति आदि के स्थावर प्राणियो की हिंसा कर गाय, भैस, घोडा आदि पशुओ को पाला जाता है और मनुष्य की अपेक्षा पशु-वध को कर्तव्य कहा जाता है । अहिंसा मे छोटे और वडे का भेद नही होता और जहा इन्द्रिय, उपयोगिता आदि के भेद हैं, वहा अहिंसा टिक नही सकती ।

अहिंसक का उद्देश्य

अहिंसक का उद्देश्य तो हिसा से सर्वथा मुक्त होने का है, पर अपनी साधनावस्था मे विभिन्न हिंसाओ मे से वह कुछ हिंसाओ का चुनाव करता है । अध्यात्म वह है, जो उसमे अहिंसा का विकास हुआ है । हिंसामात्र मनुष्य की दुर्वलता है । गाधीजी ने अपने शब्दो मे कहा है—हिंसा के विना कोई देहधारी प्राणी जी नही सकता । जीने की इच्छा छूटती ही नही है । अनशन करके छूटने की इच्छा मन को नही है । देह अनशन करे और मन अनशन न करे तो यह अनशन दम्भ मे खपेगा और आत्मा को अधिक वन्धन मे डालेगा । ऐसी दयावनी स्थिति मे जीने की इच्छा रखता हुआ जीव भला क्या करे ? कैसी और कितनी हिंसा अनिवार्य गिने ? समाज ने कितनी ही हिंसाओ को अनिवार्य गिनकर व्यक्ति को विचार करने के भार से मुक्त किया । तो भी प्रत्येक जिज्ञासु के लिए अपना क्षेत्र जानकर उसे नित्य छोटा करने का प्रयत्न तो करना वाकी रहा ही है ।[1]

मिश्र धर्म पर दो और उदाहरण

मिश्र धर्म पर आचार्य भिक्षु ने सिंह और कसाई के अतिरिक्त दो उदाहरण और दिए । भयकर सर्प है, चूहो को खाता है, मनुष्यो को डसता है, वहुत सारे पक्षियो के घोसले उजाड देता है, किसी व्यक्ति ने म्रियमाण जीवो की अनुकम्पा कर सर्प को मार डाला । क्या यह भी मिश्र धर्म होगा ?[2]

---

१ गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १०९

२. तीजो दृष्टान्त स्वामी दियो रे, उरपुर एक अजोगो ।
घणा ऊंदरा रा गवका करे रे, मनुष्य पहुंचावै परलोको ।

कोई पुरुष भयंकर जंगलो मे आग लगा देता है, गाव-नगरो को उजाड देता है, अनेकानेक जीवो के प्राण लेता है, किसी ने यह सोचकर कि इस एक दुष्ट को मार देने से सबका बचाव होगा, उसे अचानक मार डाला। यदि मिश्र धर्म का सिद्धान्त यथार्थ है तो इस नर-हत्या को भी धर्म व पुण्य का हेतु मानना होगा।[1]

साधारण जीव-जन्तु और मनुष्य का भरण-पोषण

आचार्य भिक्षु से किसी ने पूछा, साधारण जीव-जन्तु तो मनुष्य के भरण-पोषण के लिए ही सरजे गए है, इन्हे मारने मे क्या दोष ? आचार्य भिक्षु ने कहा, इसका अर्थ है—तुम भी किसी शेर के खाने के लिए बनाए गए हो। ऐसा मौका आ पडने पर तुम कोई प्रतिकार नही करोगे ? बिना किसी ननुनच के सिंह के मुह मे चले जाओगे ?

व्यक्ति—ऐसा तो मैं नही करूगा।

आचार्य भिक्षु—क्यो ?

व्यक्ति—मुझे मरने का भय लगता है।

आचार्य भिक्षु—सभी जीवो को अपने जैसा ही समझ। मरना कोई नही

मनुष्य मार परलोक पहुचावै, घणा पख्या ना अण्डा पिण खावै।
सर्प घणा जीवा सतावै, उत्कृष्टे धूमप्रभा लग जावै जी॥
किण ही बिचार इसो कियो रे, सर्प घणा ने सतावै।
एक सर्प मारचां थकां रे, जीव घणा सुख पावै।
जीव घणा सुख पावै सुजाणी, अनुकम्पा वहु जीवारी जाणी।
सर्प मार बचाया बहुप्राणी, लाय बुझाया कहे मिश्र वाणी।
—भिक्षुजसरसायन गीतिका २० गाथा ७-८

१. चौथो दृष्टात स्वामी दियो रे, कोई पुरुष नो एहवो आचारो।
बाप मुवा पहलो कह्यो रे, काल करता तिणवारो॥
काल करतां सुत कही थी बाणों,सुखे तुम्हारा निसरो प्राणो।
था लारै अटव्यादिक बालस्यू जाणो, घणा ग्राम नगर कर स्यू घमसाणो जी।
मनुष्य ढाढा घणा मारस्यूं रे, बाप ने एहवो सुणायो।
पिता पहुंतो परलोक में रे, पछै करवा लागो सहु तायो॥
करवा लागो छै जीवां रो घमासाणो, किणहिक मन में बिचारयो जाणो।
एक मारचां सूं बच वहू प्राणो, इम चिन्तव ते पुरुष ने मारचो अचाणो जी॥
—भिक्षुजसरसायन गीतिका २० गाथा ९-१०

चाहता ।[1]

इसी प्रकार के एक प्रश्न पर गाधीजी लिखते हैं—मुझे यह दलील नास्तिक-सी प्रतीत होती है कि परमात्मा ने कुछ प्राणियो को इसलिए बनाया है कि मनष्य सहज आनन्द के लिए या अपने शरीर के पोषण के लिए उन्हे मारता रहे, जो निश्चय ही किसी क्षण नष्ट होने को है ।[2]

हिंसा के बिना धर्म नही होता ?

आचार्य भिक्षु के पास लोक विचित्र प्रश्न घडकर लाते । वे भी उनका घडा-घडाया उत्तर देते । किसी एक व्यक्ति ने कहा, हिंसा किए विना धर्म भी नही वन पडता । मान लीजिए—दो श्रावक थे । एक को अग्नि समारम्भ का त्याग था, दूसरे को नही । दोनो ने चने खरीदे । एक ने उन्हे भूनकर भूगडे बना लिए । एक के पास यो ही रखे थे । भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए साधु आए । जिसके पास भूगडे थे, उसे सुपात्र दान का योग मिला और तीव्र हर्ष से उसने तीर्थंकर गोत्र वाधा । जिसके पास कच्चे चने थे, वह यो ही देखता रहा । इसलिए यह सत्य है कि धर्म की निष्पत्ति मे कुछ-न-कुछ हिंसा अपेक्षित होगी ही और वह धर्म हेतु हो जाने के कारण धर्म ही मानी जाएगी ।

आचार्य भिक्षु ने तत्काल उत्तर दिया—मान लो, दो श्रावक थे । एक ने सदा के लिए ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लिया, दूसरा यो ही रहा । अब्रह्मचर्य के सेवन से उसके पाच पत्र उत्पन्न हुए । साधु गाव मे आए । उपदेश सुनकर दो बडे पुत्रो को वैराग्य हुआ । पिता ने सहर्ष उन्हे सयम-ग्रहण की आज्ञा दी । उस हर्ष मे उसने तीर्थंकर गोत्र वाधा । यहा अब्रह्मचर्य भी धर्म का कारण बना । यदि हिंसा धर्म होगी तो अब्रह्मचर्य भी धर्म होगा और निष्कर्ष रूप मे ब्रह्मचारी की अपेक्षा भोगी व सन्तानोत्पादक पुरुष श्रेष्ठ होगा , क्या इस वात को कोई भी विचारक मानेगा ?[3]

राजाज्ञा और अहिंसा

'अमारीपड़ह'

राजा अपने राज्य मे 'अमारीपडह' वजवाता है अर्थात् घोषणा करवाता है—राज्य मे कोई पशु-वध मत करो । इस घोषणा का उल्लघन करनेवाला सजा पाता

---

१ भिक्खु दृष्टान्त सं० २३६

२. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ८६

३ भिक्खु दृष्टान्त सं० २१०

है। यह प्रथा भारतवर्ष मे बहुत प्राचीन काल से रही है। यवन सम्राटो के इतिहास मे भी धर्माचार्यो की प्रेरणाओ से ऐसी राजाज्ञाओ का उल्लेख मिलता है। राजा श्रेणिक के द्वारा 'अमारीपडह' बजवाने का उल्लेख जैन आगमो मे आता है।[1] आजकल भी भारतवर्ष मे गोवध को अपराध घोषित करने का वृहत् आन्दोलन चल रहा है। ऐसी राजाज्ञाए अहिंसा की कोटि मे आ जाती है अथवा ये केवल लोकनीति का अग बनकर ही रह जाती हैं, यह एक जिज्ञासाओ को उभारने वाला विषय है।

अहिंसा व्यक्ति की भावनाओ से प्रस्फुटित होती है। वहा विवशताए लेशतोपि नही टिक सकती। राजाज्ञा बल-प्रयोग का एक ज्वलन्त अग है। बल-प्रयोग मे न अहिंसा है, न धर्म है। आचार्य भिक्षु कहते हैं—कोई व्यक्ति मूला, गाजर आदि अनन्तकायिक वनस्पति खा रहा है, सचित्त जल पी रहा है, कोई दूसरा व्यक्ति आया और उसने ये सारी वस्तुए उससे छीन ली। बिना मन के कराये गए त्याग, धर्म और अहिंसा के अन्तर्गत नही आते। भोगातुर व्यक्तियो के भोग-लाभ मे अन्तराय देने से महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है। यह दशाश्रुतस्कन्ध मे स्पष्ट बताया है।[2]

महात्मा गाधी कहते है—मछली खानेवाले को जबर्दस्ती मछली खाने से रोकने मे बहुत ज्यादा हिंसा है। जबर्दस्ती करनेवाला घोर हिंसा करता है। बलात्कार अमानुषी कर्म है।[3]

रेवती और मांस-भक्षण

राजाज्ञा के भग मे दड का भय है। जहा भय होता है, वहा अहिंसा नही होती। वह स्फटिक की तरह पवित्र होती है। वह लोभ, ईर्ष्या, कालुष्य आदि किसी दुर्गुण के साथ नही ठहरती। वह स्वय अभय है और दूसरो के लिए अभय है। श्रेणिक राजा की अमारी घोषणा मे महाशतक श्रावक की मदविह्वला पत्नी रेवती ने छद्म-रीति से अपने ही गोवर्ग से प्रतिदिन दो-दो बछडे मरवाए और उनका

१. उपासकदशांगसूत्र अ० ८, प्रश्नव्याकरणसूत्र

२. मूला गाजर ने काचो पाणी, कोई जोरी दावे ले खोसी रे।
जे कोई वस्त छोडावै बिना मन, इण विध धर्म न होसी रे॥
भोगीना कोई भोगज रूधे, वले पाड़े अन्तरायो रे।
महामोहणी कर्मज बान्धे दसाश्रुतखध माहि बतायो रे॥
—व्रताव्रत ढाल १ गाथा ३३-३४

३ हिन्दुस्तान

मास खाया।[1] राज-भय से यदि वह ऐसा न भी करती तो क्या वह अहिंसा का पालन करती ? कायिक हिसा भले ही न हो, मन से तो वह घोर हिंसा करती ही होती। उस राजकीय नियन्त्रण मे रहकर भी व्यक्ति स्वय के आचरण मे अहिसा की परिणति कर सकता है, यदि उसका विवेक प्रबुद्ध हो, वह उस नियन्त्रण को विवशता से ग्रहण नही करता। वह तो एक स्थूल निमित्त मात्र रह जाती है। वह अपनी अहिंसा-निष्ठा से और अपने जागृत विवेक से अहिसा का पालन करता है। उसके हृदय मे विवशता जैसी कोई अनुभूति ही नही होती, परन्तु राज्य-वल अर्थात् सैनिक वल पर आधारित आदेश आदेष्टा को अहिसक नही होने देता, भले ही उसके राज्याकुश के कारण कितने ही जीव वच गए हो। अमारी घोषणा, गोवध-निषेध आदि लोक-नीति के विषय है। जैसे वच्चे को डरा-धमकाकर भी क, ख सिखलाया जाता है और उसके भविष्य को सुधारा जाता है, इसी प्रकार ऐसे अधिनियमो से भविष्य मे हिंसा के सस्कार घटे, यह सोचा जाता है। पिता अपने पुत्र को मार-पीटकर भी और वन्धन मे डालकर भी धूम्रपान, मद्यपान व वेश्या-गमन आदि से वचाता है। वह अहिसा का आचरण तो नही, पर लोक-नीति का आचरण अवश्य कहा जा सकता है। 'अमारीपडह' का भी समाज मे यही औचित्य सोचा जा सकता है।

सम्राट् अशोक का शासन काल

अमारी घोषणा भी धर्म और अहिसा का अग हो सकती है, यदि वह मात्र धर्म प्रेरणा ही हो। उसका स्वरूप आदेशात्मक न होकर उपदेशात्मक ही हो। सम्राट् अशोक के शासन मे उपदेशात्मक और नियन्त्रणात्मक दोनो ही प्रकार काम मे लिए जाते थे—विक्रमीय सवत् पूर्व १८६ मे उसने जीव-रक्षा के सम्वन्ध मे वडे-वडे नियम वनाए। यदि किसी भी जाति या वर्ण का कोई भी मनुष्य इन नियमो को तोडता था तो उसे वडा कडा दण्ड दिया जाता था। कुल साम्राज्य मे इन नियमो का प्रचार था। इन नियमो के अनुसार कई प्रकार के प्राणियो का वध विल्कुल ही वन्द कर दिया गया था। जिन पशुओ का मास खाने के काम मे आता था, उनका वध यद्यपि विल्कुल तो वन्द नही किया गया तथापि उनके सम्बन्ध मे वहुत कडे-कडे नियम वना दिये गए, जिससे प्राणियो का अन्धाधुन्ध वध होना रुक गया। साल मे छप्पन दिन तो पशु-वध विल्कुल ही मना था।[2]

सम्राट् अशोक के एतद्विषयक अधिनियमो का एक व्यौरा इस प्रकार है—

---

१ उपासकदशांगसूत्र अध्ययन ८

२. अशोक के धर्म-लेख पृ० ५१

देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते है—राज्याभिषेक के छब्बीस वर्ष बाद मैंने इन प्राणियो को अवध्य कर दिया है, जैसे सुक, सारीका, अरुण, चक्रवाक, हस, नन्दीमुख, गेलाट, जतुका (चमगीदड), अम्बाकपीलिका, दुडि (कच्छवी), अनस्थिक मत्स्य, जीवजीवक, गगाकुक्कुटक, शकुल मत्स्य, कमठ, साही, पर्णशस, बारहसींगा, साड, ओकपिण्ड, मृग, सफेद कबूतर, गाव के कबूतर और अन्य सब प्रकार के चतुष्पद, जो न तो किसी प्रकार उपभोग मे आते है और न खाए जाते है। गर्भिणी या दूध पिलाती हुई बकरी, भेड और शूकरी तथा उनके बच्चो को जो छ महीने तक के हो न मारना चाहिए। कुर्कुट को वधित नही करना चाहिए। जीव सहित तुषो को नही जलाना चाहिए। अनर्थ के लिए या प्राणियो की हिंसा के लिए वन मे आग न लगानी चाहिए। एक जीव को मार दूसरे जीव को न खिलाना चाहिए। तीनो चातुर्मासिक पूर्णिमाओ के दिन तथा प्रत्येक उपवास के दिन मछली न मारनी चाहिए। इन दिनो मे हाथियो के वन मे तथा तालाबो मे कोई भी दूसरे प्रकार के प्राणी न मारे जाने चाहिए। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या तथा पूर्णिमा, पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चार-चार महीने के त्योहारो के दिन बैल को तथा अन्य पशुओ को न दागना चाहिए।[1]

राज्याधिकारियो का दौरा

सम्राट् अशोक ने अपने राज्याधिकारियो को भी प्रचार कार्य मे लगाया था। वह कहता है—मेरे राज्य मे सब जगह युक्त (साधारण कर्मचारी), रज्जुक (आयुक्त) और प्रादेशिक (प्रान्तीय अधिकारी) पाच-पाच वर्षो से धर्मानुशासन तथा अन्य कार्यो के लिए, यह कहते हुए दौरा करे कि माता-पिता की सेवा करना तथा मित्र परिचित सजातीय ब्राह्मण व श्रमण को दान देना अच्छा है। जीव-हिंसा न करना अच्छा है। कम खर्च करना और कम सचय करना अच्छा है।[2]

सम्राट् अशोक के धर्म-प्रचार मे राजनीति और धर्म का मिश्रण था। पचम स्तम्भ लेख मे बताए गए जीव-हिंसा सम्बन्धी अधिनियमो से सम्राट् की धर्म-भावना का एक परिचय मिलता है, पर दण्ड-विधान के साथ करवाई गई जीव-दया विशुद्ध अहिंसा की कोटि मे तो नही आ सकती। आज की समाज-व्यवस्था मे भी मद्यपान, पर-स्त्रीगमन, चोरी, झूठा तोल-माप, मिलावट, चोरबाजारी आदि को रोकने के नाना कानून है ही, पर उनका लागू होना राज-व्यवस्था का अग है, न कि अध्यात्म का। पशुओ के प्रति क्रूरता न बरते जाने के आज भी

१ अशोक के धर्म-लेख (पचम स्तम्भ लेख) पृ० ३४१-४६
२ अशोक के धर्म-लेख (तृतीय शिलालेख) पृ० १२२

अनेको कानून है। शहरो मे सवारी आदि के सख्या-परिमाण निश्चित है। सम्राट् अशोक ने भी ऐसा करके कोई अपूर्व काम किया हो, यह नही लगता। उसके शासन मे राजनीति और धर्म कैसे मिले-जुले चलते थे, उसका एक उदाहरण चतुर्थ स्तम्भ लेख मे मिलता है। सम्राट् अशोक कहता है—आज से मेरी यह आज्ञा है कि कारागार मे पडे हुए जिन मनुष्यो को मृत्यु दण्ड निश्चित हो चुका है, उन्हे तीन दिन की मुहलत दी जाए। इस अवधि मे जिन लोगो को वध का दण्ड मिला है, उनके जाति-कुटुम्ब वाले उनके जीवन के लिए ध्यान करेगे और अन्त तक ध्यान करते हुए परलोक के लिए दान देगे तथा उपवास करेंगे। क्योकि मेरी इच्छा है कि कारागार मे रहने के समय भी दण्ड पाए हुए लोग परलोक का चिन्तन करे।[1] यहा एक ओर मृत्यु दण्ड की चर्चा है और दूसरी ओर धर्माचरण की। अशोक के मन मे धर्म-विस्तार की उत्कट भावना थी, इसमे सन्देह नही। उसने अपने अभिमत को आगे बढाने मे कानून की अपेक्षा प्रचार का ही अधिक आश्रय लिया था। राजनीति और धर्म के उस मिले-जुले रूप मे से 'नीर-क्षीर' का विवेक ही अध्यात्म और राजनीति का पृथक्करण कर सकता है।

राजाओ का परम्परागत आचार

श्रेणिक राजा ने अवध घोषणा की, यह शास्त्रो मे उल्लिखित है, पर उस घोषणा का स्पष्ट रूप क्या था, यह नही। महाशतक की पत्नी रेवती ने जिस प्रच्छन्न विधि से मास प्राप्त किया, उसे देखते हुए राजपुरुष उस आज्ञा को बहुत ही कडाकडी से पलाते थे, ऐसा लगता है। उपासकदशागसूत्र मे रेवती के प्रसग विशेष से अमारी घोषणा का उल्लेख मात्र किया गया है। इससे यह नही सिद्ध होता कि शास्त्रकारो का ध्येय उसकी श्लाघा का रहा है। आचार्य श्री भिक्षु का अभिमत है, पुत्र-जन्मोत्सव व किसी विशेष प्रसग पर ऐसी घोषणाओ की परम्परा राजा लोगो मे रही होगी। यह राजाओ का परम्परागत आचार ही हो सकता है। यदि यह धर्म का अग होता तो वासुदेव, चक्रवर्ती आदि भी इस सहज सम्भव धर्म से वचित क्यो रहते ? यदि बल-प्रयोग मे धर्म होता तो वे यही धर्माचरण कर अधिक-से-अधिक धर्मी बन जाते।[2]

---

१ अशोक के धर्मलेख (चतुर्थ स्तभ-लेख) पृ० ३३९

२. श्रेणक राय फड़हो फेरावीयो, ए तो जाणो हो मोटा राजा री रीत।
भगवंत न सरायो तेहनें, तो किम आवैं हो तिणरी परतीत॥
ए तो पुत्रादिक जायां परणीया, ओछवादिक हो ओरी सीतला जाण।
एहवो कारण कोइ ऊपजे, श्रेणक राजा हो फेरी नगरी में आण॥

गांधीजी और अहिंसा

सत्याग्रह-विचार

आचार्य भिक्षु ने लगभग सवासौ वर्ष पश्चात् महात्मा गाधी आए। अहिंसा के इतिहास मे उन्होंने भी कुछ नये अध्याय जोडे। अहिंसा की उन्होने एक व्यवहारिक नीति के रूप मे भी स्थापना की। सत्ता-परिवर्तन जैसे दुष्कर कार्य जो कि अब तक युद्ध से ही सम्भव माने जाते थे, उन्होंने सत्याग्रह, असहयोग आदि अहिंसा प्रधान प्रयत्नो मे भी उनकी सम्भवता मानी। व्यवहार दशा मे सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन भले ही अहिंसा जैसे न लगते हो, पर महात्मा गाधी का प्रयत्न उनको अधिकाधिक अहिंसात्मक बनाने का ही रहा है। उनका कहना था—अग्रेज लोगो के प्रति हमारे मन मे जब तक किंचित् भी कटुता और शेष है, तब तक हमारे ये प्रयत्न अहिंसात्मक नही कहे जा सकते। उनके सामने प्रश्न आया—क्या सत्याग्रही कतार बाधकर खडे हो सकते है? उन्होने कहा—यह प्रश्न ऐसे प्रसग पर पूछा जा रहा है, जहा कतार बाधकर खडे होने मे प्रतिपक्षी के गमनागमन मे एक अवरोध करने का लक्ष्य स्पष्ट प्रतीत होता है। इसलिए यह तरीका कदापि अहिंसात्मक नही हो सकता।[1] इस प्रकार अनेको सामाजिक व्यवहारो मे अहिंसा को एक अनिवार्य नीति का रूप दिया और अनेको समस्याओ पर उनके सफल प्रयोग भी कर दिखाए।

चीनी, खादी और चाय

गाधीजी ने अहिंसा को राजनैतिक और सामाजिक सम्बन्धो से ही परखा है, पर व्यक्तिगत जीवन-साधना के सम्बन्ध से भी उन्होंने बहुत सोचा और बहुत लिखा है। जीवन-व्यवहार के नगण्य कार्य और होनेवाली नगण्य हिंसा के विषय मे भी उन्होने अपने स्पष्ट मन्तव्य दिए हैं। अनेक स्थलो पर उनकी दृष्टि आचार्य भिक्षु की दृष्टि के साथ अद्भुत तादात्म्य रखती है। किसी एक व्यक्ति ने गाधीजी से तीन प्रश्न पूछे—

१ क्या यह बात सच है कि विदेशी चीनी मे हड्डिया तथा खून आदि अपवित्र चीजे डाली जाती हैं? अहिंसा का पालन करनेवाला मनुष्य क्या विदेशी शक्कर खा सकता है?

२ खादी पहनना अहिंसा का प्रश्न है या राजनीति का?

फल फूल अनन्त काय ने, हिंसादिक हो अठारे पाप नें जाण।
जोरी दावे पैला नें मना कीया, धर्म हुवे तो हो फेरे छ. घटे मे आण॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा ३७,४०,४६

१. गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग २ पृ० २२३ के आधार से

३ अहिंसा-व्रत का पालन करनेवाला क्या चाय पी सकता है?

उक्त तीनो प्रश्नो का उत्तर गाधीजी ने इस प्रकार से दिया—

विदेशी चीनी के अन्दर हड्डिया आदि नही रहती, पर हा ऐसा सुना है कि उनका उपयोग चीनी साफ करने मे किया जाता है। यह मानने का कोई कारण नही कि ऐसा प्रयोग देशी चीनी के लिए नही होता है। अहिंसा की दृष्टि से सम्भवत दोनो प्रकार की शक्कर त्याज्य है। यदि लेनी ही हो तो उसकी बनावट की जाच करना उचित है। विदेशी शक्कर का त्याग स्वदेशी के उत्तेजन के लिए ही सगत है। शक्कर मात्र के त्याग के लिए अहिंसा की एक सूक्ष्म दृष्टि है। प्रत्येक प्रक्रिया मे हिंसा है। अतएव प्रत्येक खाद्य-पदार्थ पर जितनी कम प्रक्रिया हो, उतना ही अच्छा है।

खादी पहनने मे अहिंसा, राजकाज और अर्थशास्त्र तीनो का समावेश हो जाता है। पूर्वोक्त नियम के अनुसार खादी पर प्रक्रियाए कम होती हैं, इसलिए उसमे हिंसा कम है।

अहिंसा-व्रत पालनेवाला चाय पी भी सकता है और नही भी पी सकता है। चाय मे भी प्राण हैं। वह निरुपयोगी वस्तु है। इस कारण उसके लेने से होनेवाली हिंसा अनिवार्य नही है। अतएव उसका त्याग इष्ट है। व्यवहार मे हम इतनी बारीक बातो का ख्याल नही करते। इस कारण जिस तरह दूसरी चीजो को अहिंसा की दृष्टि से निर्दोष समझते है, उसी तरह चाय को भी मान सकते हैं।

माता का शिशु-प्रेम

तीनो प्रश्नो के उपसहार मे वे लिखते है—अहिंसा एक मानसिक स्थिति है। जिसने इस स्थिति को नही समझा है, वह चाहे कितनी ही चीजो का त्याग कर दे तो भी उसे उसका फल शायद ही मिले। रोगी रोग के लिए बहुत-सी चीजो से परहेज करता है, इससे उसके इस त्याग का फल रोग दूर करने के अतिरिक्त नही मिलता। दुष्काल पीडित को यदि भोजन न मिले तो इससे उसे उपवास का फल नही मिलता। जिसका मन सयमी नही है, उसकी कृति मे चाहे सयम भले ही दिखाई दे, पर वह सयम नही है। जिस कार्य मे जिस अश तक दया है, उस कार्य मे उसी अश तक अहिंसा हो सकती है। इसलिए दया और ज्ञान की आवश्यकता है। अध-प्रेम को अहिंसा नही कहते। अधप्रेम के अधीन होकर जो माता अपने बालक को अनेक तरह दुलराती है, वह अहिंसा नही अज्ञानजात हिंसा है। मैं चाहता हू खाने-पीने की मर्यादाओ का पालन करते हुए भी लोग अहिंसा के विराट रूप को, उसकी सूक्ष्मता को, उसके धर्म को समझे।[1]

---

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १६

रामायण और महाभारत

आचार्य भिक्षु ने रामायण, महाभारत आदि प्राचीन पुराण ग्रन्थो को स्वत प्रमाण नही माना। उन्होने जैन रामायण पर तो असगत उदन्तो के लिए परिष्कारक प्रयत्न भी किया था।

महात्मा गाधी से एक वार पूछा गया—हिन्दू लोग राम के अवतार को धर्म का अवतार कहते है। राम ने रावण को मारा था, क्या यह बुरा किया ? राम ने वालि का वध किया यह कहकर कि—

अनुज वधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ ये कन्या सम चारी॥
इनहि कुदृष्टि विलोकहि जोई। ताहि वधे कछु पाप न होई॥

भगवद् गीता मे अर्जुन अपने सगे सम्बन्धियो का वध करने के लिए तैयार नही होता है। भगवान् कृष्ण उसे युद्ध करके नाश करने का आग्रह करते है। आपका अहिंसा-मन्तव्य इस विषय मे क्या कहता है ?

उत्तर मे महात्मा गाधी लिखते हैं—तुलसीदास ने राम के मुह मे कितनी वातें डाली हैं, जिनका मतलव मैं नही समझता। वालि सम्बन्धी सारा प्रसग ही ऐसा है। तुलसीदास ने राम के मुह से कहलाई इन पक्तियो के शव्दार्थ के अनुसार चलने से यदि कोई फासी पर न चढेगा तो वडी मुसीवत मे जरूर फस जाएगा। रामायण और महाभारत मे हर महान् व्यक्ति के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा गया है, सवको मैं शव्दशः नही ग्रहण करता हू और न मैं इन ग्रन्थो को ऐतिहासिक सग्रह मानता हू। उनमे भिन्न-भिन्न रूपो मे आवश्यक सिद्धान्तो का वर्णन मिलता है। और न मैं राम तथा कृष्ण को अस्खलनशील—कभी गलती न करने वाले मानता हू, जैसा कि इन दो महाकाव्यो मे उनका चरित्र-चित्रण मिलता है। वे अपने युग के विचारो और आकाक्षाओ को प्रतिविम्वित करते है। केवल अस्खलनशील व्यक्ति ही अस्खलनशील पुरुषो के चरित्र का यथार्थ चित्रण कर सकता है। ऐसी अवस्था मे उनका आशय मात्र हमारे लिए पथ-प्रदर्शन का काम दे सकता है। उनके अक्षर-अक्षर का अनुसरण करने से हमारा दम घुटने लगेगा और सव तरह की उन्नति रुक जाएगी। जहा तक गीता से सम्वन्ध है, मैं उसे कोई ऐतिहासिक सवाद नही मानता। आध्यात्मिक सिद्धान्त समझाने के लिए उसमे भौतिक उदाहरण लिए गए हैं। चचेरे भाइयो के दरम्यान हुए युद्ध का उसमे वर्णन है। 'अहिंसा परमो धर्म' जीवन का एक उच्चतम सिद्धान्त है। उसके पालन से यदि जरा भी हम च्युत हो तो उसे हमारा पतन समझना चाहिए। भूमिति की सरल रेखा काले तख्ते पर चाहे न खीची जा सकती हो, परन्तु उस कार्य की

असम्भवता के कारण वह व्याख्या नही बदली जा सकती।[1]

मछली, वनस्पति और जल-जन्तु

अहिंसा के सम्बन्ध मे एक प्रश्न उनके सामने आया। मछली पकडना हिंसा है। शाक के लिए वनस्पतियो को उखाडना हिंसा है। जन्तु-नाशक द्रव्य पानी मे डालना हिंसा है। अब बताइए दुनिया मे कैसे रहे ?

गाधीजी लिखते हैं—एक पौधे को उखाडना भी बुरा है। किसी खूबसूरत गुलाब के फूल को तोडते किसे वेदना नही होती ? किसी घास-पात को तोडते समय हमे वेदना नही होती, इससे कही सिद्धान्त मे बाधा पड सकती है ? इससे यही सूचित होता है कि हमे पता नही है कि प्रकृति मे घास-पात का क्या स्थान है। अतएव किसी भी प्रकार की हानि पहुचाना अहिंसा-सिद्धान्त का उल्लघन करना है। अहिंसा के पूर्ण पालन की अवस्था मे अवश्य ही जीवन की स्थिति असम्भव हो जाती है। अतएव हम सब मर जाए तो परवा नही, सत्य को कायम रहने देना चाहिए। प्राचीन ऋषि-मुनियो ने इस सिद्धान्त को आखिरी मर्यादा तक पहुचाया है और यह कह दिया है कि भौतिक जीवन एक दोष है, एक जजाल है। मोक्ष देहादि के परे की ऐसी अदेह सूक्ष्म अवस्था है, जहा न खाना है, न पीना है और इसीलिए जहा न दूध दुहने की आवश्यकता है और न घास-पात को तोडने की। सम्भव है इस तत्त्व को समझना या ग्रहण करना कठिन हो। सम्भव है कि पूर्णतः उसके अनुकूल जीवन व्यतीत करना असम्भव हो और है भी। फिर भी मुझको इस बात मे कोई सन्देह नही है कि सत्य यही है और इसीलिए भलाई इस बात मे है कि हम अपने जीवन को अपनी पूरी शक्ति भर उसके अनुकूल बनावें। यथार्थ ज्ञान हो जाना मानो आधी लडाई को जीत लेना है। इस भव्य सिद्धान्त का हम जितना ही पालन अपने जीवन मे करते हैं, उतना ही वह जीवन रहने और प्रेम करने लायक होता है। क्योकि उस अवस्था मे बजाय खुद सदा शरीर के वश मे रहने के हम अपने शरीर को अपने वश मे रखते हैं।[2]

शिशु के लिए सिंह-बध

केलिफोर्निया (अमरीका) से किसी एक व्यक्ति ने गाधीजी से पूछा—एक केनेडी अपनी पशुशाला मे बैठा था। आगन मे उसकी पौत्री खेल रही थी। अचानक एक पहाडी सिंह पशुशाला मे आया और लडकी पर झपटा। उस केनेडी ने अपनी राईफल उठाई और एक ही गोली मे उस शेर को मार डाला। आप बतलाइए

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १९-२०

२. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० २०-२१

उस कैनेडी का क्या कर्तव्य था ? वह अहिंसा-धर्म का पालन करते हुए यो ही बैठे रहता, यह ठीक था या जो उसने किया ?

गाधीजी ने उत्तर दिया—यह बात बिल्कुल सच है कि अहिंसा की उच्चतम स्थिति पर पहुचना बहुत ही थोडे लोगो के लिए शक्य है। इसलिए मनुष्य जाति आम तौर पर हमेशा सिह और शेर को मारकर अपने बच्चे और पशुओ की रक्षा करती रहेगी। पर इससे मूल सिद्धान्त मे कोई बाधा नही पडती। साधु सन्तो का जगल मे निशस्त्र रहना और किसी भी जगली पशु को दुःख न पहुचाए बिना रहना, यह चमत्कार हिन्दुस्तान मे अज्ञात नही है। पश्चिम मे भी इस बात के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं।[1]

खटमल, मकड़ी का जाला व पतंगे आदि

प्रश्न—माना कि मैं ससारी हू। बडा ख्याल रखने पर भी खटिया मे खटमल हो गए हैं। उन्हे उठाकर रखने मे भी कितने ही मर जाते है। घडे के पानी मे भी जीव पड गए है और उस पानी को फेंक देने पर भी उन छोटे-छोटे जीवो की हिंसा होतीहै। घर मे मकडी ने जाले बनाए हैं। उन्हे साफ करने मे भी हिंसा होती है। मान लो कि मैं एक व्यापारी हू, माल की पेटी मे जीव पड गए है। यदि उन जीवो को मैं दूर न करू तो माल का नुकसान होता है। मैं बाहर घूमने के लिए जाता हू तो उस क्रिया मे भी पैरो के नीचे थोडे-बहुत जीव आ जाते हैं। बत्ती जलाता हू तो यहा भी यही मुश्किल होती है। सिहादि के विषय मे पूछना ही क्या है ? ऐसे दूसरे अनेक दृष्टात मैं दे सकता हू। क्या आप उनका खुलासा कर सकेंगे? ऐसी स्थिति मे अहिंसा धर्म का पालन कैसे किया जाए ?

उत्तर—ऊपर कही गई सभी क्रियाओ मे अवश्य हिंसा है, क्योकि क्रियामात्र हिंसामय है और इसलिए सदोष है। भेद है तो सिर्फ कम व बेशी परिमाण का ही है। देह का और आत्मा का सम्बन्ध ही हिंसा के आधार पर रचा गया है। इस-लिए देहधारी मनुष्य अहिंसा के आदर्श को दृष्टि के समीप रखकर जितना दूर जा सके, उतना दूर जाए। परन्तु अधिक-से-अधिक दूर जाने पर भी कुछ हिंसा का होना तो अनिवार्य ही होगा, जैसे श्वासोच्छ्वास लेने अथवा खाने इत्यादि मे। अनाज के प्रत्येक कण मे जीव है। इसलिए यदि हम मासाहार के बदले अन्नाहार करते हैं तो उसमे हम हिंसा से मुक्त नही गिने जा सकते हैं, परन्तु अन्नाहार मे होने वाली हिंसा को अनिवार्य समझकर उसका आहार करते

---

१ गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ३३

है और इसीलिए तो भोग के लिए आहार सर्वथा त्याज्य है।[1]

प्रश्न—हिंसा की आवश्यकता प्रमाणित हो जाने पर भी क्या सैद्धान्तिक दृष्टि उसमे बाधक होती है ?

उत्तर—ऐसे अवसर पर भी जहा हिंसा की आवश्यकता सिद्ध होती हो, सैद्धान्तिक दृष्टि से हिंसा का समर्थन नही कर सकते। कार्य-साधकता की दृष्टि से उसका बचाव किया जा सकता है।[2]

व्यवसाय और खेती

प्रश्न—अन्य व्यवसायो की अपेक्षा क्या खेती अधिक हिंसा जन्य नही है ?

उत्तर—कार्यमात्र, प्रवृत्तिमात्र, उद्योगमात्र सदोष हैं। आवश्यक उद्यम मात्र मे एक-सा दोष है। मोती के रोजगार मे, रेशम के धन्धे मे, सुनार के पेशे मे खेती से बहुत अधिक दोष है। क्योकि ये धन्धे आवश्यक नही हैं। उनमे हिंसा तो वहुतेरी हुई है। मोती हिंसा बिना मिल नही सकते। रेशम का कीडा उबाला जाता है। सुनार जो आसमानी आग पैदा करता है, उसमे जलने वाले जन्तुओ से यदि पूछे और यदि वे जवाव दे सके तो हमे उनके धन्धे की हिंसा का कुछ ख्याल हो सकता है।[3]

प्रश्न—किसी व्यक्ति या पशु को मारने वाला क्या उस बध्य को दुर्गति देने का पाप नही करता ?

उत्तर—एक मनुष्य दूसरे को मारकर उसे दुर्गति कसे दे सकता है ? यह बात मेरी समझ के वाहर है। मनुष्य अपने ही बन्धन और मोक्ष का कारण होता है, दूसरे का नही। अहिंसा-धर्म का पालन अपने ही मोक्ष के लिए होता है।[4]

अहिंसा और उपयोगितावाद

प्रश्न—क्या आपका सिद्धान्त उपयोगितावाद पर आधारित नही है। उपयोगितावाद का अर्थ है—अधिकाश लोगो का अधिक लाभ। सामान्यत वह अर्थ-सिद्धि के लिए हिंसा-अहिंसा मे भेद नही मानता। आप अपना स्थिति स्पष्ट करे।

उत्तर—अहिंसावादी उपयोगितावाद का समर्थन नही कर सकता। वह तो

१. गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ४७
२ गांधीजी खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० २६
३. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ३६
४. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ७५

'सर्वभूतहिताय' यानी सबके लिए अधिकतम लाभ के लिए ही प्रयत्न करेगा और इस आदर्श की प्राप्ति मे मर जाएगा। दूसरो के साथ-साथ वह अपनी सेवा भी मर कर करेगा। सबके अधिकतम सुख के अन्दर अधिकाश का अधिकतम सुख भी मिला हुआ है, इसलिए अहिंसावादी और उपयोगितावादी अपने रास्ते पर कई बार मिलेंगे, पर अन्त मे ऐसा अवसर भी आएगा, जब उन्हे अलग-अलग रास्ने पकडने होगे और किसी-किसी दशा मे एक-दूसरे का विरोध भी करना पडेगा।

अहिंसा सिद्धान्त के अनुसार यूरोपीय महासमर सरासर अनुचित मालूम होता है। उपयोगितावाद के अनुसार प्रत्येक पक्ष ने उपयोगिता के अपने विचार के अनुसार अपना पक्ष न्यायसिद्ध कर दिया है। उपयोगितावाद के सहारे जलिया वाला बाग-काण्ड को भी उसके करनेवालो ने न्याय-सिद्ध कर दिखाया। ठीक इसी तर्क मे अराजक भी अपनी हत्याओ का समर्थन करते हैं, किन्तु सर्वभूतहित-वाद के सिद्धान्त की कसौटी पर इनमे से किसी भी काम को समुचित सिद्ध नही किया जा सकता।[1]

भावना और कार्य

प्रश्न—मानव समाज का नाश करनेवाले आदमी के नाश को क्या आप अहिंसा न मानेंगे, जबकि वह केवल समाज-हित की भावना से ही किया जाता है।

उत्तर—यह यथार्थ है कि मैंने भावना को प्राधान्य दिया, किन्तु अकेली भावना से अहिंसा नही सिद्ध हो सकती। यह सच है कि अहिंसा की परीक्षा अन्त मे भावना से होती है। किन्तु यह भी उतना ही सच है कि कोरी भावना से ही अहिंसा न मानी जाएगी। भावना-माप भी कार्य पर से ही निकालना पडता है और जहा स्वार्थ के वश होकर हिंसा की गई है, वहा भावना चाहे कितनी ही ऊची क्यो न हो तो भी स्वार्थमय हिंसा तो हिंसा ही रहेगी। इससे उलटे जो आदमी मन मे वैर-भाव रखता है, किन्तु लाचारी से उसे काम मे नही ला सकता, उसे वैरी के प्रति अहिंसक नही कहा जा सकता। क्योकि उसकी भावना मे वैर छिपा हुआ है। इसलिए अहिंसा का माप निकालने मे भावना और कार्य दोनो की परीक्षा करनी होती है।[2]

ज्ञानपूर्वक दया

प्रश्न—मनुष्य-भक्षी जाति से मनुष्य-भक्षण छुडाना और पशु के मास से

---

१ गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ८३-८४

२. गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ११५

अपना निर्वाह करने की बात कहना, मास खानेवाले लोगो को फल, फूल वनस्पति से जीवन-निर्वाह करने की बात कहना क्या अहिंसा है ? अहिंसा की दृष्टि मे जीवमात्र समान हैं।

उत्तर—सर्वभक्षी जब दया से प्रेरित होकर भक्ष्य पदार्थों की मर्यादा निश्चित करता है, तब उस हद तक वह अहिंसा-धर्म का पालन करता है। इसके विपरीत जो रूढि के कारण मास आदि नही खाता वह अच्छा तो करता है, लेकिन यह नही कहा जा सकता कि उसमे अहिंसा का भाव है ही। जहा अहिंसा है, वहा ज्ञान-पूर्वक दया होनी ही चाहिए।[1]

प्रश्न—आप दया और अनुकम्पा के स्थान पर जब तब अहिंसा शब्द का प्रयोग करते हैं, इससे भ्रान्ति पैदा होती है ?

उत्तर—अहिंसा और दया मे उतना ही भेद है, जितना सोने और सोने के गहनो मे, बीज मे और वृक्ष मे। जहा दया नही, वहा अहिंसा नही। अत यो कह सकते है कि उसमे जितनी दया है, उतनी ही अहिंसा है। अपने पर आक्रमण करनेवालो को मैं न मारू, उसमे अहिंसा हो भी सकती है और नही भी। डरकर अगर उसे न मारू तो वह अहिंसा नही हो सकती। दया-भाव से ज्ञानपूर्वक न मारने मे ही अहिंसा है।[2]

महात्मा गाधी के अहिंसा चिन्तन मे जैन अहिंसा-दृष्टि का भी प्रभाव रहा है। गाधीजी ने जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरी, हेमचन्द्राचार्य, अमृत-चन्द्रसूरी प्रभृति आचार्यो के अहिसा सम्बन्धी विशेषावश्यकभाष्य,[3] पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय[4] आदि ग्रन्थ पढे है, ऐसा अनेक सदर्भो से स्पष्ट होता है।

तत्त्व-निरूपण और लोक-धारणा

अहिंसा के सूक्ष्म निरूपण बहुधा लोक-धारणा और लोक-व्यवहार के साथ मेल नही खाते। इसीलिए तो आचार्य भिक्षु को, साले का सर काट दूगा,[5] भिक्षु करोड कसाइयो से भी अधिक बुरा है,[6] जी करता है भिक्षुजी को कटारी से मार

---

१. गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ११७

२ गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ११६-१७

३ नवजीवन ता० १३-१-२८

४ गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ७७

५ भिक्खु दृष्टान्त ६१

६. भिक्खु दृष्टान्त ८४

दू[1] आदि बीभत्स वाक्य अपने कानो से सुनने पडते थे। एक चर्चावादी तो उनकी छाती मे मुक्का मारकर ही चलता बना।[2] अपने निर्भीक निरूपण को लेकर उन्हे नाना लोक-यातनाओ का सामना करना पडा।

इस विषय मे गाधीजी की स्थिति भी लगभग यही थी। उनके अहिंसा सम्बन्धी निरूपणो से बहुत बार लोग बौखला उठते और अपने कटु उद्गार उन तक पहुचाते। गाधीजी ने स्वय ऐसे प्रसगो का उल्लेख किया है। उनके शब्द है—कितनेक लोगो का कहना है, मेरा साठवा वर्ष बैठा है, इसलिए ही मेरी बुद्धि का नाश हुआ है। तो कितनेक लोग कहते हैं—ऐसा धर्म आपको अभी बुढापे मे सूझा है क्या ? यदि पहले ही सूझा था तो इतने दिन मुह मे दही जमाए क्यो बैठे थे ?[3] अब आपको अहिंसा के क्षेत्र से त्याग-पत्र दे देना चाहिए।[4] आप महात्मा माने जाते हैं, इसलिए समाज के बहुत से लोग आपके रास्ते पर चलकर दु खी और पामाल हो रहे हैं।[5]

सत्य-निरूपण मे दोनो ही विचारक टलते नही थे। एक बार गाधीजी ने किसी प्रसग से कहा था—मच्छरो, मक्खियो और चूहो को भी जीने का उतना ही अधिकार है, जितना कि मेरा। अमेरिका के पत्रो मे इस बात का बहुत ही उपहास हुआ। वहा के एक हितैषी ने गाधीजी को लिखा—मैं नही मानता, आपने ऐसी बेवकूफी भरी बातें कही होगी, अत आवश्यक है, आप एक प्रतिवाद लिखकर भेजे, जिसे मैं यहा समाचार-पत्रो मे प्रकाशित कर सकू। गाधीजी ने उस पर लिखा—खेद है, मेरी बेवकूफी को मिटाने का श्रेय आपको मिलना सम्भव नही है।[6]

महात्मा गाधी इन आलोचनाओ मे वेदनाशील भी होते देखे जाते हैं। प्रसगवश वे लिखते है—मेरे नाम इस विषय मे ढेरो पत्र आए है। इनमे से कोई मीठा, कोई तीखा और कोई कडवा है। मेरे मित्र भी मेरा अभिप्राय नही समझ सके हैं। मेरे नसीब से मेरे जीवन मे हमेशा ऐसा ही होता चला आया है।[7]

मैंने टीकाकारो का रोष बहुत बटोर लिया है। कोई गालिया देकर अपनी

---

१ भिक्खु दृष्टान्त ७४
२. भिक्खु दृष्टान्त ४७
३. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ६६
४. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १११
५ गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग ४ पृ० ४३४
६ गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग २ पृ० १८०-१८१
७. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ५६

अहिंसा की परीक्षा दे रहा है, कोई सख्त टीका करके मेरी अहिंसा की परीक्षा ले रहा है।[1]

आचार्य भिक्षु का उग्र सत्य

आचार्य श्री भिक्षु से उनके उत्तराधिकारी शिष्य भारमलजी स्वामी ने पूछा—आप छद्मस्थ भगवान् महावीर को चुका कहते है, यह लोगो को बहुत ही अप्रिय लगता है। आचार्य भिक्षु ने कहा—जो मैं कहता हू, वह सत्य है या नही ?

भारमलजी—सत्य तो है ही।

आचार्य भिक्षु—फिर प्रिय और अप्रिय होने की चिन्ता मत करो।[2]

आचार्य भिक्षु से किसी ने कहा—आपका उग्र निरूपण क्या वास्तव मे निन्दा या हिंसा नही है ?

आचार्य भिक्षु—एक धनवान् अपने लडके को सीख देता है, जिसका धन उधार लिया जाए, उसे यथासमय वापिस करना चाहिए, नही तो लोग दिवालिया कहते हैं।

पडोसी सचमुच ही दिवालिया था। उसे यह सीख चुभती और वह झल्लाकर कहता है, बेटे को ऐसी सीख न दिया करो, मेरी छाती जलती है।

आचार्य भिक्षु ने प्रश्नकर्ता से कहा—ठीक इसी प्रकार मैं तो अपने शिष्यो को साध्वाचार सिखलाता हू। शिथिलाचारी कुढते है, यह तो उनका अपना ही दोष है।[3]

आचार्य भिक्षु की दृष्टि मे पाप की आलोचना असगत नही पापी की आलोचना असगत हो सकती है।

गांधीजी की स्पस्टवादिता

गाधीजी ने चीन मे रहे पादरियो के धर्म-परिवर्तन कार्य की तीव्र आलोचना की। ईसाई जगत् मे एक उद्वेलन आ गया। वरीष्ठ लोगो ने गाधीजी को लिखा—आपका हमेशा का स्वभाव तो विशिष्ट शान्ति, धैर्य व समय से बात करने का है। आप इस कठोरता को सहज ही टाल सकते थे। इस कठोरता मे आपने पादरी-वर्ग के प्रति हिंसा की है।

---

१ गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १११

२ भिक्खु दृष्टान्त १७८

३ भिक्खु दृष्टान्त ६०

गाधीजी के विस्तृत उत्तर का अभिप्राय है—ईसामसीह ने अपने जमाने के कुछ लोगो को 'सापो की औलाद' कहा था। उनके शब्दो व कार्यो से लोगो को इतनी चोट पहुची कि वे उनकी जान के गाहक बन गए। क्या ईसामसीह ने वचन द्वारा हिंसा की थी ?

सत्य यदि कठोर हो सकता है तो उसे व्यक्त करने का नम्रतापूर्ण मार्ग ऐसा कौन-सा है, जिससे कि विरोधी को क्रोध आए ही नही। किसी चोर के कार्य को मैं चोरी कहकर ही व्यक्त करू या 'द्राविडी प्राणायाम' जैसी भाषा मे मैं उसके विषय मे यह कहू कि वह साहूकारी के चारो ओर की भूमि मे भ्रमण करता है, हत्यारे के लिए कहू कि वह निर्दोष खून करता है। इन प्रयोगो मे भी क्या निश्चितता है कि दोषी का दिल दुखेगा ही नही। मेरे मतानुसार कठोर सत्य विवेक और नम्रतापूर्वक कहा जा सकता है। पादरियो की प्रवृत्ति के विषय मे मैंने जो वचन कहे हैं, वे किसी प्रकार हिंसक नही ठहरते।[1]

मत-विभिन्नता भी

आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी के अहिंसा मन्तव्यो मे क्वचिद् अत्यन्त भिन्नताए भी थी। मरणशील को मृत्युदान[2] का विचार गाधीजी का अपना निराला था। आचार्य भिक्षु साधु-दीक्षा मे थे। अत जीवन-व्यवहार मे हिंसा का अनुमोदन मात्र भी उनके लिए वर्जित था। गाधीजी एक लोकपुरुष थे। वे अपने सामाजिक दायित्व को समझते हुए समाज-धर्म के रूप मे हिंसा का आदेश व अनुमोदन भी करते थे। सामाजिक लोग कहा तक हिंसा कर सकते है और कहा तक नही, इस तथ्य को तोलने की उनके पास अपनी तुला थी। एक ओर उन्होने अहमदावाद के प्रमुख उद्योगपति सेठ अम्बालाल द्वारा साठ पागल कुत्तो के मरवा डालने को यह कहकर कि इसके सिवाय और दूसरा हो क्या सकता था, अनुमोदित किया और सारे देश का रोष अपने ऊपर लिया, दूसरी ओर अग्रेजो की हत्या के लिए उग्र युवको के विषय मे पुन -पुन वे कहते रहे—नौजवान मुझसे कहते हैं कि यदि मैं उनकी मदद नही कर सकता तो मैं चुप ही रहू और उनके मार्ग मे रोडे न अटकाऊ। उन्हे मेरा यही उत्तर है कि यदि आप अग्रेज अधिकारियो को मारना ही चाहते हैं तो उनके बजाय मुझे ही क्यो नही मार डालते ? अपने ढग से आपके मार्ग मे रोडे अटकाने के आपके आरोप का मैं अपने को अपराधी स्वीकार करता हू। यह मेरा ध्येय है। मुझपर दया न करो, मुझे सीधी राह ठिकाने लगा दो। लेकिन जब तक

---

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग २ पृ० १८३-१८४

२ विशेष विवरण के लिए देखें 'आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी'

मेरे अन्दर प्राण हैं, मैं अपने ढग से आपका विरोध करूगा ही। यदि आप मुझे छोडते हैं तो आप सरकारी नौकरो पर, चाहे वे बडे हो या छोटे, हाथ न डालिए।

मुसलमानो द्वारा किए गए अभद्र व्यवहारो के बावजूद भी वे हिन्दुओ को अहिंसा से काम लेने की अपील ही करते रहे और उसी मे अपने प्राण दे दिए। अपने ऊपर बम फेकनेवालो को भी उन्होने क्षमा किया था। इस प्रकार आचार और विचार से समुद्भूत गाधी-अहिंसा इस युग का एक स्वतन्त्र जीवन-दर्शन बन गई है। सुप्रसिद्ध विचारक श्री हरिभाऊ उपाध्याय लिखते हैं—महात्मा गाधी ने प्रत्येक विचारधारा को परखा और उसे समन्वय दृष्टि दी। उनकी दृष्टि उसी सूक्ष्मता को पहुची, जहा उसने एक नवीनवाद का सूत्रपात किया और उसे कह सकते है—गाधी-धर्म। श्रेष्ठता और सूक्ष्मता की दृष्टि से जैन-धर्म और गाधी-धर्म सम हैं। महात्मा गाधी एक नये समन्वयात्मक धर्म के अधिष्ठाता कहे जा सकते है, जबकि आचार्य भिक्षु परम्परा से आते हुए एक पुरातन धर्म को नये सिरे से मान्यता देनेवाले थे। महात्मा गाधी ने गाधी-धर्म की सृष्टि की। आचार्य भिक्षु ने जैन-धर्म की पुनर्जागरणा की। दोनो का तत्त्व-चिन्तन विभिन्न परिस्थितियो मे होते हुई भी बहुत कुछ समान दृष्टि रखता है।[1]

कथनी करनी में भेद

"अमृत सबके लिए समान है। वह किसी के लिए विष नही होता। अनुकम्पा भी सबके लिए समान है। वह एक (श्रावक) के लिए आचरणीय और एक (साधु) के लिए अनाचरणीय नही होती।"[2]

किसी एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति से कहा—तेरे शरीर मे वायु की व्याधि है। सातवी मजिल पर से नीचे गिर, तेरा रोग मिट जाएगा। उसने कहा तेरे भी तो यही रोग है? तू भी तो ऐसा कर। वह बोला, मैं ऐसा नही कर सकता। ऐसा करने मे मेरी तो हड्डी-हड्डी बिखर जाएगी। उसने कहा, यह कौन-सा न्याय है कि तेरी तो हड्डी-हड्डी बिखर जाएगी और मेरा रोग भी मिट जाएगा।[3]

अनुकम्पा की दृष्टि से जैन परम्पराओ मे एक बहुत बडा विषवाद चलता

---

१. भूमिका—आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी

२. साध श्रावक दोनू तणी, एक अनुकम्पा जाण।
इमरत सहु नें सारिषो, कूडी मत करो ताण॥
—अनुकम्पा चौपई गीति २ दोहा ३

३. भिक्खु दृष्टान्त ७२

है। कहा जाता है, अमुक प्रकार की अनुकम्पा हम साधु तो नही कर सकते, हमारे व्रत भग होते है। तुम यदि करते हो तो धर्म-पुण्य ही होगा। वे देहपोषक दया और दान के लिए गृहस्थो को प्रेरणा देते हैं, पर उनके अपने पास कोई क्षुधातुर या तृषातुर चला आए, उनके पास भोजन और पानी वर्तमान हो तो भी आगन्तुक की भूख और प्यास नही बुझाते। कहते हैं, ऐसा करने मे हमारे महाव्रत टूटते है। कोई शीत-पीडित व्यक्ति उनसे वस्त्र की याचना कर ले या कोई राह-भ्रष्ट पथिक उनसे मार्ग-जिज्ञासा कर ले तो न वे वस्त्र ही देते है और न वे मार्ग ही बतलाते है। कहने भर के लिए ही क्या वे जाव-रक्षा करते है? सचमुच ही अहिंसा-चिन्तन मे यह एक अक्षम्य विषवाद है। साधु और गृहस्थ के धर्म मे अणुव्रतो का और महाव्रतो का अन्तर है। वह अन्तर केवल व्रत-परिमाण का है न कि अहिंसा, सत्य आदि व्रतो के आधारभूत सिद्धान्तो का। अहिंसा, सत्य आदि गृहस्थ के लिए अशत उपास्य हैं तो साधु के लिए पूर्णत। देहोपचायक दया भी यदि उपास्य धर्म है तो साधु के लिए वह पूर्णत उपास्य धर्म होना ही चाहिए। यदि ऐसा नही माना जा सकता तो सोचना चाहिए, एतद्विषयक मूल धारणा मे ही कही भूल है और वही भूल है जिसे आचार्य भिक्षु ने लौकिक दया और लोकोत्तर दया के भेद युग्म से सुधारा है। सिद्धान्त वह है जो सम स्थिति मे सम प्रकार से चलता जाए।

दूसरा विषवाद यह चलता रहा है, हम यह अनुकम्पा तो कर सकते है, यह नही। आचार्य भिक्षु ने ऐसी निर्मूल मान्यताओ पर तीव्र प्रहार किया। वे साधु कहते हैं—कोई पक्षी अपने घोसले से अकस्मात् नीचे आ गिरा तो हम उसकी अनुकम्पा कर उसे पुन घोसले मे सस्थापित कर देते है। बिल्ली चूहे पर झपट रही हो तो हम उस बिल्ली को भगाकर चूहे का बचा लेते है। आचार्य भिक्षु ने कहा, कोई तपस्वी श्रावक कायोत्सर्ग करके बैठा है। अचानक उसे मूर्च्छा आ गई। गिर पडने मे गर्दन भी बुरी तरह से दब गई है। तब तुम क्या करोगे? इस पर वे कहते हैं—हम तो साधु हैं। हम गृहस्थ की सार-सम्भाल नही कर सकते। आचार्य भिक्षु कहते है, जिनकी अनुकम्पा मे इतना विरोधाभास है, उन्होने अनुकम्पा के मूल को पकडा नही है। सौ श्रावको का पेट दु ख रहा है। साधु अकस्मात् वहा पहुच गए। श्रावको ने कहा, हम लोग दर्द के मारे मर रहे है। आप हमारे पेट पर हाथ फिराते रहे। हमे बहुत शान्ति मिलेगी। स्यात् हम मरने से बच भी जाएगे। वहा साधु क्या करें? वे जीव-रक्षा के उपदेशक तब कहते है, गृहस्थ की परिचर्या करना साधु को कल्पता नही।[1] आचार्य भिक्षु ने कहा—यह कैसी जीव-दया है?

---

१ अनुकम्पा चोपई गीति ६ गाथा २ से ५

एक ही जैसे प्रसगो से एक को कल्प्य मानते है, एक को अकल्प्य । वे एक जैसी वात नही कहते । गृहस्थ के पैर के नीचे कोई जीव आकर मर रहा है। वे कहते हैं—हम उसे अवश्य वचाते है। गृहस्थ के भाजन से रह-रहकर तेल निकल रहा है। उस वहते तेल मे अनेक जीव लपेट मे आ रहे है। वही तेल चीटियो की दरारो मे से गुजर रहा है और आगे वह अग्नि मे पहुच रहा है। तव कहते है—हमे यह सव वताना नही कल्पता।[1] आचार्य भिक्षु ने कहा—यह सव अनुकम्पा को हार्द न समझने का परिणाम है। मूर्ख वहू का पीपल को लाने जैसा प्रयत्न है।[2] घर मे कोई मगल प्रसग था। सास ने पुत्रवधू से कहा—पास के चौराहे से पीपल ले आ। सास का अभिप्राय पीपल की टहनी तोडकर लाने से था। वहू नासमझ थी। वह पीपल के पास पहुचकर कहने लगी—पीपल ! घर चलो, सास वुलाती है। वार-वार यह वात कहती रही। पीपल जरा भी आगे सरका नही। तव वह पीपल के तने मे रस्सा डालकर जोर से खीचने लगी। आयास करते करते हाथ लोहू-लुहान हो गए। कोई विज्ञ पुरुष आया। उसने सारा हाल उससे पूछा। सव कुछ सुनकर उसने कहा—तू तो वहुत ही नासमझ ठहरी। सास के कहने का तात्पर्य समझे विना व्यर्थ ही खीचातान मचा रही हो।

जो साधु वढ-वढकर यह कहा करते थे—हम विल्ली से चूहे को वचाकर दया-धर्म का पालन करते हैं। आचार्य भिक्षु ने उनके समक्ष तत्सदृश छ्व उदाहरण और रखे और पूछा—

१ तालाव मे मछलिया और मेढक भरे हैं। लट, जलोक आदि अनेक जीव इधर-उधर रेग रहे है। स्थावर जीवो की भी वहा भरपूर उत्पत्ति है। एक भैंस गर्मी से व्याकुल हो, उसमे लोटने जा रही है। यदि भैंस को रोका जाता है तो उसकी हिंसा है और नही रोका जाता है तो तालाव मे रहे अनगिन प्राणियो की हिंसा है। उस स्थिति मे वे साधु अहिंसा धर्म का पालन कैसे करेंगे ?

२ सडे धान का ढेर लगा है। उसमे लट, ईली, अण्डे आदि जीव किलविलाहट कर रहे है। एक भूखा वकरा उस अन्न को खाने जा रहा है। यदि उसे रोका जाता है तो वह वेचारा भूखो मरता है। नही रोका जाता है तो धान और उसमे रहे अनेको प्राणियो की हिंसा होती है। उस स्थिति मे वे अहिंसा धर्म का पालन

---

१. अनुकम्पा चौपई गीति ८ गाथा १८-२०

२. किण हीक छोड़ें जीव बतावै, किण हीक ठोड संका मन आणें।
समझ पड़्यां विण सरधा परूपे, पीपल बांधी मूर्ख ज्यूं ताणें॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ८ गाथा ३२

कैसे करेंगे ?

३ अनन्तकाय वनस्पति से गाडी भरी है। उसमे चार पर्याय और चार प्राण वाले अनन्त जीव हैं ही। एक भूखा बैल उसे खाने जा रहा है। एक ओर वनस्पति की हिंसा है, एक ओर बैल की। उस स्थिति मे वे अहिंसा धर्म का पालन कैसे करेंगे ?

४ पानी के मटके भरे पडे है। जिनमे नीलण-फूलण छाई हुई है। लट आदि अनगिन प्राणी पैदा हो गए है। प्यास से व्याकुल गाय उन पर आकर खडी है। वे अहिंसा धर्म का पालन कैसे करेंगे ?

५ कूडे-करकट का ढेर लगा है। वर्षा मे खाद भीग गई है। गिण्डोले और गधिये तलबल कर रहे है। उस समय पक्षी आए और लट आदि प्राणियो को चुगने लगे हैं। इस स्थिति मे अहिंसा धर्म का पालन कैसे करेंगे ?

६ गुड, खाण्ड आदि पदार्थो पर अगणित मक्खिया बैठी है। मक्खे उन मक्खियो को मारने के लिए मडरा रहे हैं। वे साधु अहिंसा धर्म का पालन कैसे करेंगे ?

आचार्य भिक्षु ने कहा—बिल्ली से चूहे को बचाने के लिये तो तत्पर होते हैं, शेष उदाहरणो मे चुप रहते है, यह कैसा विषवाद ?

सातो ही प्रश्नो पर आचार्य भिक्षु का अभिमत था—साधु की दृष्टि मे जीव-मात्र समान है। जहा कुछ की हिंसा है और कुछ की दया है, वहा साधु तटस्थ और मौन रहे।[1]

महात्मा गाधी से एक भाई ने पूछा—छोटे जीव-जन्तुओ को एक-दूसरे का आहार करते अनेक वार देखता हू। मेरे यहा एक छिपकली है। उसे यही काम करते मैं रोज देखता हू। बिल्ली को पक्षियो पर झपटते भी देखता हू। क्या मुझे यह देखते रहना चाहिए ? उन हिंसक जीवो को रोकता हू तो उनकी हिंसा हो जाती है। ऐसी स्थिति मे आप बताए क्या करना चाहिए ?

गाधीजी ने उत्तर मे लिखा—क्या मैं ऐसी हिंसा नही देखूगा ? बहुत बार मैंने छिपकली को तिलचट्टो का शिकार करते तथा तिलचट्टो को दूसरे जीव-जन्तुओ का शिकार करते देखा है। किन्तु 'जीवो जीवस्य जीवनम्' एक जीव दूसरे जीव का आधार है, यह नो प्राणी-जगत् का नियम है, उसमे हस्तक्षेप करना मुझे कभी कर्तव्य नहीं सूझा। ईश्वर की इस अगम्य उलझन को सुलझाने का मैं दावा नही करता।

---

१ अनुकम्पा चौपई गीति ४ गाथा १ से १३

आगमों में अनुकंपा-प्रसंग

आचार्य भिक्षु एक शास्त्र-शोधक थे। दया और अनुकम्पा शब्द पर उन्होने शास्त्रो की बहुत गहरी शोध की। शास्त्रो का एक भी अनुकम्पा शब्द उनकी टिप्पणी से अछूता रहा हो, ऐसा नही लगता। उन्होने उपलब्ध अनुकम्पा के प्रसगो को सावद्य और निरवद्य दो भागो मे बाटा। इस विषय मे सयम-असयम, आज्ञा-अनाज्ञा निश्चल मानदण्ड सर्वदा उनके साथ रहे।

१ मेघकुमार ने हाथी के भव मे शशक की अनुकम्पा की। अपना पैर ऊपर उठाए रखा। भयकर कष्ट सहा। यह निकेवल हिंसा दोष से बचानेवाली आत्म-उन्नायक और आज्ञा-सम्मत दया थी। देहोपचायक दया यदि उसका लक्ष्य होती तो वह जगल के प्राणियो को सूड से पकडकर दावानल से बचाने का प्रयत्न करता। शशक को भी सूड से उठाकर अपनी पीठ पर क्यो नही रख लेता।[1]

२ अरिष्टनेमि ने सारथी के द्वारा बहुत सारे प्राणियो के विनाश की बात सुनकर सोचा—मेरे लिए बहुत सारे प्राणियो का विनाश हो, यह मेरे परभव के लिए श्रेयस्कर नही होगा। यह भी आत्म-उन्नायक (निवर्तक) दया का ही उदाहरण है। अवरुद्ध प्राणियो को उन्होने बन्धन-मुक्त करवाया हो, ऐसा उल्लेख नही है।[2]

३ धर्मरुचि अनगार ने शाक की एक बूद डालकर कीडियो को मरते देखा तो वे समग्र कडवे तुम्बे का शाक स्वय खा गये। यह नितान्त निरवद्य अनुकम्पा थी।[3]

४ भगवान् श्री महावीर ने छद्मस्थावस्था मे शीतल तेजोलेश्या का प्रयोग कर गौशालक को बचाया। यह उनकी सराग अनुकम्पा थी। साधु लब्धि का प्रयोग कर प्रायश्चित्त का भागी होता है, इसलिए यह छद्मस्थ भगवान महावीर की भूल भी थी। वीतराग-दशा मे भगवान् के सम्मुख उनके दो साधुओ को उसी गौशालक ने भस्म कर दिया। उस समय भगवान् ने उन दो मुनियो की रक्षा के लिए तथा-प्रकार का कोई प्रयत्न नही किया। अन्य लब्धिधारी मुनियो ने भी लब्धि का प्रयोग नही किया।[4] टीकाकर श्री अभयदेवसूरी ने भी कहा है—भगवान् ने गौशालक का सरक्षण सरागभाव से किया था। मुनि युग्म का असरक्षण वीतराग-दशा का

---

१. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १ से ४

२ अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा ५-६

३ अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा ७

४ अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा ८ से १० तथा गीति १०

परिचायक है।[1]

५. अनुकम्पामात्र ही निरवद्य नही हुआ करती, यह समझाने के लिए जिन ऋषि का उदाहरण यथेष्ट है। कामविह्वलता का छद्म करनेवाली रयणादेवी के सामने राग वशगत जिनऋषि ने अनुकम्पा पूर्ण दृष्टि से देखा। शेलक यक्ष ने अपनी पीठ से उसे नीचे डाल दिया और उस धूर्त देवी ने उसे खड्ग मे पिरो लिया। यह अनुकम्पा सावद्य थी।[2]

६ सुलसा हरिणेगमेपी देवता की भक्ता थी। उसके पुत्राभाव को मिटाने के लिए देवकी के छ पुत्र क्रमश अनुकम्पापूर्वक उसके यहा लाकर रख दिए, यह अनुकम्पा प्रत्यक्ष सा॒द्य थी।[3] यह तो स्पष्ट अपने राग-बन्धन का निर्वाह था।

७ हरिकेशी मुनि यज्ञ-मण्डप मे आए। ब्राह्मणो ने उनका अपमान किया। सेवा-भावी यक्ष ने ब्राह्मणो को ऐसे प्रताडित किया कि उनके मुह से रक्त बहने लगा। एक की हिंसा कर दूसरे की रक्षा सावद्य अनुकम्पा ही होती है।[4]

८ धारिणी रानी ने गर्भावस्था मे गर्भ की अनुकम्पा के लिए मनोज्ञ पदार्थ खाए। यह अनुकम्पा सावद्य थी।[5] गर्भ-पोपण का रागमूलक कार्य क्या अध्यात्म हो सकता है ?

९ अभयकुमार के मित्र देव ने अभयकुमार पर अनुकम्पा की और धारिणी रानी की दोहद पूर्ति के लिए देव-शक्ति से अकाल वर्षा की। यह सावद्य अनुकम्पा है।[6] इस अनुकम्पा मे निकेवल लौकिक भाव था।

१० श्रीकृष्ण अरिष्टनेमि प्रभु को वन्दन करने के लिए जाते थे। एक पुरुष कुछ दूर से एक-एक ईंट उठाकर अपने घर मे रख रहा था। श्रीकृष्ण ने भी एक ईंट वहा से उठाकर उसके घर पहुचा दी। यह अनुकम्पा सावद्य है।[7] यह लौकिक

---

१ इह च यद् गोशालकस्य सरक्षणं भगवता कृतं तत्सरागत्वेन दयैकरसत्वाद्भगवत सुनक्षत्रसर्वाणुभूतिमुनिपुगवयोर्न करिष्यति तद्वीतरागत्वेन लब्धिनुपजीवकत्वात् अवश्यं भावित्वाद्वेत्यवसेय।

—भगवतीसूत्र वृत्ति शतक १५

२ अनुकपा चौपई गीति १ गाथा ११

३. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १२

४ अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १३

५ अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १४

६ अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १५

७ अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १६

उपकार मात्र था। इससे उस वृद्ध के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणो की जरा भी वृद्धि नही हुई।

११ गजसुकुमाल मुनि ने अरिष्टनेमि प्रभु की आज्ञा लेकर श्मशान मे कायोत्सर्ग किया। सौमिल ब्राह्मण ने उनके शर पर अगारे रख दिए। गजसुकुमाल ने दयाभाव से अपने शर को हिलाया तक नही। यह अनुकम्पा निरवद्य थी।[1] इसमे आत्म-सयम का अग्नि के जीवो के प्रति अहिंसाभाव था और सौमिल के प्रति क्षमा-भाव।

तत्त्वज्ञ लोगो ने सराग अनुकम्पा का कठिन परिस्थितियो मे भी आचरण नही किया। आगमो ऐसे उल्लेख भी अनेको मिलते है।

१२ अरणक श्रावक को बीभत्स रूपवाले देव ने कहा—यदि तुम धर्म नही छोडते हो तो मैं नावा को ऊपर उठाकर ज्यो का त्यो उलट दूगा। तेरे साथ सब लोग मर जाएगे। अन्य लोग करुण विलाप करने लगे, पर अरणक ज्यो का त्यो अडिग रहा। लोगो के जीने मरने की ओर जरा भी ध्यान नही दिया। देवता पराजित हुआ और उसकी धर्म दृढता की श्लाघा करता हुआ अपने स्थान गया।[2]

१३ नमि राजर्षि ने साय-साय जलती हुई मिथिला नगरी की ओर झाका तक नही। उनकी इस निर्मोह स्थिति को शास्त्रकारो ने प्रशस्त बतलाया है।[3]

१४ चुलनीपिता श्रावक अपने पौषध व्रत मे अपनी माता को बचाने के लिए उठा। इससे उसका पौषधव्रत भग हो गया। सूरादेव, चुलशतक, सकडाल आदि के सम्मुख भी ऐसे उपसर्ग हुए। जो-जो स्त्री, माता आदि को बचाने के लिए उठे, उनके पौषधव्रत-भग हुए। ये सब सराग अनुकम्पाए थी।[4]

भगवान् श्री महावीर ने दीक्षा-ग्रहण से पूर्व एक वर्ष तक स्वर्ण-मुद्राओ का दान किया।[5] देवता अज्ञात भूमिगत धन लाकर उनके कोष मे रखते[6] और भग-

---

१ अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा २१

२ अनुकम्पा चौपई गीति ३ गाथा १-१०

३ अनुकम्पा चौपई गीति ३ गाथा ११-१६

४. अनुकम्पा चौपई गीति ३ गाथा २८-३७

५ आचारांग सूत्र तथा कल्पसूत्र

६ चिरभ्रष्टानि नष्टानि, प्रक्षीणस्वामिकानि च।
अतिप्रनष्टसेतूनि, गिरिकुजगतानि च॥
श्मशानस्थानगूढानि, गुप्तानि च गृहान्तरे।
रजतस्वर्णरत्नादिधनान्याहृत्य सर्वतः॥

वान् प्रतिदिन एक करोड आठ लाख स्वर्ण-मुद्राओ का दान करते। इस प्रकार समग्र वर्ष मे उन्होने तीनसौग्रठासी करोड अस्सी लाख स्वर्ण-मुद्राओ का दान किया। प्रत्येक तीर्थंकर भी दीक्षा से पूर्व ऐसा करते है।

प्रश्न होता है यह दान किस हेतु से होता होगा ? शास्त्र इस विषय मे मौन हैं, अत नाना हेतु सोचे जा सकते हैं। देव धन एकत्रित करते हैं। भगवान् के हाथो दिलाते हैं, इससे यह अर्थ तो स्पष्ट-स्पष्ट निकल ही आता है कि भगवान् के महिमा-ख्यापन का ही यह एक उपक्रम है। परम्परागत होने के कारण भगवान् उसे करते हैं। आज भी दीक्षार्थी के हाथो से सोने-चादी की अगूठिया वटाई जाती हैं। वे स्मृति की सूचक हैं। मिले भोगो को छोडना ही वास्तविक त्याग है।[१] दान व्यक्ति की सम्पन्नता को व्यक्त करता है। लोग समझ लेते है, भगवान् का सन्यास अभाव का नाम त्याग[२] ऐसा नही है। सबसे महान् अर्थ वर्षीदान का यह निकलता है—सम्पन्नता से मोक्ष नही मिलता। दान-समर्थ लोगो का भी आत्म-कल्याण तो सर्वस्व-त्याग अर्थात् सयम-ग्रहण करने मे ही है।

इस दान को धर्म-पुण्य से जोडने मे तो सहज ही प्रश्न उठ सकता है, वह धर्म-पुण्य मिलेगा किसे ? वह धन तो देवार्जित था। देवो ने भी इधर-उधर से उठाया था। उनके मूल मालिक तो और ही लोग रहे होगे। आचार्य भिक्षु ने कहा—इस प्रकार धन देने मे ही धर्म-पुण्य होता तो देवता भगवान् श्री महावीर की प्रथम वाणी को निष्फल क्यो जाने देते ? अर्थ-दान तो उनके लिए कोई वडी वात ही नही है।[3] आदिनाथ प्रभु ने जव वर्षीदान दिया, दीन, अनाथ याचक रहे ही कौन

वासवादिष्टधनदप्रेरिता जृम्भका. सुरा ।
ददतोऽपूरयन् भर्त्तु, पयांसीव पयोमुचः ॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम् पर्व १ सर्ग ३ श्लोक २० से २२

१ जेय कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइत्ति वुच्चइ ॥
—दसवैकालिक सत्र अ० २ गाथा ३

२ वत्थ गन्ध मलंकार इत्थिओ सयणाणिय ।
अच्छंदा जे न भुजन्ति न से चाइत्ति वुच्चइ ॥
—दसवैकालिक सूत्र अ० २ गाथा २

३ जिण धर्म हुवे सोनइया दीयां, तो देवता देता हाथो हाथ जी।
पूरत मनोरथ मन तणा, वीर वाणी निरफल न गमात जी ॥
रतन हीरा नें माणक पनां, मन मानें ज्यूं देवता देत जी।

होगे ? लोग उनकी दीक्षा-वार्ता से स्वय वैराग्यशील हो रहे थे। उन्होने भगवान् का सम्मान रखने के लिए केवल प्रसाद-वुद्धि से ही दान लिया।[1] न यह पात्र दान था, न करुणादान। धर्म-पुण्य का लेखा-जोखा उसके साथ वैठ ही कैसे सकता है ?

आचार्य भिक्षु और अनुकम्पा चौपई

आचार्य श्री भिक्षु के विस्तृत व्यक्तित्व को थोडे-से शब्दो मे रखना सागर को गागर मे भरने का प्रयत्न मात्र है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की एक झाकी तेरापथ धर्मसघ है। एक छोटा-सा पौधा जो उन्होने अपने हाथो से रोपा, वही आज शतशाखी वट-वृक्ष होकर उनकी स्मृति का एक धर्म-स्तूप वन गया है। तेरापन्थ की प्रत्येक विशेषता मे उनके विखरे वीज ही फूटे हैं। आचार्य भिक्षु एक सिद्धहस्त कृषिक थे। उनके हाथ से गिरा कोई वीज व्यर्थ नही गया। छव साधुओ का उनका समुदाय आज दो सौ वर्षो के पश्चात् छव सौ से भी अधिक श्रमणो का समुदाय वन गया है। तेरह श्रावको की सक्षिप्त सख्या विस्तृत होकर आज लाखो मे चली गई है। तेरापन्थ अपने नवम अधिशास्ता आचार्य श्री तुलसी के नेतृत्व मे अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से आज सर्वजनोपयोगी हो रहा है। यह सव उन्ही दीर्घदर्शी और कुशल व्यवस्थापक आचार्य श्री भिक्षु की देन है।

आचार्य श्री भिक्षु आचार से, विचार से अहिंसक थे। उन्होने शास्त्र-विलोडन किया, अहिंसा का नवनीत पाने के लिए। वे वोले, अहिंसा का तत्त्व समझाने के लिए। उन्होने लिखा, रचा, अहिंसा को अमर वनाने के लिए। उनके अहिंसा तत्त्व की एक झाकी उनके जीवन-प्रसगो (भिक्खु दृष्टान्त) मे मिलती है। विविध मतो के लोग आते और उनसे अहिंसा विषयक प्रश्न पूछते। उत्तर देने की उनकी शैली तात्त्विक होते हुए भी व्यवहारिक होती। उनके तर्क अत्यन्त तीक्ष्ण होते। जिज्ञासु को सन्तोष होता। दुराग्रही की चुप्पी होती। प्रश्न आया—किसी ने चार पैसे देकर सपेरे के पास से सर्प को छुडाया। छूटते ही सर्प चूहे के विल मे गया, पर वहा पर चूहा नही था। छुडानेवाले को धर्म हुआ या पाप ? आचार्य भिक्षु ने प्रश्न का समाधान एक प्रतिउदाहरण से किया। उन्होने कहा—किसी ने कौवे पर गोली चलाई। कौवा उड गया। गोली चलाने वाले को पुण्य हुआ या पाप ? तात्पर्य

वीर रा वाणी सफल करे, देवता पिण लाहो लेत जी॥

—अनुकम्पा चौपई गीत १२ गाथा १-२

१ जातसंसारवैराग्या, दीक्षया स्वामिनो जनाः।
शेषामात्रमदोऽगृह्णन्निच्छादानेऽपि नाऽधिकम्॥

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम् पर्व १ सर्ग ३ श्लोक २५

चूहा या कौवा नही मरा यह तो उनके आयुष्य बल की बात थी। सर्प को छुडानेवाला और गोली चलानेवाला तो अपनी ओर से हिंसा कर ही चुका।[1]

कुछ लोग कहने लगे—आचार्य भिक्षु की मान्यता है, बकरे को बचाने मे, बचने के पश्चात् वह (बकरा) पानी, वनस्पति आदि की जीवन पर्यन्त जो-जो हिंसा करता है, उन सब हिंसाओ का पाप उस बचानेवाले को क्रमश लगता रहता है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—मेरी तो मान्यता है कि असयति के पोषण मे असयत जीवन का जो अनुमोदन उस समय हुआ, उसका पाप तो उसी समय लग चुका। जीवन-भर जैसे-जैसे वह पाप करता रहेगा, वैसे-वैसे बचानेवाले को पाप लगता रहेगा, यह मेरी मान्यता नही है। हा, यह मान्यता अपवाद उठानेवाले उन लोगो की अवश्य हो सकती है। क्योकि वे तपस्या का धारणा कराने मे आगे की जानेवाली तपस्या का फल भी धारणा करानेवाले को मानते हैं। धर्म यदि पीछे मुडकर आता है तो उनकी मान्यता के अनुसार पाप भी पीछे मुडकर आना चाहिए। तपस्या का फल यदि धारणा करानेवाले को मिलेगा तो धारणा करनेवाला तपस्या न करके यदि किसी की हत्या कर डाले तो उनकी मान्यता के अनुसार उस हत्या का फल भी उसे क्यो नही मिलेगा ?[2]

'भिक्खु दृष्टान्त' आचार्य भिक्षु के जीवन-प्रसगो का एक अनूठा सग्रह है। आचार्य भिक्षु के दिवगत होने के बहुत वर्षों पश्चात् मुनिप्रवर श्री हेमराजजी ने अपने स्मृति-बल से इसका सकलन कराया। तेरापन्थ के भावी अधिनायक श्रीमद् जयाचार्य ने उनसे सुनकर ये जीवन प्रसग लिखे।[3] दोनो मुनि पुगव इस कार्य के लिए अवश्य ही बधाई के पात्र है। यह सकलन कर उन्होने उनके अहिंसा तत्त्व को ही नही, प्रत्युत उनके गौरवमय जीवनव्रत को ही साकार कर दिया है।

आचार्य भिक्षु स्वय सिद्ध कवि थे। उन्होने कविता करना कब सीखा, इसका कोई इतिहास नही बना। पर उनका सुविस्तृत कविता-साहित्य उनके सिद्धहस्त कवि होने का ज्वलन्त प्रमाण है। उनका राजस्थानी पद्य-साहित्य अडतीस हजार श्लोक परिमाण माना जाता है। 'व्रताव्रत की चौपई', 'आचार की चौपई' 'जिनाज्ञा की चउपई', 'श्रावकना बारह व्रत' आदि अनेको ग्रथ अहिंसा सम्बद्ध है।

---

१ भिक्खु दृष्टान्त २७२

२ भिक्खु दृष्टान्त १३५

३ हेम लिखाया हर्ष स्यू लिख्या जीत धर खंत।
सरस रसे करी शोभता भिक्खु ना दृष्टान्त ॥

—भिक्खु दृष्टान्त—प्रशस्ति

'अनुकम्पा चौपई' अपने विषय का उत्कृष्ट ग्रथ है। इसमे विभिन्न रागो मे सन्दर्भित बारह गीतिकाए हैं। प्रत्येक गीतिका पर भूमिका रूप मे कुछ दोहे हैं। समग्र ग्रथ छ सौ बारह गाथामय है। भाषा राजस्थानी है। कविता सहज और प्राजल है। पाठक को लगता है, कवि अपने विषय का बिना कोई आयास उठाए गद्य मे ही विवेचन किए जा रहा है। विवेचन के आधार सर्वत्र आगम, तर्क और दृष्टान्त हैं।

गीतिकाओ के विषय-क्रम का स्थूल ब्योरा निम्न प्रकार से है—

१ प्रथम गीतिका मे—अनुकम्पा के दो भेद—सावद्य और निरवद्य। आगमोक्त अनुकम्पा प्रसग। आज्ञा और अनाज्ञा की कसौटी पर।

२ द्वितीय गीतिका मे—साधु और श्रावक का अनुकम्पा धर्म एक। एक का सरक्षण, एक के चपेटी।

३ तीसरी गीतिका मे—जीवन और मरण की कामना धर्म नही। अनुकम्पा मे राग। मोह अनुकम्पा सहित और मोह अनुकम्पा रहित घटना प्रसग।

४. चौथी गीतिका मे—हिंसा का करना, करवाना और अनुमोदन करना पाप है, पर देखना पाप नही। जीव रक्षा पर सात दृष्टान्त।

५ पाचवी गीतिका मे—जीव-रक्षा पर तीन दृष्टान्त। त्याग धर्म है, पर त्याग का भौतिक परिणाम धर्म नही।

६ छठी गीतिका मे—दया की परिभाषा। कथनी और करनी मे भेद।

७ सातवी गीतिका मे—जगत् जीवो का मात्स्य न्याय। मिश्र-धर्म पर सात दृष्टान्त। एक को मारकर अनेक की रक्षा। बल-प्रयोग मे धर्म नही। श्रेणिक राजा की अमारी घोषणा। जीव-रक्षा पर दो वेश्याओ का उदाहरण।

८ आठवी गीतिका मे—दया के दो स्वरूप—लौकिक और लोकोत्तर। दया को पहचानने मे भूल। एक समान दया-प्रसगो मे एक को हेय कहना, एक को उपादेय कहना। मिश्र-धर्म पर विवेचन।

९ नवमी गीतिका मे—दया भगवती का रूप। हिंसा धर्म की हेयता। पचेन्द्रिय जीवो के लिए एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा। स्थावर जीवो का समारम्भ। हिंसा-धर्म के प्ररूपण मे महाव्रत भग। अर्थ-हिंसा और अनर्थ-हिंसा। धर्मार्थ हिंसा। जीवमात्र की समानता। हिंसा और दया की करणी एक नही। दया मे हिंसा का मेल नही। हिंसा मे धर्म तो जल-मथन मे घृत।

१० दसवी गीतिका मे—गोशालक पर की गई अनुकम्पा का सविस्तार विवेचन।

११ इग्यारहवी गीतिका मे—उपकार के दो रूप। लोकोत्तर उपकार—ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा अन्य विविध प्रकार। लौकिक उपकार—माता-पिता

की सेवा तथा अन्य विविध प्रकार। जन्म-जन्मान्तर मे उपकार-परम्परा।

१२ वारहवी गीतिका मे—भगवान् श्री महावीर के वर्षीदान पर सविस्तार विवेचन। लड्डुओ के लिए पौषध और तप। देवो द्वारा जीव दया की सम्भावना। सावद्य-दान की पहिचान।

प्रत्येक गीतिका मे नाना अवान्तर विपय है, उन्हे क्रमवद्ध कर लेना अत्यन्त विस्तार सापेक्ष है।

'अनुकम्पा चौपई' आचार्य श्री भिक्षु द्वारा कव रची गई, यह एक प्रश्न है। समग्र द्वादश गीतिकाओ मे अन्तिम चार गीतिकाओ के अन्त मे उनका रचना-काल, विपय और स्थान का व्यौरा दिया है।

नवम गीतिका स० १८४४ फाल्गुन शुक्ला नवमी।

दसम गीतिका स० १८५३ आपाढ कृष्णा एकादशी।

ग्यारहवी गीतिका स० १८५४ आश्विन शुक्ला द्वितीया।

वारहवी गीतिका स० १८५७ कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी।

उक्त चारो गीतिकाओ के रचना-काल मे कम-से-कम एक और अधिकतम नौ वर्षों का अन्तर है। इससे यह लगता है, समग्र अनुकम्पा चौपई निश्चित रूप-रेखा के आधार पर किसी एक ही अवधि मे नही रची गई है। अनुकम्पा गीतिकाओ के सम्वन्ध में अन्य जो उल्लेख मिलते है, उनसे उनका उक्त चार गीतिकाओ के वहुत ही पूर्व रचा जाना प्रमाणित होता है। लगता है—स्थानकवासी समाज से पृथक् होते ही आचार्य भिक्षु ने रचनाए नही की। लोगो की साम्प्रदायिक व्यामूढता के कारण जव आचार्य भिक्षु को अपना तत्त्व समझा सकने मे निराशा हुई तो एक वार के लिए उन्होने जन-कल्याण की चिन्ता छोडकर, स्व-कल्याण के लिए उत्कट तपस्या करते हुए निकेवल आत्म-साधना मे लगे। कुछ समय पश्चात् अपने सहवर्ती साधुओ द्वारा प्रेरित होकर पुन वे लोक-प्रवोधन के कार्य मे जुटे। तव उन्होने नाना रचनाए की। जिनमे अनुकम्पा गीतिकाए भी प्रमुख थी। इसका आधार हमे आचार्य भिक्षु के सस्मरणो मे[1] मिलता है। पर उन सस्मरणो से भी सुनिश्चित

---

१. भीखणजी स्वामी हेमजी स्वामी ने कह्यो। म्हें उणानें छोड्या जद पाच वर्ष ताइ तो पूरो आहार न मिल्यो। घी चोपर तो कठै। कपडो कदाचित् वासती मिलती तो सवा रूपीया री। तो भारमलजी स्वामी कहिता पछेवडी आपरै करो। जद स्वामीजी कहिता एक चोलपटो थारं करो एक म्हारै करो। आहार पाणी जाचनें उजाड़ में सब साध परहा जावता। रूखरा री छायां तो आहार पाणी मेलनें आतापना लेता, आथण रा पाछा गाम में आवता।

रचना-काल नही पकडा जाता। भिक्षुजशरसायन मे रचना-उल्लेख के साथ मेवाड की ओर जाने का भी उल्लेख है।[1] पूर्वोक्त जीवन सस्मरणो से आचार्य भिक्षु के पृथक् होने से पाच वर्षों के अन्दर ही अनुकम्पा चौपई के रचे जाने का आभास मिलता है और भिक्षुजशरसायन से लगभग तीन वर्ष के अन्दर ही। आचार्य भिक्षु का प्रथम चतुर्मास केलवा मेवाड मे होता है। दूसरा और तीसरा चतुर्मास क्रमश वरलू और सिरियारी (मारवाड) मे होता है। चौथे और पाचवे चतुर्मास के लिए वे पुन मेवाड मे जाते है।[2] इससे लगता है अपने नव प्रवज्या के तीसरे वर्ष मे ही उन्होने अनुकम्पा सम्बन्धी गीतिकाओ की रचना प्रारम्भ की है। निश्चित रूप से यह कहना कठिन ही है कि आठो गीतिकाओ की रचना क्रमश एकाध वर्ष मे ही सम्पन्न हो गई या स्पष्ट रूप से एक-एक गीतिका यथा प्रसग बनती गई। आठो गीतिकाओ मे यत्र तत्र भावो की पुनरावृत्ति भी है। इससे यह भी माना जा सकता है कि प्रत्येक गीतिका अपने आप मे स्वतन्त्र और परिपूर्ण है। कुल मिला-कर अनुकम्पा चौपई बन गई है। प्राचीन ग्रन्थो मे आचार्य भिक्षु ने अनुकम्पा पर रचनाए (अनुकम्पा री जोडा) की, ऐसे उल्लेख ही बहुधा मिलते हैं। चौपई शब्द पीछे से जोडा गया है, ऐसा सम्भव लगता हैं। आचार्य भिक्षु का नव प्रवज्या काल वि० सवत् १८१७ आषाढ पूर्णिमा का है। उपर्युक्त उदाहरणो से अनुकम्पा चौपई की रचना का आरम्भ काल वि० सवत् १८२० सम्भावित होता है और पूर्ति काल बारहवी गीतिका के अन्त मे वि० सवत् १८५७ दिया गया ही है।

इण रीते कष्ट भोगवता। कर्म काटता। म्हे या न जाणता म्हारो मारग जमसी, नें म्हा में यू दीक्षा लेसी ने यू श्रावक श्राविका हुसी। जाण्यो आत्मा रा कारज सारसां मर पूरा देसा इम जाणनें तपस्या करता। पछै कोई-कोई रे सरधा बेसवा लागी। समझवा लागा। जद थिरपालजी फतैचन्दजी आदि भाहिला साधां कह्यो लोग तो समझता दीसै है। थें तपस्या क्यू करो। तपस्या करण में तो म्हे छांईज। थें तो बुद्धिवान छो सो धर्म रो उद्योत करो। लोकां नें सम-झावो। जद पछै विशेष खप करवा लागा। आचार अनुकम्पा री जोड़ा करी व्रत अव्रत री जोड़ा करी। घणा जीवा नें समझाया। पछै बखाण जोड़्या।

—भिक्खु दृष्टान्त संख्या २७६

१. प्रगट मेवाड में पूज पधारीया युक्ति आचारनी जोड।
अनुकम्पा दया दान रे ऊपरे जोड़ां करी धर कोड़॥

—भिक्षुजशरसायन गीति १० गाथा १०

२ आचार्य चरित्रावली सम्पादकीय से

अनुकम्पा चोपई और अहिंसा पर्यवेक्षण

अनुकम्पा चौपई का विवेचन अहिंसा विषयक प्रचलित धारणाओ से सम्बन्धित और खण्डन-मण्डनात्मक है, तो भी उससे साध्य-साधन, बल-प्रयोग और हृदय-परिवर्तन आदि अहिंसा के आधारभूत सिद्धान्त सहज ही पकडे जा सकते हैं। प्रस्तुत 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' आचार्य भिक्षु के अहिंसा-चिन्तन का एक अध्ययन है। अनुकम्पा चौपई का समग्र अध्ययन वह सहज रूप से हो ही जाता है। अनुकम्पा चौपई जीवन के व्यवहारिक प्रसगो से अहिंसा के आधारभूत सिद्धान्तो पर पहुंचाती है और 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' अहिंसा के आधारभूत सिद्धान्तो से जीवन-व्यवहार के अहिंसा विवेक पर लाता है। इस शैली-भेद से दोनो कृतियो की सापेक्ष उपयोगिता बनी रहती है। 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' पर जाने वाले के लिए अनुकम्पा चौपई का स्वतन्त्र अध्ययन अवशेष रहेगा और अनुकम्पा चौपई का अध्ययन कर चुकनेवालो के लिए 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' का।

'अहिंसा-पर्यवेक्षण' अनुकम्पा चौपई पर एक अध्ययन होने के साथ-साथ भारतीय अहिंसा-चिन्तन के प्रवृत्ति और निवृत्ति अगो का एक समग्र अध्ययन भी बन गया है। प्रागार्य काल से आचार्य श्री भिक्षु और महात्मा गान्धी के युग तक की अहिंसा-मान्यताओ का एक शोधमूलक सिंहावलोकन है।

'अहिंसा पर्यवेक्षण' क्यों और कब ?

आचार्यप्रवर के कलकत्ता प्रवास की बात है। काशीपुर से आचार्यप्रवर के सान्निध्य मे तेरापन्थ द्विशताब्दी साहित्य के सम्बन्ध मे चिन्तन हो रहा था। कुछ एक साधु और कुछ एक साहित्य-सेवी श्रावक उसमे भाग ले रहे थे। चर्चा-प्रसग मे आचार्यप्रवर ने कहा—अनुकम्पा चौपई को आधुनिक भाव-भाषा मे और शोधपूर्ण आधारो के साथ सर्वसाधारण के सम्मुख रखा जा सके, यह अत्यन्त अपेक्षित है। यही चर्चा-प्रसग मेरी ओर आ ढला और मुझे इस कार्य के लिए सम्मुद्यत होना पडा। 'जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान' सम्बन्धी कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् महावीर और बुद्ध विषय पर एक तुलनात्मक और शोधपूर्ण अध्ययन मे मैं अपने आपको लगा चुका था। एकाएक उस विषय से मुडकर इस ओर लगना अधिक सहज तो नही लगा, पर उसके पीछे रहा। आचार्य प्रवर का इगित उसे बहुत भारवान् बना चुका था। तेरापन्थ की द्विशताब्दी के सम्बन्ध से मैं कुछ लिख सकू, यह अन्तरभूत प्रेरणा भी समय पाकर प्रखर हो उठी और मैं शेष साहित्य-कार्य स्थगित कर इस ओर दत्तचित्त हुआ।

कलकत्ता चतुर्मास मे इस सम्बन्ध से विशेष कार्य न हो सका। आचार्यप्रवर

के सान्निध्य मे चलनेवाली अनेक प्रवृत्तियो से सम्बन्ध होने के कारण प्रस्तुत कार्य गौण ही रह सकता था। केवल अनुकम्पा चौपई का अनुवादमात्र वहा हो सका। चतुर्मास के पश्चात् कलकत्ता से राजस्थान का प्रलम्बतर विहार-प्रसग था। शीत ऋतु के छोटे-छोटे दिन और प्रतिदिन दोनो समय के बडे-बडे विहार, साहित्य-सर्जन के लिए बचा-खुचा समय पैरो की मरहम पट्टी मे लग जाता था। फिर भी अनुकम्पा चौपई के साकेतिक घटना प्रसग इस अवधि मे लिख लिये गए।

सरदारशहर से आचार्यप्रवर के आदेश को पाकर वि०सवत् २०१७ के चातुर्मास-प्रवास के लिए दिल्ली आए। यहा लेखन-कार्य के लिए अनुकूल वातावरण रहा। वाछित ग्रन्थ-सामग्री सुलभ हुई। आषाढ शुक्ल पक्ष मे'अहिंसा-पर्यवेक्षण'का लेखन-कार्य प्रारम्भ हो गया। अणुव्रत-कार्यक्रम स्थगित जैसा ही रहा। चिन्तन, मनन और ग्रन्थावलोकन की अतिशय प्रवृत्ति से स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पडा। लेखन-कार्य बीच मे रोक देना पडे, ऐसी स्थितिया आईं, पर जैसे-तैसे उठाए कार्य की मगल ममता ने मुझे बचाया और कार्य को भी पूरा होने दिया। इस प्रवृत्ति मे मुझे जितना श्रम उठाना पडा, उससे अधिक मैं लाभान्वित भी हुआ। अनेकानेक ग्रन्थो की स्वाध्याय हुई और ज्ञान बढा।

अनुवाद कार्य

दूसरे के भावो को भाषा-भेद से अपने शब्दो मे बान्धना अनुवाद है। यह अनुष्ठान दूर से जितना सरल लगता है, प्रयोग मे उतना ही कठिन होता है। पद्यात्मक ग्रन्थो का गद्यानुवाद तो अनुवादक को श्रेयोभाग् होने का बहुत ही थोडा अवसर देता है। एक भाषा के लालित्य को दूसरी भाषा मे फिर भी लाया जा सकता है, पर पद्य के लालित्य को गद्य मे ला देने का प्रयत्न तो नमक का आस्वाद अलोनी वस्तु मे लाने जैसा ही है। अनुकम्पा चौपई के अनुवाद की उपयोगिता तो केवल यही तक मानकर चलना चाहिए कि राजस्थानी भाषा मे गति न रखनेवाले विद्वान् आचार्य भिक्षु के भावो को ज्यो का त्यो नही, परन्तु अधिकतम निकटता से समझ सके। अनुवाद व्याख्या-प्रधान नही है, पर वह यथेष्ट रूप मे शब्दानुसारी तथा भावानुसारी रह सके, यह मेरा अभिप्रेत रहा है। कही-कही पर्यायवाची शब्दो के होते हुए भी भाववाची शब्द प्रयोग मे लिए गए हैं तो कही-कही पर्यायवाची शब्दो को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। ऐसे अनुवादो मे किसी एक ही नियम पर रूढ होकर चलना सगत नही लगा। मूल ध्येय पर स्थिर रहकर जहा जैसा प्रशस्त लगा, वहा वैसा ही किया। तेरापन्थ मे राजस्थानी साहित्य को हिन्दी मे अनूदित करने का यह प्रथम अध्याय है। विरासत मे अनुवादको को कोई व्यवस्थित

शैली नही मिल रही है। उन्हे स्वय ही अपना मार्ग बनाना है। बहुत शालीनता उसमे न भी आ पाए तो भी भावी विकास की भूमिका रूप तो वह होगा ही।

'अहिंसा-पर्यवेक्षण' और सानुवाद अनुकम्पा चौपई का युगपत् नाम अहिंसा-विवेक है। इसके प्रणयन मे मेरा कार्य केवल विचारो को बोल देने भर का रहा है। पाण्डुलिपि से लेकर समग्र सम्पादन कार्य तक का कार्य मेरे सहयोगी मुनियो का ही है। मुनि महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' ने सम्बन्धित अग्रेजी ग्रन्थो के जुटाने एव उनके अवलोकन मे हाथ बटाया। मुनि मानमलजी ने सम्बन्धित ग्रन्थो की स्वाध्याय और प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन-कार्य मे लगभग मेरे जितना ही समय लगाया है। मेरी सुविधा के लिए उन्हे अपनी सुविधाए न्योछावर कर देनी पडी हैं। मुनि हर्षचन्द्रजी का भी लेखन-कार्य मे उल्लेखनीय योग रहा है।

सम्पादन का सारा कार्य मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' का है। उन्होने मेरी अब तक की और भी दशो पुस्तको का निष्काम और निर्नाम सम्पादन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे अनुकम्पा चौपई का पारिभाषिक शब्दकोष उन्होने अपनी स्वतन्त्र शैली से तैयार किया है। हरएक शब्द का हिन्दी, सस्कृत और राजस्थानी भाषा-गत रूप उससे जाना जा सकता है। शब्दो की सूत्रबद्ध परिभाषा उन्हे बहुत खोज पडताल से उपलब्ध हुई है। एक-एक शब्द के लिए अनेको ग्रन्थ टटोलने पडे हैं। जो शब्द कही भी नही मिले उनकी सौत्रिक परिभाषा उन्होने स्वय तैयार की है।

दूसरा कोष उन्होंने राजस्थानी शब्दो का बनाया है। उसमे उन्होने वे ही शब्द लिए है, जो अधिकाशत आज की राजस्थानी मे प्रचलित नही हैं। राजस्थानी भाषा के भी मेवाडी, मारवाडी, ढढाडी, बीकानेरी आदि नाना भेद हो जाते हैं। आचार्य भिक्षु की मातृ-भाषा मारवाडी थी। मेवाड आदि प्रदेशो मे उनका अधिक रहना हुआ, अत वह भी आशिक रूप से उनकी भाषा बन ही गई। कुछ भी हो दो सौ वर्षो के पश्चात् भाषा-व्यवहार मे बहुत बडा अन्तर आ जाना स्वाभाविक है। आज राजस्थानी व्यक्ति उनकी भाषा को शब्दश समझ लें, यह कठिन है। भविष्य मे यह और भी कठिन होता जाएगा, यह लगता ही है, अत आवश्यकता तो यह है समग्र भिक्षु-साहित्य पर एक स्वतन्त्र कोष का निर्माण हो ताकि वह सुदूर भविष्य तक मूल भाषा मे पढा जा सके।

अनुकम्पा चौपई मे भी ऐसे शब्दो की बहुलता है जो वर्तमान राजस्थानी भाषा से बहुत दूर रह गए हैं। 'जबून', 'आन्तरियो', 'उदके', 'डराणै', 'रीजक रोटी', 'भमाई' आदि शब्द इसके उदाहरण हैं। प्रस्तुत शब्द-कोष मे मुनि महेन्द्र-कुमारजी 'प्रथम' ने ऐसे शब्दो का यथार्थ पर्यायवाची शब्द देने का पर्याप्त यत्न

किया है। वयोवृद्ध मुनिजनो की परम्परागत धारणाओ से भी उन्होने अपने कोष को समृद्ध बनाया है।

सम्पादन कार्य के साथ-साथ उन्होने 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' और अनुवाद को अनेकश' समालोचनात्मक बुद्धि से पढा है, मुझे समुचित सुझाव दिए हैं। सस्कृत, प्राकृत, अग्रेजी आदि के उद्धरणो को यथास्थान योजित किया है और शुद्धाशुद्धि के दुरूह कार्य मे अपने आपको खपाया है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है प्रस्तुत ग्रन्थ की सम्पन्नता मे उनका श्रम मेरे श्रम की अपेक्षा कही अधिक ही भारवान् है।

मैं उन विद्वानो का विशेष आभारी हू, जिनके शोधपूर्ण ग्रन्थ मेरे लेखन-कार्य मे योगभूत हुए हैं।

वि० स० २०१७ कार्तिक पूर्णिमा
दिल्ली,

—मुनि नगराज

अहिंसा पर्यवेक्षण में प्रयुक्त ग्रन्थ

१ अगुत्तरनिकाय

२ अध्यात्मविचारणा

३ अनुकम्पा चौपई

४ अमितगति श्रावकाचार

५ अशोक के धर्म-लेख

६ अहिंसा

७ अहिंसा के आचार और विचार का विकास

८ आचाराग सूत्र

९ आचार्य चरितावलि

१० आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी

११ आवश्यक निर्युक्ति

१२. आवश्यकसूत्र

१३. ईश्वर गीता

१४ उत्तराध्ययनसूत्र

१५. उपासकदसागसूत्र

१६ ऋग्वेद

१७ ऋषभचरित्र

१८ कर्मयोग शास्त्र

१९ कल्पसूत्र

२० गाधी और गाधीवाद

२१ गाधी वाणी

२२ गाधीजी, खण्ड दश, अहिंसा—प्रथम भाग

२३ गाधीजी, खण्ड दश, अहिंसा—द्वितीय भाग

२४ गाधीजी, खण्ड दश, अहिंसा—चतुर्थ भाग

२५ गीता

२६ गीता-रहस्य

२७ गीता रामानुजभाष्य

२८ गीता शाकरभाष्य

२९ छान्दोग्य उपनिषद्

३०. जम्बूदीवपण्णत्तिसूत्र
३१. जिन आज्ञारी चौपई
३२. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान
३३ ज्ञाताधर्मकथागसूत्र
३४. ठाणागसूत्र
३५ तत्त्वार्थसूत्र
३६. त्रिष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्
३७. दसवैकालिकसूत्र
३८ द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका
३९ धर्म अधिकरण
४०. धर्मरत्न प्रकरण
४१. नवजीवन
४२ निशीथसूत्र
४३. निशीथसूत्रचूर्णिका
४४. निशीथसूत्रभाष्य
४५. पचाशक
४६. पातजलयोग सूत्र
४७. पातजलयोगसूत्र भाष्य
४८. पार्श्वचरित्र
४९. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म
५०. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय
५१. प्रमाणवार्तिक
५२ प्रश्नव्याकरण सूत्र
५३ प्रश्नोत्तरतत्त्वबोध
५४ बारहव्रत री चौपई
५५ बृहत्कल्पभाष्य
५६. बृहदारण्यक उपनिषद्
५७ बोधिचर्यावतार
५८ बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन
५९ बौद्धधर्म
६० बौद्धधर्म-दर्शन
६१ ब्रह्मसूत्रशाकरभाष्य
६२ भगवती सूत्र
६३. भगवती सूत्रवृत्ति

६४. भगवान् बुद्ध
६५ भारतीय वाड्मय
६६ भारतीय सस्कृति और अहिंसा
६७ भिक्खु दृष्टान्त
६८ भिक्षुजसरसायन
६९ मगल प्रभात
७० मनुस्मृति
७१. महाभारत
७२ युद्ध और अहिंसा
७३ लोकेजी की हुण्डी
७४ विनोवा के विचार
७५ विशुद्धिमग्ग
७६ व्यापक धर्म-भावना
७७ व्रत अव्रत री चौपई
७८ शान्तसुधारसभावना
७९. श्री जैनसिद्धान्तदीपिका
८० सयुत्तनिकाय
८१ सत्य की खोज मे
८२ सद्धर्ममण्डन
८३. सर्वोदय
८४ सर्वोदय दैनिक जीवन मे
८५ सूत्तनिपात
८६ सूत्रकृतागसूत्र
८७ स्वतन्त्रता की ओर
८८ हरिजन
८९ हरिजन वन्धु
९० हाजरी
९१ हिन्द स्वराज्य
९२ हिन्दुस्तान
93 A Review of Indian Archaeology (1953-54)
94 Ahinsa in Indian Culture
95 Ancient India (An Advanced History of India–Part I)
96 Bodhisatva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature
97. Cambridge History of India

98 Elements of Jainism
99 History of Indian Literature
100 History of Philosophy, Eastern and Western
101 Indian Culture
102 Indian Thought and its Development
103. Indo-Aryan Races
104 Mohenjo-daro and the Indus Civilization (1931) vol. 1
105 Prehistoric India
106 Religion and Philosophy of the Veda (vol I)
107. Studies in Philosophy (vol. 1)
108 Studies in the Origins of Buddhism
109 The Cultural Heritage of India (vol II)
110 The Indus Civilisation (by Mackay)
111. The Indus Civilisation (by Wheeler)
112 The Psychological Foundations of the State
113 The Religion of Ahinsa
114. The Vedic Age
115. Vedic Mythology
116 Voice of Ahinsa

अनुकम्पा चौपई

दुहा

अनुकम्पा ने आदरे, कीज्यो घणा जतन।
जिनवर ना धर्म माहिली, समकित पाप रतन ॥१॥

गाय भेस आक थोर नो, ए च्यारूंई दूध।
तिम अनुकम्पा जाणज्यो, राखे मन में शुद्ध ॥२॥

आक दूध पीधा थका, जुदा हुवै जीव-काय।
ज्यू सावद्य अनुकम्पा किया, पाप कर्म बधाय ॥३॥

भोलेई मत भूलज्यो, अनुकम्पा रे नाम।
कीज्यो अतरग पारिखा, ज्यू सीझे आतम काम ॥४॥

अनुकम्पा में आगन्या, तीर्थंकर नी होय।
सावद्य निर्वद्य ओलखो, सूतर साहमो जोय ॥५॥

ढाल : १

[राग—समकित वमियो]

मेघकुवर हाथी रा भव मे, श्री जिन-भाषी दया दिल आई।
ऊचो पग राख्यो सुसलो न मार्‌यो, या करणी श्री वीर सराई॥
या अनुकम्पा जिन-आज्ञा मे ॥१॥

कष्ट सह्यो तिण पाप सू डरते, मन दिढ़ सेठी राखी तिण काया।
वलता जीव दावानल जाणी, सूड सू गिर-गिर बारे न लाया ॥२॥

परत संसार कियो तिण ठामे, उपनो श्रेणिक ने घर आई।
भगवंत आगे दीक्षा लीधी, पहिला अध्येन ज्ञाता माहि ॥३॥

माडलो एक जोजन रो कीधो, घणा जीव वच्या तिहां आई।
तिण वचियां रो धर्म न चाल्यो, समकित आयां विन समझन काई ॥४॥

दोहा

अनुकम्पा को हृदयगम कर जैन धर्म मे रत्न-स्वरूप माने जाने वाले सप्राप्त सम्यक्त्व का सरक्षण करना चाहिए ॥१॥

जिस प्रकार गाय, भैस, आक और थोहर के दूध, दूध नाम से ही कहे जाते हैं, उसी प्रकार अनुकम्पा को भी मन की जागरूकता से जानना चाहिए ॥२॥

जैसे आक का दूध पीने से मनुष्य मर जाता है, उसी प्रकार सावद्य अनुकम्पा करने से अशुभ कर्म का वन्धन होता है ॥३॥

केवल अनुकम्पा शब्द पर ही मत भूलना। उसके अन्तरग स्वरूप की परीक्षा करना, जिससे आत्म-कार्य सिद्ध हो ॥४॥

निरवद्य अनुकम्पा मे तीर्थंकरो की आज्ञा होती है, इस दृष्टि से आगमो का अवलोकन कर सावद्य और निरवद्य अनुकम्पा को पहचानना चाहिए ॥५॥

गीति

जिन-भापित दया मन मे लाकर मेघकुमार ने हाथी के भव मे अपना पैर उठाए रखा, शशक को नही मारा, इसका वर्णन भगवान् श्री महावीर ने स्वय किया है। यह अनुकम्पा आज्ञा-सम्मत है ॥१॥

पाप-भय के कारण उसने कष्ट सहा। मन को दृढ व शरीर को स्थिर करके रखा, पर दावानल मे जलते जीवो को सूड से पकड-पकडकर वह वाहर नही लाया ॥२॥

उस समय उसने 'परित्तसार' (परिमित ससार) किया। श्रेणिक राजा के घर जन्म लिया और भगवान् श्री महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की। ज्ञाता सूत्र के प्रथम अध्ययन मे इसका वर्णन है ॥३॥

उसने एक योजन का परिमण्डल तैयार किया। उसमे आकर वहुत सारे जीव वचे, पर उनके वचने को धर्म नही कहा। सम्यक्त्व आए विना यह समझ मे नही आ सकता। इस अनुकम्पा को सावद्य समझना चाहिए ॥४॥

नेमकुवर परणीजण चाल्या, पशु-पखी देख दया दिल आणी।
इसडो काम सिरे नही मुजने, म्हारे काज हणे वहु प्राणी ॥५॥

परणीजण सू परिणामज फिरिया, राजमती ने ऊभी छिटकाई।
कर्म तणा वध सू नेम डरिया, तोडी आठ भवा री सगाई ॥६॥

आप सू मरता जीव जाणी ने,कड़वा तूबा रो कीधो आहारो।
कीड्या री अनुकम्पा आणी, धिन-धन धर्मरुची अणगारो ॥७॥

फोड़वी लब्धि अनुकम्पा आणी, गोसाला ने वीर बचायो।
छ लेश्या छद्मस्थज हुता, मोहकर्म वश राग ज आयो।
आ अनुकम्पा सावद्य जाणो ॥८॥

असजती गोसालो कुपातर, तिणने सहाज शरीर रो दीधो।
धर्म जाणे तो जगत दु खी थो, बले वीर ए काम काय न कीधो ॥९॥

तेजु लेश्या मेली गोसाले, वाल्या दोय साधु भसम करी काया।
लब्धिधारी था साधु घणाई, मोटापुरुषा ने क्यू न बचाया ॥१०॥

जिनरखिये अनुकम्पा कीधी, रयणादेवी रे साह्मो जोयो।
सेलग यक्ष हेठो उतार्‌यो, देवी आय खडग मे पोयो ॥११॥

भगता हरणगमेषी नो सुलसा, कीधी अनुकम्पा विलखी जाणी।
छ बेटा देवकी रा जाया,सुलसा रे घर मेल्या आणी ॥१२॥

यज्ञ बाड़े हरिकेशी आया, असणादिक त्याने नही दीधा।
यक्षदेव अनुकम्पा आणी, रुद्र वमता ब्राह्मण कीधा ॥१३॥

मेघकुवर गर्भे हुतो जब, सुख रे ताई किया अनेक उपायो।
धारणी राणी कीधी अनुकम्पा, मन गमता असणादिक खायो ॥१४॥

नेमिकुमार विवाह के लिए चले। पशु-पक्षियो को देखकर उनके मन मे दया आई। सोचा, यह कार्य मेरे लिए श्रेयस्कर नही है, क्योकि मेरे लिए ही बहुत सारे प्राणी मारे जाने वाले हैं ॥५॥

विवाह से मन फिर गया। राजीमती को ज्यो-का-त्यो छोड दिया। कर्मों के बन्धन से डर कर नेमिकुमार ने आठ भवो का जो नाता था, तोड दिया। यह अनुकम्पा जिनेश्वर देव की आज्ञा मे है ॥६॥

अपने द्वारा जीवो को मरते देखकर धर्मरुचि अनगार ने कडुवे तुम्बे का आहार किया। वे चीटियो की अनुकम्पा करने वाले धर्मरुचि अनगार धन्य है। यह अनुकम्पा भी जिनेश्वरदेव की आज्ञा मे है ॥७॥

महावीर स्वामी ने अनुकम्पा करते हुए लब्धि फोडकर गोशालक को बचाया। उस समय भगवान् छ लेश्या वाले और छद्मस्थ थे। मोह कर्म के कारण उनको यह राग आया ॥८॥

गोशालक असयती और कुपात्र था। उसे शारीरिक सहयोग भगवान् श्री महावीर ने किया। यदि इसमे धर्म समझते तो सारा जगत दु खी था, भगवान् ने इस उदाहरण को फिर से दुहराया तो नही ॥९॥

अपनी तेजोलेश्या के द्वारा गोशालक ने दो साधुओ को जलाकर भस्मसात् कर दिया। वहा लब्धिधारी साधु तो बहुत थे। उन महापुरुषो को उन्होने क्यो नही बचाया ? यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥१०॥

जिनऋषि ने करुणा करके रयणादेवी के सम्मुख देखा। शैलक यक्ष ने उसे नीचे गिरा दिया और देवी ने आकर उसे अपने खड्ग मे पिरो लिया। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥११॥

सुलसा हिरण्यगवेपी देव की भक्ता थी। उसे दु खी देखकर देव ने अनुकम्पापूर्वक देवकी से उत्पन्न छ पुत्रो को सुलसा के घर लाकर रख दिया। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥१२॥

हरिकेशी मुनि यक्ष-स्थल पर आए। उनको वहा अशनादिक नही दिया गया। यक्ष देवता ने उनकी अनुकम्पा करके ब्राह्मणो को रुधिर-स्रावी बना दिया। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥१३॥

मेघकुमार जब गर्भ मे था, तब धारिणी रानी ने गर्भ की अनुकम्पा करते हुए उसके सुख के लिए अनेक उपाय किये। मन की रुचि के अनुसार भोजन किये। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥१४॥

अभयकुमार रो मित्री देवता,तिण अभयकुवर री अनुकम्पा आणी ।
धारणी राणी रो डोहलो पूर्‌यो,अकाले वर्षा करने वरसायो पाणी ।।१५।।

कृष्णजी नेम वदण ने जाता, एक पुरुष ने दुखियो जाणी ।
साहज दियो अनुकम्पा कीधी, ईट उठाय उणरे घर आणी ।।१६।।

दुखिया दोहरा देख दरिद्री, अनुकम्पा उणरी किण आणी ।
गाजर मूलादिक सचित्त खवावै, वले पावै काचो अणगल पाणी ।।१७।।

दुखिया जीव मारग मे देखी, टल जावै साधु सकोची काया ।
आप हणे नही पाप सू डरता, अनुकम्पा आणी न मेले छाया ।।१८।।

उपाडी ने छाया मेले तो, असजती जीव री व्यावच लागी ।
या अनुकम्पा साधु करे तो, जावै पाचूई महाव्रत भागी ।।१९।।

सो साधु ग्रीपम काल उन्हाले, पाणी विना हुवै जुदा जीव काया ।
अनुकम्पा आण ने अशुद्ध वहिरावै,छ काया रा पीहर साधु वचाया।।२०।।

गजसुकमाल ले नेम री आज्ञा, काउसग्ग कियो मसाण मे जाई।
सोमल आय खीरा गिर ढाया, शीश न धूण्यो दया दिल आई ।।२१।।

साधु विना अनेरा सर्व जीवा री, अनुकम्पा आणी साधु वाधे वधावै ।
तिणरो नशीत रे वारमे उद्देगे, साधु ने चोमासी प्रायश्चित्त आवै ।।२२।।

रासडीयादिक सू तस जीव वध्या छै,
ते तो भूख तृषा सू अत्यत दुख पावै ।
त्याने अनुकम्पा आण ने छोडे छोडावै,
तिण साधु ने चौमासी प्रायश्चित्त आवै ।।२३।।

अभयकुमार के मित्र देवता ने उसकी अनुकम्पा करके धारिणी रानी का दोहद पूरा किया। अकाल मे वर्षा की। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥१५॥

श्री कृष्ण ने नेमिनाथ प्रभु को वन्दनार्थ जाते समय एक पुरुष को दुखी देख कर उस पर अनुकम्पा की। उसको सहयोग दिया। एक ईट उठाकर उसके घर रख दी। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥१६॥

दुखी, कष्ट प्राप्त तथा दरिद्रो को देखकर कोई उनके प्रति अनुकम्पा लाकर उन्हे गाजर, मूला आदि सजीव वस्तु खिलाता है तथा अनछाना पानी पिलाता है, उस अनुकम्पा को सावद्य समझना चाहिए ॥१७॥

अपने द्वारा जीवो को मरते देखकर साधु अपने शरीर को सकुचित कर टल जाते हैं। पाप से डर स्वय उनकी हिंसा नही करते, परन्तु उनकी अनुकम्पा करके उन्हे छाया मे लाकर नही रखते। इसको आज्ञा-सम्मत अनुकम्पा समझना चाहिए ॥१८॥

यदि जीवो को उठाकर छाया मे रखे तो असयती की वैयावृत्ति (परिचर्या) करने का दोष लगता है। साधु यदि ऐसी अनुकम्पा करते है तो उनके पाचो ही महाव्रत भग होते हैं ॥१९॥

विषम ग्रीष्मकाल का समय है। सौ साधु है। पानी के विना उनके प्राण जा रहे है। किसी ने अनुकम्पा करके अशुद्ध पानी उन्हे वहिराया (दान दिया) और उन छ काया के रक्षक साधुओ को वचाया। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥२०॥

गजसुकुमाल मुनि ने नेमिनाथ भगवान् की आज्ञा लेकर श्मशान मे जाकर कायोत्सर्ग किया। सोमिल ने आकर उनके सिर पर अगारे रख दिये। उनके मन मे दया थी, अत उन्होने अपना सिर हिलाया नही। यह अनुकम्पा जिनेश्वर देव की आज्ञा मे है ॥२१॥

साधु के अतिरिक्त अन्य जीवो की अनुकम्पा करके कोई साधु उन्हे वाधे या दूसरो से वधवाये तो उस साधु को निशीथ सूत्र उद्देशक १२ के अनुसार चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ॥२२॥

रस्सी आदि से जो जीव वन्धे हुए है और वे भूख,तृषा आदि से अत्यन्त पीडित हैं। अनुकम्पा लाकर यदि कोई (साधु) उन्हें छुडाता है तो उसको चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ॥२३॥

व्याधि कुष्टादिक रोगीलो सुण ने, तिण ऊपर वेद चलाय ने आवै ।
साजो करे अनुकम्पा आणी, गोली चूरण दे रोग गमावै ॥२४॥

लब्धिधारी रा खेलादिक थी, सोलेई रोग जडा सू जावै ।
वले जाणे साधु यो रोग सू मरसी, अनुकम्पा आणी रोग नही गमावै॥२५॥

जो अनुकम्पा साधु करे तो, उपदेश देई वैराग चढावै ।
चोखे चित पेलो हाथ जोडे तो, च्यारूंई आहारना त्याग करावै ।
या अनुकम्पा निरवद्य जाणो ॥२६॥

गृहस्थ भूलो उजाड़ वन मे,
अटवी वले उज्जड़ जावै ।
अनुकम्पा आणी साधु मारग वतावै,
तो च्यार महिना रो चारित्र जावै ॥२७॥

अटवी मे भूला ने अत्यत दुखी देखी, च्यारूई शरण साध दिरावै ।
मारग पूछै तो मूनज साझै, वोले तो भिन्न-भिन्न धर्म सुणावै ॥२८॥

दुहा

अनुकम्पा इह लोक री, कर्म तणो वध होय ।
ज्ञान दर्शन चारित्र विना, धर्म म' जाणे कोय ॥१॥

जे अनुकपा साधु करे, ते नवा न वाधे कर्म ।
तिण माहिली श्रावक करे, तिण मे पिण छै धर्म॥२॥

साधु श्रावक दोनू तणी, एक अनुकम्पा जाण ।
अमृत सहु ने सारिषो, कूडी मत करो ताण ॥३॥

वरजी अनुकम्पा साधु ने, सूतरनी दे शाख ।
चित्त लगाय ने साभलो, श्री वीर गया छै भाष ॥४॥

किसी के कुष्ठादि अनेक व्याधिया हैं। कोई वैद्य यह सुनकर अपने आप आता है। चूर्ण, गोली आदि देकर उसका रोग मिटाता है और उसे स्वस्थ कर देता है। यह सावद्य अनुकम्पा है ॥२४॥

लब्धिधर मुनि के श्लेष्म आदि से सोलह ही रोग समूल मिट जाते है। मुनि यह जान भी ले, यह व्यक्ति रोग के कारण मरने वाला है तो भी अनुकम्पा करके उसका रोग नही मिटाते। यह अनुकम्पा सावद्य होती है ॥२५॥

साधु यदि अनुकम्पा करते हैं तो उपदेश देकर उसका वैराग्य बढाते है। शुद्ध हृदय से वह यदि चाहता है तो उसे चारो आहार भोगने का प्रत्याख्यान करा देते हैं। यह अनुकम्पा निरवद्य है ॥२६॥

कोई गृहस्थ जगल मे भटक गया और वह उजड ही उजड चलता जा रहा है। अनुकम्पा करके यदि कोई साधु उसे मार्ग वताता है तो उसको चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ॥२७॥

जगल मे उसे अत्यन्त दु खी देखकर साधु उसे चार शरण देते हैं। यदि वह मार्ग पूछता है तो साधु मौन रहते है। यदि वे वोलते हैं तो भिन्न प्रकार से धर्मोपदेश सुनाते हैं। यह अनुकम्पा जिनेश्वर देव की आज्ञा मे है ॥२८॥

गीति २

दोहा

लौकिक अनुकम्पा मे कर्म वन्ध होता है। ज्ञान,दर्शन व चारित्र के अभाव मे धर्म नही हो सकता ॥१॥

जो अनुकम्पा साधु करते हैं और जिससे नवीन पाप वन्ध नही होता, वही अनुकम्पा यदि श्रावक करता है तो उसे भी धर्म ही होगा ॥२॥

अमृत जिस प्रकार सवके लिए एक जैसा होता है, उसी प्रकार साधु व श्रावक के द्वारा की जाने वाली अनुकम्पा भी एक रूप ही होगी। इसके लिए खीचातान नही करनी चाहिए ॥३॥

आगमो मे भगवान् श्री महावीर ने जिन-जिन अनुकम्पाओ का साधु के लिए निषेध किया है, उनका यहा वर्णन किया जाता है। उसे चित्त लगाकर सुनो ॥४॥

ढाल : २

[राग--यतनी]

डाभ मूजादिक नी डोरी, बधीया करे हेला ने सोरी।
सी तापादिक कर दुखिया, साता वछै जाणै हुवा सुखिया ।।१।।
अनुम्कपा उणारी आणे, छोडे छोडावै ने भलो जाणै।
तिणनै चोमासी प्रायश्चित आवै, धर्म जाणे तो समकित जावै ।।२।।

इम बाधे बधावै हुवै राजी, तिणरो सजम गयो भाजी।
ए तो सावद्य कामा जाणो, तिणरा साधा किया पचक्खाणो ।।३।।

जीवणो मरणो नही चावै, साधु क्याने बधावै छोडावै।
ज्यारी लागी मुगत सू ताली, नही करे तिके रुखवाली ।।४।।

गृहस्थ रे लागी लायो, घर बारे निकलियो न जायो।
बलता जीव बिल-बिल बोलै, साधु जाय कवाड न खोलै ।।५।।

द्रव्ये भावे लाय लागी, तिण माहे केयक वैरागी।
तिणरी अनुकम्पा आवै, उपदेश देइ समझावै ।।६।।
जन्म मरण री लाय थीं काढे, उणरो काम सिराडे चाढे।
पकडावै ज्ञानादिक डोरी, तिण थी आठूई कर्म दे तोडी ।।७।।

अनुकम्पा किया डड आवै, परमारथ बिरला पावै।
नशीत नो बारमो उद्देशो, निज भाषी दया नी रेसो ।।८।।

छोड़े साधु सूतर मे कहै चाल्यो, ए तो अर्थ अणहुतो घाल्यो।
भोला ने कुगुरा बहकाया, कूडा-कूडा अर्थ बताया ।।९।।

सिंघ बाघादिक मजारी, हिसक जीव देखी आचारी।
त्याने मार कह्या हिसा लागै, पहिलोई महाव्रत भागै ।।१०।।

गीति

डाभ, मूज आदि की रस्सी से त्रस जीव वन्धे है, शीत, ताप आदि से दु खी है, विलविलाहट कर रहे हैं, सुख-शान्ति के लिए अत्यन्त व्यग्र हैं, उनकी अनुकम्पा करके साधु उन्हे वन्धन से छोडता है, दूसरे से छुडवाता है या किसी छोडने वाले को अच्छा मानता है तो उस साधु को चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। ऐसा करके उस कार्य मे यदि वह धर्म मानता है तो उसकी सम्यक्त्व भी चली जाती है ॥१-२॥

इसी प्रकार यदि वह अनुकम्पा करके किसी प्राणी को वान्धता है, वन्धवाता है, वान्धने वाले का अनुमोदन करता है तो उसका सयम चला जाता है। ये सब सावद्य कार्य हैं। इनका साधु ने प्रत्याख्यान किया है ॥३॥

साधु उन प्राणियो का जीना भी नही चाहता, मरना भी नही चाहता तो वह क्यो वान्धेगा और क्यो छुडाएगा ? उसकी प्रीति मुक्ति से लगी है। वह किसकी रखवाली करेगा ॥४॥

गृहस्थ के घर मे आग लगी है। घर से वाहर नही निकला जाता। आग मे जलते जीव विलविलाहट करते है, पर साधु जाकर कपाट नही खोलता ॥५॥

ससार मे तो द्रव्य और भाव दोनो प्रकार की आग लगी ही है। कुछ एक लोग वैराग्यवान् होते है, जो भाव आग से वाहर निकलना चाहते है। उनकी अनुकम्पा साधु करते हैं और उन्हे उपदेश के द्वारा प्रतिवोध देते हैं। उस जन्म और मृत्यु की आग से वाहर निकालते हैं, उनका काम सिद्ध करते हैं। वे उसे ऐसी ज्ञान की रस्सी पकडवाते हैं कि वे आठो ही कर्मो के तोडने मे समर्थ हो जाते है ॥६-७॥

अनुकम्पा करने से प्रायश्चित्त आता है, इस परमार्थ को कोई विरला व्यक्ति ही समझ पाता है। निशीथ सूत्र के वारहवें मे उद्देशक मे जिन भगवान् ने दया का रहस्य प्रकट किया है ॥८॥

कुछ लोग कहते है,साधु वन्धे प्राणियो को खोल सकता है, यह आगम मे कहा है, यह अर्थ अत्यन्त निराधार है। भोले-भाले लोगो को कुगुरु शास्त्रो का अर्थ वता कर वहका देते हैं ॥९॥

सिंह, वाघ,विल्ली आदि हिंसक जीवो को देखकर यदि साधु कहे, इन्हे मारो तो उसे हिंसा लगती है, पहला महाव्रत टूटता है। यदि साधु (घटना प्रसग पर)

मत मार कह्या उणरो रागी, तीजे करण हिसादिक लागी।
सूयगड़ाअग छै साखी, श्री वीर गया छै भाखी ॥११॥

गृहस्थ रो शरीर ममता मे, साधु बैठा समता मे।
रह्या धर्म शुक्ल ध्यान ध्याई, मूवा गया री फिकर न काई ॥१२॥

इहलोग ने परलोग, जीवणो मरणो काम भोग।
ए तो पाचूई छै अतिचार, वाछ्या नही धर्म लिगार ॥१३॥

आपणोई बाछे तो पाप, पर नो कुण घालै संताप।
घणो जीवणो वाछे अज्ञानी, समभाव राखै ते ज्ञानी ॥१४॥

वायरो वर्षा सी ताप, रह्यो न रह्यो चावै तो पाप।
राज विरोध रहित सुकाल, उपद्रव जावो तत्काल ॥१५॥
साता बोला रो ए विस्तार, ओलखियो ते अणगार।
घट मे जो समता आवै, हुवा न हुवा एको ही न चावै ॥१६॥

एकण रे दे रे चपेटी, एकण रो दे उपद्रव मेटी।
ए तो राग द्वेष नो चालो, दशवैकालिक सभालो ॥१७॥

साधू बैठो नावा मे आई, नावडिये नाव चलाई।
नावा फूटी माहे आवै पाणी, साधु देखे लोका नही जाणी ॥१८॥
आप डूबे अनेरा प्राणी, किणरी अनुकम्पा नाणी।
बताया व्रत रो भग, तिणरो शाखी आचारग ॥१९॥
सानी कर साधु जतावै, लोक कुसले खेमे घर आवै।
डूबा पिण साधु न चावै, रह्या चावै तो तुरत बतावै ॥२०॥
मौन साध रहे ते सत, तिके करे ससार नो अत।
परिणामज राखै सेठा, धर्म ध्यान माहि रहै बैठा ॥२१॥

यह कहे, इन्हे मत मारो तो उन जीवो के प्रति राग प्रकट होता है और उन हिंसक पशुओ द्वारा वध्य प्राणियो की हिंसा का अनुमोदन लगता है। सूत्रकृतागसूत्र मे भगवान् श्री महावीर ने ऐसा कहा है ॥१०-११॥

गृहस्थ का शरीर उसकी ममता मे है और साधु अपनी समता मे है। वे धर्म-ध्यान व शुक्ल-ध्यान ध्याते है। उन्हे किसी के मरने की चिन्ता नही होती ॥१२॥

लोक-वाछा, परलोक-वाछा, जीवन-वाछा, मृत्यु-वाछा और कामभोग-वाछा ये पाच अपश्चिममारणान्तिकी सलेखना के अतिचार माने गये है। इनमे धर्म जरा भी नही हैं ॥१३॥

श्रावक के अपने जीवन की वाछा भी पाप है तो दूसरे की जीवन-वाछा करके कौन सतापित होगा ? अधिक जीना जो चाहते हैं, वे अज्ञानी है तथा जीवन व मृत्यु मे समभाव रखते है, वे ज्ञानी हैं ॥१४॥

पवन, वृष्टि, शीत, ताप, क्षेम, सुकाल, उपद्रव ये सात वाते हो या न हो, यह चाहना मात्र पाप है। घट मे यदि समता होती है तो इन सातो वातो का होना या न होना कुछ भी नही चाहता। इन सात वोलो का विस्तृत हार्द जिसने पहचान लिया है, वही अनगार है ॥१५-१६॥

एक आदमी के चपेट मारना और दूसरे को पुचकारना ये दोनो कार्य राग-द्वेप जन्य हैं। दशवैकालिक सूत्र मे इसका वर्णन है ॥१७॥

साधु नाव मे वैठा है। नाविक नाव चला रहा है। नाव मे छिद्र हो गया है और पानी भर रहा है। उसे साधु के अतिरिक्त और किसी ने नही देखा है। साधु स्वय डूवने की ओर जा रहा है, दूसरे लोग भी डूवने जा रहे है। उसके मन मे किसी के प्रति अनुकम्पा नही आई। क्योकि छिद्र वताने से व्रत-भग होता है। आचाराग सूत्र इस वात का साक्षी है। सकेत करके भी यदि साधु उस छिद्र को वताता है तो सव लोग कुशल-मगल के साथ अपने घर पहुचते हैं। सव लोग डूव जाए, यह भी साधु नही चाहता। सव लोग जीए, यह यदि वह चाहता तो तत्काल उस छिद्र को वता देता। साधु वहा धर्म-ध्यान मे स्थिर होकर मौन रहता है और अपनी परिणाम-दृढता से ससार का अन्त करता है॥ १८-१६-२०-२१ ॥

दुहा

वाछै मरणो जीवणो, तो धर्म तणो नही अस।
ए अनुकम्पा किया थका, बधे कर्म नो बस ॥१॥
मोह अनुकम्पा जे करे, तिणमे राग ने द्वेष।
भोग बधे इच्छा तणो, अतर ऊडो देख ॥२॥
दया अनुकम्पा आदरी, तिण आतम आणी ठाय।
मरता देखी जगत ने, सोच फिकर नही काय ॥३॥
कष्ट सह्या घर मे थका, पाल्या व्रत रसाल।
मोह अनुकम्पा श्रावका, त्या पिण दीधी टाल ॥४॥
काचा था ते चल गया, होय गया चकचूर।
के सेठा रह्या चलिया नही, त्याने वीर बखाण्या सूर ॥५॥

ढाल : ३

[राग—तुम जोयज्यो रे स्वारथ ना सगा]

चपानगरी ना बाणिया, जिहाज भरने समुद्र मे जाय रे।
तिण अवसर एक देवता, त्याने उपसर्ग कीधो आय रे।
जीव मोह अनुकम्पा न आणिये ॥१॥

मिनका सीयाल खाधे बेसाणने, गले पहिरी छै रुड माल रे।
लोही राध सू लीप्यो शरीर ने, हाथे खडग दीसे विकराल रे ॥२॥

लोक धड-धड़ लागा धूजवा, और देव रह्या मन ध्याय रे।
अरणक श्रावक डरियो नही, तिण काउसग्ग दीधो ठाय रे ॥३॥

सागारी अनशन कियो, धर्म ध्यान रह्यो चित्त ध्याय रे।
सगला ने जाण्या डूबता, अनुकम्पा न आणी काय रे ॥४॥

अरणक श्रावक नै डिगायवा, देव वद-वद बोलै वाय रे।
जो अरणक धर्म न छोड़सी, तो जिहाज डबोऊ जल माय रे ॥५॥

गीति ३

दोहा

जीने व मरने की वाछा करना, धर्म का अग नही है। वाछा युक्त इस अनु-करण से कर्म का बन्ध होता है ॥१॥

मोह युक्त अनुकम्पा मे राग व द्वेष होता है और उसमे इन्द्रियो के भोग बढते है, यह अन्तर्दृष्टि से समझने की बात है ॥२॥

दया व अनुकम्पा को जो अपना लेता है, वह आत्म-स्थित होकर रहता है। ससार को मरते देखता है, पर वह चिन्तातुर नही होता ॥३॥

गृहस्थपन मे चलने वाले श्रावको ने भी कष्ट सहकर अपने व्रतो को निभाया, परन्तु मोह अनुकम्पा को तो टाला ॥४॥

जो दुर्बल थे,वे विचलित होकर चूर-चूर हो गए। जो दृढ रहे, विचलित नही हुए, उन्हे भगवान् महावीर ने शूरवीर कहा है ॥५॥

गीति

चम्पा नगरी के वणिग् भरे जहाज समुद्र मे जा रहे थे। उस समय एक देवता ने उन्हे उपसर्ग दिया। हे जीव मोह अनुकम्पा मत कर ॥१॥

शृगाल और मार्जार उनके कन्धे पर बैठे थे। गले मे कटे सिरो की माला थी। रक्त और रस्सी से लिप्त शरीर था और हाथ मे विकट खड्ग था ॥२॥

लोग थर-थर कापने लगे और अपने-अपने इष्ट का स्मरण करने लगे। अर-णक श्रावक डरा नहीं और उसने कायोत्सर्ग आरम्भ कर दिया ॥३॥

उसने सागारी अनशन कर दिया। धर्म-ध्यान मे अपना चित्त लगाया। सबको डूबते देखकर उसे अनुकम्पा नही आई ॥४॥

अरणक श्रावक को विचलित करने के लिए देवता बढ-बढकर बोल रहा है, यदि अरणक! आज धर्म नहीं छोडेगा तो मैं इस जहाज को जल मे डुबा दूगा ॥५॥

ऊची उपाड ने ऊधी न्हाख नै, करसू सगला री घात रे।
काली बोली अमावस रा जण्या, मान रे तू अरणक बात रे ॥६॥

ज्ञान दर्शन म्हारा व्रत नै, इणरो कीघो विघन न थाय रे।
हू सेवग छू भगवान रो, मौनै कोई न सके चलाय रे ॥७॥

लोक विल-विल करता देखने, अरणक रो न बिगड्यो नूर रे।
मोह करुणा न आणी केह्नी, देव उपसर्ग कीधो दूर रे ॥८॥

देव धन्य-धन्य अरणक ने कहै, तू तो जीवादिक रो जाण रे।
थारा सुधर्मी सभा मझे, इन्द्र किया घणा वखाण रे ॥९॥

अरणक श्रावक रा गुण देखने, आया देव री दाय रे।
दोय कुडल जोडी आप नै, देव आयो जिण दिशि जाय रे ॥१०॥

नमिराय ऋषि चारित्त लियो, ते तो ऊभो बाग मे आय रे।
इन्द्र आयो नमि ने परखवा, ते किण बिध बोलै वाय रे ॥११॥

थारी अगनि करी मिथिला बले, एकर सू साह्मो जोय रे।
अतेवर बलतो मेलसी, ए बात सिरे नही तोय रे ॥१२॥

सुख वपराय सारा लोक मे, बिलखा देख पुत्र-रतन रे।
जो तू दया पालण ने ऊठियो, तो कर तू यारा जतन रे ॥१३॥

नमि कहै वसू जीवूं सुखे, म्हारी पल-पल सफली जात रे।
या मिथिला नगरी दाझता, म्हारो बले नही तिलमात रे ॥१४॥

मोनै हर्ष नही मिथिला रह्या, बलिया नही शोक लिगार रे।
मैं सावद्य जाण त्यागी तिका, रही बली न चावै अणगार रे ॥१५॥

जहाज को ऊपर उठाऊगा और औधी करके फिर नीचे गिराऊगा। काली-पीली अमावस के दिन जन्मने वाले हे अरणक ! मेरी वात मान, नही तो मैं सबकी घात करूगा ॥६॥

मैं भगवान् का सेवक हू। मुझे कोई विचलित नही कर सकता। मेरे ज्ञान, दर्शन, चारित्र मे इसका किया हुआ विघ्न नही हो सकता ॥७॥

लोगो को विलविलाहट करते देखकर भी अरणक का स्वरूप विगडा नही। उसने किसी की मोह अनुकम्पा नही की, तव देवता ने उपसर्ग दूर कर दिया ॥८॥

देवता अरणक को धन्य-धन्य कहने लगा। उसने कहा कि तू जीवादि द्रव्यो का ज्ञाता है। सुधर्मा सभा मे इन्द्र ने तेरा वहुत वखान किया था ॥९॥

अरणक श्रावक के गुण देखकर देवता प्रसन्न हुआ और दो कुण्डलो की जोडी देकर जिस दिशा से आया था, उसी दिशा मे चला गया ॥१०॥

नमि राजर्षि ने चारित्र ग्रहण किया और वाग मे आकर ठहरे। इन्द्र उनकी परीक्षा करने के लिए आया और वोला ॥११॥

तुम्हारी मिथिला नगरी जल रही है। एक वार तुम उसकी ओर देखो। जलते हुए अन्त पुर को यो ही छोड रहे हो, यह तुम्हारे लिए ठीक नही है ॥१२॥

तू ने सारे ससार मे सुख का प्रादुर्भाव किया और अपने पुत्र-रत्नो को विलखते देख रहा है। यदि तू दया पालने के लिए ही खडा हुआ है तो इनका यत्न क्यो नही करता ॥१३॥

नमि राजर्षि ने कहा—मैं सुख मे वसता हू, सुख मे जीता हू। मेरी पल-पल सफल जा रही है। मिथिला नगरी जल रही है, पर मेरा उसमे कुछ भी नही जल रहा है ॥१४॥

मुझे मिथिला के रहने मे कोई हर्ष नही है और उसके जलने मे जरा भी शोक नही है। मैंने सावद्य समझ कर जिसे छोड दिया, उसका रहना या जलना मैं कुछ नही चाहता ॥१५॥

नमिराय ऋषि आणी नही, मोह अनुकम्पा नी वात रे।
समभाव राखे मुगते गया, करी अष्ट कर्मा री घात रे।।१६।।

श्रीकेसव केरो बधवो, यो तो नामे गजसुकुमाल रे।
तिण दीक्षा ले काउसग्ग कियो, सोमिल आयो तिण काल रे।।१७।।

माथे पाल बाधी माटी तणी, माहे घाल्या लाल अगार रे।
कष्ट ऊपनो वेदना अति घणी, नेम करुणा न आणी लिगार रे।।१८।।

श्रीनेम जिनेश्वर जाणता, होसी गजसुकुमाल री घात रे।
पिण अनुकम्पा आणी नही, और साधु न मेल्या साथ रे।।१९।।

श्री वीर जिनद चोबीसमा, कल्पातीत मोटा अणगार रे।
त्याने देव मनुष्य तिर्यञ्च ना, उपसर्ग उपना अपार रे।।२०।।

सगम देवता भगवत नै, दु ख दीधा अनेक प्रकार रे।
अनारज लोका पिण वीर नै, स्वानादिक दीधा लार रे।।२१।।

चउसठ इन्द्र महोत्सव आविया, दीक्षा दिन भेला होय रे।
पिण कष्ट पडचा भगवान ने, नायो उपसर्ग टालण कोय रे।।२२।।

दु ख देता देखी जगनाथ ने, किण अलगा न कीधा आय रे।
समदिष्टी देव हूता घणा, त्या करुणा न आणी काय रे।।२३।।

देवता जाण्यो श्री भगवान ने, उदे आया दीसै छै कर्म रे।
अनुकम्पा आण बिचै पडचा, ए जिन भाख्यो नही धर्म रे।।२४।।

धर्म हुवै तो आघो नही काढता, बले वीर ने दुखिया जाण रे।
परिपह देवण आवै तेहनै, देव अलगो करता ताण रे।।२५//

मच्छगलागल मण्ड रही, द्वीप समुद्रा माय रे।
भगवत कहै जो इन्द्र ने, तो थोडा मे देवे मिटाय रे।।२६।।

नमि राजर्षि ने मोह अनुकम्पा नही की। समभाव रखते हुए आठ कर्मों का नाश कर वे मुक्ति मे चले गये ॥१६॥

श्रीकृष्ण के वन्धु गजसुकुमाल ने दीक्षा लेकर कायोत्सर्ग किया था। उस समय सोमिल ब्राह्मण वहा पर आया। उसने मुनि के मस्तक पर मिट्टी की कगार बान्धी और उसमे जलते हुए अगारे भर दिये। मुनि को अत्यन्त कष्ट हुआ। नेमिनाथ भगवान् ने वहा जरा भी अनुकम्पा तो नही की ॥१७-१८॥

नेमिनाथ प्रभु जानते थे, गजसुकुमाल मुनि की घात हो जाएगी, किन्तु उन्होने अनुकम्पा करके उनके साथ साधुओ को नही भेजा ॥१९॥

चौवीसवें तीर्थकर जो जिनकल्पी और महा अनगार थे, उन्हे देवता, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्वन्धी अपार उपसर्ग हुए ॥२०॥

सगम देवता ने भगवान् को अनेक प्रकार से कष्ट दिया। अनार्य लोगो ने भी भगवान् के पीछे कुत्ते लगाए ॥२१॥

दीक्षा-महोत्सव मे चौसठ इन्द्र आये, पर भगवान् को जव कष्ट पडा तो उपसर्ग टालने के लिए कोई नही आया ॥२२॥

सम्यग् दृष्टि देव भी वहुत थे, पर उन्होने भी कोई करुणा नही दिखाई। किसी ने आकर दु ख देने वालो को भगवान् से अलग नही किया ॥२३॥

देवो ने जाना, भगवान् महावीर के अभी कर्मोदय है। अनुकम्पा के नाम पर वीच मे पडना जिन-भाषित धर्म नही है ॥२४॥

यदि धर्म होता तो भगवान् महावीर को दु खी देखकर वे जरा भी विलम्ब न करते और परिषह देने वालो को अलग कर देते ॥२५॥

सभी द्वीप और समुद्रो मे मच्छगलागल लग रही है अर्थात् एक जीव दूसरे जीव को खा रहा है। भगवान् यदि इन्द्र से कहे तो वह यह सव थोड़े मे ही मिटा सकता है ॥२६॥

पडती जाणे अंतराय ने, तो अचित खवावत पूर रे।
एहवी शक्ति घणी छै इन्द्रनी, पिण कर्म न हुवै दूर रे।।२७।।

चुलणीपिया ने पोसा मझे, देव दीधा छै दुख आय रे।
कुण कुण हवाल तिणमे किया, ते साभलज्यो चित्त ल्याय रे।।२८।।

तीन बेटा रा नव सूला किया, तिणरा मूढा आगे लाय रे।
तेल उकाल ने माहे तल्या, बल-बलता सू छाटी काय रे।।२९।।

समा परिणामा वेदना सही,
जाणी आपरा सच्या कर्म रे।
अनुकम्पा न आणी अगजात री,
तिण छोड्यो नही जिन धर्म रे।।३०।।

मत मारण रो कह्यो नही, ते तो जाणी सावद्य वाय रे।
करुणा न आणी मरता देखने, सेंठो रह्यो धर्म ध्यान ध्याय रे।।३१।।

जो तू धर्म न छोडसी, तो थारे देव गुरु जिम छै माय रे।
तिणने मारू विध आगली, थारा मुहढा आगे ल्याय रे।।३२।।

जद आरत ध्यान तू ध्यायने, पडसी माठी गति मे जाय रे।
सुणने चुलणीपिया चल गयो, माय राखण करै उपाय रे।।३३।।

यो तो पुरुष अनारज कहै जिसो, झाल राखू ज्यू न करे घात रे।
ते तो भद्रा बचावण ऊठियो, इणरे थाभो आयो हाथ रे।।३४।।

अनुकम्पा आणी जननी तणी, तो भाग्या व्रत ने नेम रे।
देखो मोह अनुकम्पा एहवी, तिण मे धर्म कहीजे केम रे।।३५।।

चुलणीपिया सुरादेव ना, चुलसतक ने सकडाल रे।
या च्यारा रा मार्‌या डीकरा, देव तलिया तेल उकाल रे।।३६।।

बेटा ने मरता देखिया, नाणी मोह अनुकम्पा प्रेम रे।
ऊठ्या मात त्रियादिक राखवा, भागा व्रत ने नेम रे।।३७।।

यदि ऐसा करने मे जीवो के आहारान्तराय होती लगती तो शक्तिशाली इन्द्र उन्हें अचित्त आहार खिला देता, पर ऐसा करने से कर्मों का नाश नही होता ॥२७॥

चूलनीपिता श्रावक को पौषध-व्रत मे देवता ने आकर कष्ट दिया। उसने क्या कुछ किया, उसका यहा वर्णन किया जाता है ॥२८॥

चूलनीपिता के सामने आकर उसके तीन पुत्रो के नव टुकडे किये। उन्हे तेल मे तला। उस गर्म तेल से चुलनीपिता के शरीर को छाटा ॥२९॥

कृत कर्मों का भोग समझकर समता पूर्वक वह कष्ट उसने सहा। उसने पुत्रो की अनुकम्पा नही की और जिनेश्वर देव का धर्म नहीं छोडा ॥३०॥

सावद्य भाषा समझकर उसने मत मार, ऐसा भी नही कहा। पुत्रो को मरते देखकर भी उसे करुणा नही आई। धर्म-ध्यान मे लीन होकर दृढ रहा ॥३१॥

जो तू अपना धर्म नही छोडता तो देवगुरु के तुल्य तुम्हारी माता को तुम्हारे सामने लाकर इसी प्रकार मारूगा ॥३२॥

तब तू आर्त्तध्यान मे होकर दुर्गति को प्राप्त होगा। यह सुनकर चूलनीपिता विचलित हो गया और अपनी माता के सरक्षण का उपाय करने लगा ॥३३॥

यह अनार्य पुरुष है। इसे अभी मैं पकडू ताकि मेरी माता को वह न मार सके। माता भद्रा को बचाने के लिए चला तो उसके हाथ मे खभा आ गया ॥३४॥

माता की अनुकम्पा आई, तो उसके नियम व व्रत भग हो गए। ऐसी मोह अनुकम्पा मे धर्म कैसे कहा जा सकता है ? ॥३५॥

चूलनीपिता, सूरादेव, चूलशतक और शकडाल इन चारो के पुत्रो को देवता ने तेल उबालकर उसमे तला। पुत्रो को मरते देखा, पर मोह अनुकम्पा नही आई। माता, स्त्री आदि को बचाने के लिए उठे तो नियम व व्रत भग हो गए ॥३६-३७॥

मातत्रियादिक राखता, भाग्या व्रत ने बध्या कर्म रे।
तो साधु बिचे पडिया थका, याने किण विध होसी धर्म रे ।।३८।।

चेडा ने कोणिक री बारता, निरावलिका भगवती शाख रे।
मानव मुवा दोय सग्राम मे, एक कोड ने असी लाख रे ।।३६।।

भगवत अनुकम्पा आण ने, पोते न गया न मेल्या साध रे।
या नै पहिला पिण वर्ज्या नही, घणा जीवारी जाण विराध रे ।।४०।।

ए दया अनुकम्पा जाणता, तो वीर बडाले जाय रे।
सगलारे साता वपरावता, थोडा मे देता चुकाय रे ।।४१।।

कोणिक भगता भगवान रो, चेडो वारे व्रत धार रे।
इंद्र भीड आया ते समकिती, ए किण विध लोपता कार रे ।।४२।।

ज्ञान दर्शन चारित्र माहिलो, बधतो जाणे किणरे उपाय रे।
तो करे अनुकम्पा भवि जीवरो, वीर बिना बोलया जाय रे ।।४३।।

समुद्रपाल सुखा मे भिल रह्यो, ससार विषे रस लाग रे।
चोर नै मारतो देखी उपनो, उतकष्टो परम वैराग रे ।।४४।।

चारित्र लियो कर्म काटवा, जाण्यो मोक्ष तणो उपाय रे।
पिण करुणा न आणी चोर नी, छोडावणरी न काढी वाय रे ।।४५।।

साध श्रावक रे एक रीत छै, तुमे जोवो सूतर रो न्याय रे।
देखो अतर माहे विचार ने, कूडी काय करो बकवाय रे ।।४६।।

दुहा

दुखिया देखी तावडै, जो नही मेलै छाय।
साधु श्रावक न गिणे तेह नै, ए अन्यतीर्थी नी वाय ।।१।।

मार्‌या मराया भलो जाणिया, तीनुई करणा पाप।
देखण वाला ने जे कहै, ते खोटा कुगुरु सराप ।।२।।

माता, स्त्री आदि की रक्षा करने मे नियम भग हुए और कर्मवध हुआ तो साधु यदि वीच मे आ पडे तो धर्म कैसे होगा ॥३८॥

चेटक और कोणिक का वृत्तान्त निरयावलिका व भगवती सूत्र मे आया है। दो युद्धो मे एक करोड अस्सी लाख मनुष्य मरे ॥३९॥

भगवान् महावीर अनुकम्पा करके न स्वय गए, न अपने साधुओ को भेजा। और उन दोनो को वहुत जीवो की हिंसा समझकर पहले भी नही रोका ॥४०॥

इस कार्य को यदि भगवान् दयारूप समझते तो स्वय आगे होकर जाते और थोडे मे ही सवको सुखी कर देते ॥४१॥

कोणिक भगवान् का भक्त था और चेटक वारह व्रतधारी श्रावक। इन्द्र जो सहयोग मे आया, वह भी सम्यक्त्वी था। ये सव भगवान् के इगित का लघन कैसे करते ॥४२॥

किसी का ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप प्रयत्न वढता हो तो भगवान् विना वुलाए जाकर भव्य जीवो की अनुकम्पा करते ॥४३॥

समुद्रपाल सुखो मे झूल रहा था। सासारिक विषयो मे उसकी लगन लगी थी। चोर को मारे जाते देखकर उसको परम वैराग्य उत्पन्न हुआ ॥४४॥

कर्म-नाश करने के लिए मोक्षोपाय समझकर चारित्र ग्रहण किया, किन्तु चोर की करुणा करके उसे छोडाने की वात मुख से नही कही ॥४५॥

साधु श्रावक की एक रीति है। सूत्रोक्त न्याय को समझो। अन्तरग मे विचार कर देखो। मिथ्या प्रलाप मत करो ॥४६॥

गीति ४

दोहा

जीवो को ताप मे दुःखी देखकर जो छाया मे नही रखता वह साधु या श्रावक की गणना मे नही है, यह अन्यतीर्थी लोको की भाषा है ॥१॥

मारने, मरवाने या मारते को अच्छा समझने मे पाप है, देखने वाले को भी जो पाप कहे तो यह तो कुगुरु के निकृष्ट श्राप जैसा होगा ॥२॥

कर्मां करने जीवडा, उपजै नै मर जाय।
असजम जीतब तेहनो, ते साधु न करे उपाय ।।३।।

देखे माहोमा विणसता, अलगा करद्या जाय।
एहवो कहै तिण ऊपरे, साधु बतावै न्याय ।।४।।

ढाल : ४

[राग—दुलहो मानव भव कांई तुमें]

नाडो भरियो छै डेडक माछला, माहे लीलण फूलण रा पूर हो।
लट फूहारा आदि जलोक सू, तस थावर भरिया अरूर हो।
भविकजन करज्यो पारखा जिन धर्म री ।।१।।

सुलिया धान तणो ढिगलो पड्यो, माहे लटाने ईल्या अथाय हो।
सुलसल्या इडादिक अति घणा, किल-विल करे तिण माय हो ।।२।।

एक गाडो भर्‍यो जमीकद सू, तिण मे जीव घणा छै अनत हो।
च्यार पर्याय च्यार प्राण छै, मार्‍या कष्ट कह्यो भगवत हो ।।३।।

काचा पाणी तणा माटा भर्‍या, घणा जीव छै अणगल नीर हो।
नीलण फूलण आद लटा घणी, त्यामे अनत बताया वीर हो ।।४।।

खात भीनो उकरडी लटा घणी, गीडोला गधईया जाण हो।
टल-बल टल-बल कर रह्या, याने कर्मा न्हाख्या छै आण हो ।।५।।

कोइक जायगा मे ऊदर घणा, फिरै आमा नै साह्‌मा अथाग हो।
थोड़ो सो खडको साभलै, तो जाय दिशोदिश भाग हो ।।६।।

गुड खाड आदि मिष्टान्न मे, जीव चिहु दिश दोड़्या जाय हो।
माख्या ने माका फिर रह्या, ते तो हुचके माहो मा आय हो ।।७।।

नाडो देखी ने आवै भेसीया, धान ढूके बकरा आय हो।
गाडे आवै बलद पाधरा, माटे आय उभी छै गाय हो ।।८।।
पखी चुगे उकरडी ऊपरै, ऊदर पासे मिनकी जाय हो।
माख्या ने माका पकड ले, साधु किणने बचावै छोडाय हो ।।९।।

कृत कर्मों के अनुसार जीव जन्मते है और मर जाते हैं। उनका असयम जीवन है, उसके लिए साधु उपाय नही करते ॥३॥

जीवो को परस्पर नष्ट होते देखकर हम उन्हे पृथक्-पृथक् कर देते है, ऐसा जो लोग कहते है, उस पर मैं न्यायपूर्ण विवेचन करता हू ॥४॥

गीति : ४

छोटा तालाव मेंढक व मछलियो से भरा है, उसमे भरपूर नीलण-फूलण जमी है और वह लट, पुअरा (फूहरा), जलोक आदि त्रस प्राणियो से ठसाठस भरा है। हे भव्य जीवो ! जिनेश्वर देव के धर्म की परीक्षा करनी चाहिए ॥१॥

सडे हुए धान का ढेर लगा है। उसमे अथाग इली, लट आदि प्राणी भरे हैं। सुलसुले, अण्डे आदि अति मात्रा मे विलविलाहट कर रहे है ॥२॥

एक गाडी जमीकन्द से भरी है, जिसमे कि अनन्त जीव होते ही है। उन जीवो के चार पर्याय व चार प्राण होते हैं और भगवद्-वचन के अनुसार उन्हे मारने मे उनको कष्ट होता है ॥३॥

सचित्त पानी के मटके भरे है। अनछाना पानी है और उसमे बहुत सारे जीव हैं। लट और नीलण-फूलण बहुत है, जिस नीलण-फूलण मे भगवान ने अनन्त जीव बतलाए हैं ॥४॥

कूडे-करकट का ढेर जमा है। खाद गीली हो रही है। गिण्डोला, गधिया आदि जीव अपने कर्मो का फल भोगते हुए टलवल-टलवल कर रहे है ॥५॥

किसी स्थान मे चूहे बहुत है। इधर-उधर दौड लगाते हैं। थोडा-सा शब्द सुनते ही चारो ओर दौड जाते है ॥६॥

गुड, खाण्ड आदि मिष्टान्न मे चारो ओर से जीव दौडे आ रहे है। छोटी-बडी मक्खिया व मक्खे फिर रहे है और वे परस्पर एक दूसरे पर उछलते है ॥७॥

तालाब को देखकर भैसे आती है। धान्य के ऊपर बकरे आते है। गाडी पर बैल सीधे आते है। मटकी पर गाय खडी है। पक्षी कूडे के ढेर पर चुग रहे हैं। चूहो के पीछे बिल्ली जा रही है। मक्खियो को मक्खे पकड रहे है। साधु किसे बचाने, किसे छुडाए ॥८-६॥

भेसा हाकल्या नाडा माहिला, सगला जीवा रै साता थाय हो।
बकरा नैं अलगा किया, इडादिक जीव वच जाय हो ॥१०॥

थोडा-सा वलदा नै हाकल्या, तो न मरे अनतीकाय हो।
पाणी फूहारादिक किणविध मरै, नेडी आवण न दे गाय हो ॥११॥

लट गीडोलादिक कुशले रहे, जो पखी ने देवैं उडाय हो।
मिनकी छिछकार न्हसाडदे, तो ऊदर घर सोग न थाय हो ॥१२॥

माका ने आघा-पाछा करै, तो माखी उड न्हाठी जाय हो।
साधा रे सगला सारिखा, ते तो विचै न पडै जाय हो ॥१३॥

मिनकी धाकल ऊदर वचाय ले, माखी राखे माका नै धिकाय हो।
और मरता देख राखे नही, या मैं चूक पडी ते बताय हो ॥१४॥

साधु पीहर वाजै छकाय ना, एक छोड़ावै तसकाय हो।
पाच काय मरती राखै नही, तो पीहर किणविध थाय हो ॥१५॥

रजोहरण लेइने ऊठिया, जोरीदावै दिया छोडाय हो।
ज्ञान दर्शन चारित्र माँहिलो, यारे वधियो ते मोय बताय हो ॥१६॥

ज्ञान दर्शन चारित्र विना, और मुक्ति रो नहिं उपाय हो।
छोड़ा-मेला उपगार ससार ना, तिणथी शुद्धगति किणविध जाय हो ॥१७

जितरा उपगार ससार ना, ते तो सगलाई सावद्य जाण हो।
श्रीजिनधर्म मे आवै नही, कूडी म' करो ताण हो ॥१८॥

अज्ञानी रो ज्ञानी कियां थका, हुवै निश्चै पेलारो उधार हो।
कीयो मिथ्यातीरो समगती, तिण उतार्यो भव पार हो ॥१९॥

असजती नो कियो सजती, ते तो मोक्ष तणा दलाल हो।
तपसी कर पार पहुचावियो, तिण मेट्या सर्व हवाल हो ॥२०॥

भैसो को हाक देने से तालाव मे रहे सव जीवो के साता हो जाती है। वकरो को अलग कर देने से अण्डादि जीव वच जाते है ॥१०॥

वैलो को थोडा सा ललकार देने से अनन्त काय वच जाती है और गाय को नजदीक न आने दिया जाए तो पानी-पूहरादिक की हिंसा कैसे हो सकती है ॥११॥

यदि पक्षियो को उडा दिया जाए तो लट-गिंडोला आदि प्राणी कुशल रह जाते हैं। यदि विल्ली को छिछकार करके भगा दिया जाए तो चूहो के घर मे शोक न हो ॥१२॥

यदि मक्खो को इधर-उधर कर दिया जाए तो अन्य मक्खिया उडकर भाग सकती है। साधु के लिए तो सभी प्राणी समान है। वे किसी के वीच मे नही पडते ॥१३॥

विल्ली को ललकार कर चूहे वचा लेते है, मक्खो को ढकेल कर मक्खी को वचा लेते है, पर उक्त प्रकार के अन्य जीवो को वचाने का प्रयत्न नही करते। उन जीवो का क्या अपराध है, यह तो वताना चाहिए ॥१४॥

साधु छव काय के रक्षक कहलाते है और केवल त्रसकाय को छोडाते हैं। शेष पाच कायो को नही वचाते तो वे छव काय के रक्षक कैसे रहे ? ॥१५॥

रजोहरण (ओघा) हाथ मे लेकर साधु खडा हुआ और वलात्कार पूर्वक किसी प्राणी को छोडा दिया। ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणो मे से उसके कौनसे गुण की वृद्धि हुई, यह कोई मुझमे वताए ॥१६॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र के विना कोई मुक्ति का मार्ग नही है। छोडना, रखना आदि सासारिक उपकार हैं। उससे शुभ गति कैसे मिल सकती है ? ॥१७॥

जितने सासारिक उपकार है, वे सभी सावद्य हैं। वे जिनेश्वर देव के धर्म मे नही आते। व्यर्थ आग्रह क्यो किया जा रहा है ॥१८॥

अज्ञानी मे किसी को ज्ञानी किया जाता है तो निश्चित ही उसका उद्धार होता है। मिथ्यात्वी से किसी को सम्यक्त्वी किया जाता हे तो वह उमे ससार-सिन्धु मे पार करता है ॥१९॥

असयति को सयति कर दिया तो करने वाला मोक्ष का दलाल हो जाता है। किसी को तपस्वी वनाकर ससार-सिन्धु से पार लगा दिया, उसने तो उसका सारा जजाल ही मेट दिया ॥२०॥

ज्ञान दर्शन चारित्र ने तप, यारो करै कोइ उपगार हो।
आप तिरै पेलो उद्धरै, दोया रो खेवो पार हो ॥२१॥

ए च्यार उपगार छै मोटका, तिण मे निश्चैई जाणो धर्म हो।
शेष रह्या काम ससार ना, तिण कीधा बधसी कर्म हो ॥२२॥

दुहा

जीव दया रै ऊपरे, मूलगा तीन दिप्टत।
आगै विस्तार करै जितो, ते सुणजो कर खत ॥१॥

ढाल : ५

[राग—सहेल्यां ए वांदो सदा साध ने]

एक चोर चोरे धन पार को, बले दूजो हो चोरावै आगैवाण।
तीजो कोई करै अनुमोदना, ए तीना रा हो खोटा किरतब जाण।
भविजीवा तुमें जिन धर्म ओलखो ॥१॥

एक जीव हणै तसकाय ना, हणावै हो दूजो पर ना प्राण।
तीजो पिण हर्षे मारिया, ए तीनूई हो जीव हिसक जाण ॥२॥

एक कुशील सेवै हरष्यो थको, सेवावै हो तै तो दूजै करण जोय।
तीजो पिण भलो जाणै सेविया, ए तीना रे हो कर्म तणो बध होय ॥३॥

ए सगला नै सतगुरु मिल्या,
प्रतिबोध्या हो आण्या मार्ग ठाय।
किण-किण जीवा नै साधा उद्धर्या,
तिणरो सुणज्यो हो विवरा सुध न्याय ॥४॥

चोर हिसक ने कुशीलिया, यारे ताई हो साधा दियो उपदेश।
त्यानै सावद्य रा निरवद्य किया, एहवो छै हो जिन धर्म दया रेस ॥५॥

ज्ञान दर्शन चारित्र तीनू तणो, साधा कीधो हो जिणथी उपगार।
ते तो तिरण-तारण हुवा तेहना, उतार्या हो ससार थी पार ॥६॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारो के सम्बन्ध से जो उपकार करता है, वह स्वय तर जाता है और अगले का भी उद्धार हो जाता है ॥२१॥

ये चार प्रकार के उपकार प्रमुख हैं। इनमे निश्चित प्रकार से ही धर्म है। शेष सासारिक कार्य हैं, जिनके करने से कर्म-बन्ध होता है ॥२२॥

दोहा

जीव-दया के ऊपर तीन दृष्टान्त मौलिक है। उस पर चाहे जितना विस्तार हो सकता है। शान्तिपूर्वक उन्हे सुनो ॥१॥

गीति : ५

एक चोर दूसरे के धन को चुराता है। दूसरा आगे होकर चुरवाता है। तीसरा व्यक्ति उसका अनुमोदन करता है। इन तीनो के ही कर्तव्य बुरे हैं। हे भव्य जीवो जैनधर्म की पहचान करो ॥१॥

एक त्रसकाय जीवो की हिंसा करता है। दूसरा त्रसकाय जीवो की हिंसा करवाता है। तीसरा मारते जानकर हर्षित होता है। इस प्रकार ये तीनो ही व्यक्ति हिंसक हैं ॥२॥

एक व्यक्ति सहर्ष कुशील सेवन करता है। दूसरा सेवन करवाता है। तीसरा उसका अनुमोदन करता है। इन तीनो के ही कर्मों का वन्धन होता है ॥३॥

इन सब व्यक्तियो को सुगुरु मिले और प्रतिवोध देकर मार्ग लगाया। किन-किन व्यक्तियो का साधुओ ने उद्धार किया, विवरण सहित उनका न्याय सुनो ॥४॥

चोर, हिंसक और व्यभिचारी इन तीनो को साधुओ ने उपदेश दिया, उन्हें पाप से धर्म मे प्रवृत्त किया, यही जिनेश्वर के अनुकम्पा धर्म का रहस्य है ॥५॥

ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तत्त्वो के रूप मे साधुओ ने उनके प्रति उपकार किया, ये स्वय तरने वाले और दूसरो को तारने वाले हुए। उनको ससार सिन्धु से पार उतारा ॥६॥

ए तो चोर तीनूई समझ्या थका, धन रह्यो हो धणी रै कुशले खेम ।
हिंसक तीनू प्रतिबोधिया, जीव वचिया हो कीधो मारण रो नेम ॥७॥

शील आदरियो तेहथी, अस्त्री पड़ी हो कूवा मै जाय ।
यारो पाप धर्म नही साधु नै, रह्या मूवा हो तीनू अव्रत माय ॥८॥

धन रो धणी राजी हुवो धन रह्या,
जीव वचिया हो ते पिण हरपित थाय ।
साधु-तिरण तारण नही तहेना,
नारी ने पिण हो नहि डवोई आय ॥९॥

केइ मूढ़ मिथ्याती इम कहै, जीव वचिया हो धन रह्यो ते धर्म ।
तो उणरी श्रद्धा रे लेखै, अस्त्री मुई हो तिणरा लागै कर्म ॥१०॥

जीव जीवै ते दया नही, मरै ते हो हिसा मत जाण ।
मारण वाला नै हिसा कही, नही मारै हो ते तो दया गुण खाण ॥११॥

नीव आंवादिक वृक्ष नो, किण ही कीधो हो वाढण रो नेम ।
अव्रत घटी तिण जीव रै, वृक्ष ऊभो हो तिणरो धर्म केम ॥१२॥

सर द्रह तलाव शोषण तणा, सूस लेई हो मेट्या आवता कर्म ।
सर द्रह तलाव भर्या रहै, तिण मांहि हो नही जिनजी रो धर्म ॥१३॥

लाडू,घेवर आदि पकवान नै,खाणा छोड़्या हो आतम आणी ठाय ।
वैराग वध्यो तिण जीव रै, लाडू रह्या हो तिणरो धर्म न थाय ॥१४॥

दव देवो नै गाम जलायवो, इत्यादिक हो सावद्य कारज अनेक ।
ए सर्व छाड़ावै समझाय नै, सगला री हो विधि जाणो तुम्हे एक ॥१५॥

हिवै केइक अज्ञानी इम कहै, छ काय काजे हो द्या छां धर्म उपदेश ।
एकण जीव ने समझाविया, मिट जावै हो घणा जीवा रो क्लेश ॥१६॥

तीनो प्रकार के चोर समझ जाने से मालिक का धन सकुशल रहा। तीनो प्रकार के हिसको को प्रतिबोध देने से उन्होने हिंसा का त्याग कर लिया, जिससे जीव बच गये ॥७॥

शील-व्रत स्वीकार किया, उससे स्त्री कुएँ मे जा पडी। इन सबका पाप या धर्म साधु को नही है। जीवित रहे या मरे, तीनो अव्रत मे है ॥८॥

धनवान् धन रहने मे खुश हुआ। जो जीव बचे वे भी हर्षित हुए। साधु न तो उन दोनो के तारक हैं और न उस स्त्री को भी डुबोने वाले है ॥९॥

कुछ मूर्ख मिथ्यात्वी ऐसा कहते हैं—जीव बचे और धन रहा, यह धर्म है। यदि ऐसा है तो उनके कथनानुसार जो स्त्री मर गई, उसका पाप भी साधु को लगना चाहिए ॥१०॥

जीव अपने सहज स्वभाव से जीते हैं, यह दया नही है। सहज स्वभाव से मरते हैं, वह हिंसा नही है। मारने वाले को हिंसा लगती है, जो नही मारता है, वह दयावान् है ॥११॥

किसी ने नियम लिया—मैं आम, नीम आदि वृक्षो को नही काटूगा। उस व्यक्ति के अव्रत घटी, पर वृक्ष जो खडा है, उसका धर्म कैसे हुआ ॥१२॥

सरोवर, द्रह और तालाब आदि सुखाने का त्याग किसी व्यक्ति ने लिया। सर, द्रह, तालाब भरे रहे, इसमे जिनेश्वर देव का धर्म नही है ॥१३॥

लड्डू, घेवर आदि मिठाई खाने का त्याग किया। अपनी आत्मा को वश करके रखा। उस व्यक्ति का वैराग्य बढा, पर जो लड्डू बच गए, वह धर्म नहीं ॥१४॥

दावाग्नि लगाना, गाव जलाना आदि अनेको सावद्य कार्य है। इन सबको समझाकर छुडा दे, यही उक्त सभी कार्यो की एकमात्र विधि है ॥१५॥

कुछेक अज्ञानी यह कहते है—छव काय जीवो की साता के लिए हम उपदेश करते है। एक जीव को समझा देने से बहुत सारे जीवो का क्लेश मिट जाता है ॥१६॥

छ काय घरै साता हुई, एहवो भाषे हो अन्यतीर्थी धर्म ।
त्या भेद न पायो जिन धर्म नो,ते तो भूला हो उदे आयो मोह कर्म ॥१७॥

हिवै साधु कहै तुम्हे साभलो,छ काया रे हो साता किणविध थाय ।
शुभ अशुभ बाध्या ते भोगवै, नही पाम्यो हो त्या मुगत उपाय ॥१८॥

हणवा सूम किया छ काय ना,तिणरै टलिया हो मेला अशुभ कर्म पाप ।
ज्ञानी जाणै साता हुई तेहनै, मिट गया हो जनम-मरण सताप ॥१६॥

साधु तिरण तारण हुवा तेहना,सिद्ध गति मे हो मेल्या अविचल ठाम ।
छ काय लारै भिलती रही, नही सीझे हो तिणरो आतम काम ॥२०॥

आगै अरिहत अनता हुवा,कहिता कहिता हो कदे नावै त्यारो पार ।
आप तिर्या ओरा नै तारिया, छ काया रे हो साता न हुई लिगार ॥२१॥

एक पोते बच्यो मरवा थकी,
दूजै कीधो हो तिणरै जीवण रो उपाय ।
तीजो पिण हरख्यो उण जीविया,
या तीना मे हो शुद्ध गति कुण जाय ॥२२॥

कुशले रह्यो तिणरे अव्रत घटी नही,
तो दूजा ने हो तुम्हे जाणज्यो एम ।
भलो जाणै तिणरे व्रत न नीपनो,
ए तीनूई हो शुद्ध गति जासी केम ॥२३॥

जीविया जीवाया भलो जाणिया,ए तीनूइ हो करण सरीषा जाण ।
कोई चतुर होसी ते परखसी, अण समझू हो करै ताणा-ताण ॥२४॥

छ काया रो वाछै मरणो जीवणो, ते तो रहसी हो ससार मझार ।
ज्ञान दर्शन चारित्र तप भला, आदरिया हो अदराया खेवो पार ॥२५॥

अन्यतीर्थी ऐसा कहते हैं—ऐसा करने से छव काय के जीवो के साता होती है। ऐसा कहने वालो ने जैनधर्म का भेद नही पाया। वे तो मोह कर्म के उदय से भूलभुलैया मे हैं ॥१७॥

अब जो साधु कहते हैं, वह सुनो। छवकाय जीवो के साता कैसे होती है ? वे अपने बधे हुए शुभाशुभ भोगते है। उनको मुक्ति का उपाय नही मिला है ॥१८॥

किसी ने छव काय जीवो की हिंसा का त्याग किया। उसके अशुभ कर्म टले। ज्ञानियो की दृष्टि मे यही साता है कि उसके जन्म-मरण के सन्ताप मिट गए ॥१९॥

साधु उसके तारक हुए, क्योकि उन्होने उसे अविचल मोक्ष गति मे पहुचा दिया। छव काया के जीव तो ससार मे ही रहे, उनके आत्म-कार्य सिद्ध नही हुए ॥२०॥

पूर्व काल मे अनन्त तीर्थंकर हुए, जिनका पार वाणी से नही पाया जाता। वे स्वय तरे और उन्होने दूसरो को तारा, पर इससे पट्काय का क्या सुख सधा ॥२१॥

एक आदमी मरने से अपने आप बचा। दूसरे ने उसे जीवित रहने मे सहयोग किया। तीसरा उसके जीने से प्रसन्न हुआ। इन तीनो मे कौन शुभ गति प्राप्त होगा ॥२२॥

जो स्वय सकुशल रहा, उसके कोई अव्रत घटी नही। दूसरे की भी यही स्थिति समझनी चाहिए। जिसने भला जाना उसके भी कोई व्रत निप्पन्न नही हुआ। ये तीनो शुद्ध गति को कैसे प्राप्त होगे ॥२३॥

जो जीता है, जो जिलाता है और जो भला जानता है, ये तीनो करण एक समान हैं। जो चतुर होगे, वे इस वात को समझ लेंगे, जो अज्ञानी होगे वे खीचा-तान करेंगे ॥२४॥

जो पट्कायिक जीवो का जीना मरना चाहता है, वह समार मे परिभ्रमण करेगा। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप आदि स्वय ग्रहण करने से व दूसरो को करवाने से ही वेडा पार होगा ॥२५॥

दुहा

पोते हणे हणावै नही, पर जीवा रा प्राण।
हणे जिणने भलो जाणे नही, ए नव कोटी पच्चक्खाण ।।१।।

ए अभय दान दया कही, श्रीजिन आगम माय।
तो पिण वद्ध उठावियो, जैनी नाम धराय ।।२।।

अभय दान न ओलख्यो, दया री खबर न काय।
भोला लोगा आगले, कूडा चोज लगाय ।।३।।

कहै साधु बचावै जीव नै, ओरा नै कहै तू बचाय।
भलो जाणै बचिया थका, पिण पूछ्या पलटे जाय ।।४।।

ढाल ६

[राग—जगत गुरु तिसला नन्दन वीर]

इण साधा रा भेष मे जी, बोलै एहवी वाय।
म्है पीहर छा छकाय ना जी, जीव बचावा जाय।
चतुर नर समझो ज्ञान विचार ।।१।।

एहवी करै परूपणा जी, बोलै बध न होय।
पलट जाय पूछ्या थका जी, भोला नै खबर न कोय ।।२।।

पेट दुखै सो श्रावका जी, जुदा हुवै जीव काय।
साधु आया तिण अवसरै जी, हाथ फेर्‌या सुख थाय ।।३।।

साधु पधार्‌या देखनै जी, गृहस्थ बोल्या वाय।
थे हाथ फेरो पेट ऊपरै जी, ए श्रावक जीवा जाय ।।४।।

जब कहै हाथ न फेरणो जी, ए साधु ने कल्पे नाय।
थे कहिता जीव बचावणा, तो बोल ने बदलो काय ।।५।।

दोहा

पर प्राणी को स्वय मारे नही, दूसरे से मरवावे नही, मारने वाले को अच्छा समझे नही, (मन से, वचन से, काया से) ये नवकोटि प्रत्याख्यान कहे जाते हैं ॥१॥

यह अभयदान रूप दया जिनेश्वर देव की आज्ञा मे है तो भी जैनी नाम धराते हुये लोगो ने एक धावली मचा रखी है ॥२॥

अभयदान को पहचाना नही। दया का कुछ पता नही। भले लोगो के सामने झूठा प्रपच करते हैं ॥३॥

कहते हैं–साधु जीव को बचाते है, दूसरो को कहते है कि तुम भी बचाओ और किसी जीव के बच जाने को अच्छा समझते है, लेकिन प्रश्न करने पर बदल जाते हैं ॥४॥

गीति . ६

इस साधु के वेप मे कुछ लोग यह कहते है—हम पट्कायिक जीवो के रक्षक है। क्योकि किसी भी जीव को जाकर बचाते है। हे चतुर मनुष्यो! ज्ञानपूर्वक विचार करके समझो ॥१॥

ऐसी प्ररूपणा करते हैं कि जीव बचाने से पाप कर्म का बन्ध नही होता, किन्तु पूछने पर पलट जाते है। भोले लोगो को जरा भी खबर नही लगती ॥२॥

सौ श्रावको का पेट दुख रहा है। मानो शरीर और प्राण अलग हो रहे है। पेट पर हाथ फेरने से उनको सुख होता है, उस समय साधु वहां आये ॥३॥

साधुओ को आते देखकर गृहस्थ लोग बोले, आप पेट पर हाथ फेरें, नही तो ये श्रावक मर जायेंगे ॥४॥

जब कहते है—हाथ फेरना साधुओ को नही कल्पता। जो जीव बचाने की बात कहते थे तो वे अब बोलकर बदल क्यो जाते है ॥५॥

गोसाले नै वीर बचावियो जी, तिण मे कहो छो धर्म ।
सो श्रावक नही बचाविया, त्यारी श्रद्धा रो निकल्यो मर्म ॥६॥

गोसाला रे कारणै जी, लब्धी फोड़ी जगनाथ ।
सो श्रावक मरता देख नै, थे काय न फेरो हाथ ॥७॥

धर्म कहै भगवत नै, पोतै काय छोड़ी रीत ।
सो श्रावक नही बचाविया, त्यारी कुण माने परतीत ॥८॥

गोसाला नै बचाविया मे, धर्म कहै साक्षात ।
सो श्रावक नही बचाविया, त्यारी बिगडी श्रद्धा वात ॥९॥

इम कह्या जाब न ऊपजै, जब कूडी करै बकवाय ।
हिवै साधु कहै तुम्हे साभलो जी, गोसाला रो न्याय ॥१०॥

साधा नै लब्धि न फोडणी, कह्यो सूत्र भगोती रे माय ।
मोह कर्म वस राग सू जी, लियो गोसालो बचाय ॥११॥

छ लेश्या हूती जद वीर मे जी, हूंता आठूई कर्म ।
छद्मस्थ चूका तिण समै जी, मूरख थापे धर्म ॥१२॥

छद्मस्थ चूक पड़्या तिको जी, मुढै आणै वोल ।
निरवद कोई म' जाण्ज्यो जी, अकल हीया री खोल ॥१३॥

ज्यू आणद श्रावक नै घरै जी, गोतम बोल्या कूड ।
पडिया छद्मस्थ चूक मे जी, शुद्ध हुआ वीर हजूर ॥१४॥

इम अवश्य उदे मोह आवियो, नही टाल सक्या जगनाथ ।
ते तो न्याय न जाणियो, त्यारे माहे मूल मिथ्यात ॥१५॥

गोसाला नै नही बचावता तो, घट तो अछेरो एक ।
निश्चै होणहार टलै नही जी, समझो आण विवेक ॥१६॥

गोसाला नै बचावियो तो वधियो घणो मिथ्यात ।
लोहीठाण कियो भगवंत नै, वले दोय साधा री घात ॥१७॥

गोशालक को भगवान् महावीर ने बचाया, उस मे धर्म कहते है। परन्तु सौ श्रावको को नही बचाने से उनकी मान्यताओं का भ्रम निकल जाता है ॥६॥

गोशालक के लिए जगत प्रभु महावीर ने लब्धि फोडी तो श्रावको को मरते देखकर वे हाथ क्यो नही फेरते ॥७॥

भगवान् को धर्म कहते है तो स्वय उस रीति को क्यो छोड देते है। इस प्रकार श्रावक नही बचाने से उनका विश्वास कौन करेगा ॥८॥

गोशालक के बचाने मे साक्षात धर्म कहते है। वे भी श्रावको को यदि नही बचाते तो उनकी मान्यता बदल जाती है ॥९॥

ऐसा कहने पर जब उत्तर नही आता है, तब झूठा विवाद करते है। अब मैं गोशालक का न्याय कहता हू। तुम सुनो ॥१०॥

भगवती सूत्र मे कहा है—साधु को लब्धि नही फोडनी चाहिए, पर मोहकर्म जन्य राग से भगवान् महावीर ने गोशालक को बचाया ॥११॥

उस समय वीर विभु मे छ लेश्या व आठो ही कर्म थे। छद्मस्थ प्रभु उस समय चूक गए। मूर्ख लोग उसमे धर्म मानते है ॥१२॥

छद्मस्थ प्रभु का चूक पूर्ण कार्य था। मूर्ख लोग उसे ही मुह पर लाते है। हृदय के बुद्धि द्वार को खोलकर उसे निरवद्य कोई मत मानना ॥१३॥

जैसे आनन्द श्रावक के घर मे गौतम स्वामी ने असत्य सभापण किया। छद्मस्थ थे चूक मे पड गए, पर वीर प्रभु के सामने आकर शुद्ध हो गए ॥१४॥

इसी प्रकार भगवान् महावीर के अवश्य मोहकर्म उदय मे आया था। वे उसे नही टाल सके। जिनके हृदय मे मिथ्यात्व बद्धमूल है, वे इस न्याय को नही समझ सकते ॥१५॥

यदि भगवान् गोशालक को नही बचाते तो एक अछेरा [आश्चर्य] घट जाता, पर होनहार टलती नही। विवेक से समझो ॥१६॥

गोशालक को बचाने से बहुत मिथ्यात्व बढा। उसने भगवान् के रक्त-स्राव कर दिया। और दो साधुओ की घात हुई ॥१७॥

गोसाला नै बचविया मे, धर्म जाणे ए स्वाम।
तो दोय साधु बचावत आपणा,बले करता ओहिज काम ।।१८।।

गोसाला ने बचाय ने जी, धर्म जाणै जिनराय।
दोय साधु न राख्या आपणा, यो किणविध मिलसी न्याय ।।१९

जगत ने मरता देखने जी, आडा न दीधा हाथ।
धर्म जाणै तो आघो न काढता,ए तिरण तारण जगनाथ ।।२०।।

ए विवरा शुद्ध बतावियो जी, सूतर भगोती रे न्याय।
कुबदी करै कदाग्रहो जी, सुबुधी रै आवै दाय ।।२१।।

साधा रा मुख आगलै, पखी पडै मालाथी आय।
कहै मेला ठिकाणै हाथ सू तो, दया रहै घट माय ।।२२।।

तपस्वी श्रावक उपासरेजी, काउसग दीधो ठाय।
तागी मिरगी आय ढह पड्यो जी,गाबड भागै जीव जाय ।।२३।।

कोइ गृहस्थ आय नै कहै जी, थे मोटा मुनिराज।
बैठो न कर्यो एहनै जी, यो मरै छै गाबड भाज ।।२४।।

जब तो कहै म्है साधु छाजी, श्रावक बैठो करा केम।
म्हारे काम काइ गृहस्थ सू जी, बोलै पाधरा एम ।।२५।।

श्रावक बैठो करै नही जी, पखी मेलै माला रे माय।
देखो पूरो अधारो एहनै जी, ए चोड़ै भूल्या जाय ।।२६।।

पखी माला मे मेलता जी, शके नही मन माय।
तो श्रावक नै बैठो किया मै, धर्म न श्रद्धे काय ।।२७।।

इतरी समझ पडै नही, त्याने समकित आवै केम।
छकिया मोह मिथ्यात मैं जी, बोलै मतवाला जेम ।।२८।।

कहै साधा नै ऊदर छोडावणो जी, मिनकी पासे जाय।
श्रावक बैठो करे नही जी, यो किणविध मिलसी न्याय ।।२९।।

गौशालक को बचाने मे यदि भगवान् धर्म समझते तो अपने दो साधुओ को भी बचाते और फिर यही काम करते रहते ॥१८॥

गौशालक का बचाने मे भगवान् धर्म समझे और अपने दो साधुओ को बचाया नही, यह न्याय किस प्रकार मिलेगा ॥१९॥

जगत को मरते देखकर जिनेश्वर देव ने हाथ बढाकर किसी को बचाया नही। यदि उसमे धर्म समझते तो जरा भी विलम्ब नही करते, क्योकि वे तो तरण-तारण जगत प्रभु थे ॥२०॥

भगवती सूत्र के न्यायानुसार यह सब विवरण सहित बताया। कुबुद्धि लोग कदाग्रह करते है और सुबुद्धि लोगो को यह अच्छा लगता है ॥२१॥

साधुओ के सामने कोई पक्षी अपने घोसले से नीचे आ गिरा। कहते है—उसे उठाकर पुन वही रखे, तब ही घट मे दया रह सकती है ॥२२॥

तपस्वी श्रावक उपाश्रय मे कायोत्सर्ग कर रहा है। चक्कर आया, मृगी (मूर्छा) आई, ढह पडा, गर्दन दब गई, प्राण जाने वाले है ॥२३॥

कोई गृहस्थ आकर कहता है—आप बडे मुनि है। आपने इसको उठाया नही ? यह गर्दन दब जाने से मर रहा है ॥२४॥

जब कहते हैं—हम साधु है, श्रावक को कैसे बिठा सकते है! और वे झटाक से कह देते है—गृहस्थ से हमारा क्या काम है ॥२५॥

श्रावक को नही उठाते और पक्षी को उठाकर घोसले मे रख देते हैं। देखो इनके घट मे कैसा अन्धेरा छा रहा है। स्पष्ट ही भूले जा रहे हैं ॥२६॥

पक्षी को घोसले मे रखते समय मन मे सकोच नही होता तो श्रावक को उठा लेने मे धर्म क्यो नही मानते ? ॥२७॥

इतनी भी समझ नही होती, उनमे सम्यक्त्व कैसे आयेगा ? मोह और मिथ्यात्व मे छके हुए मतवाले लोगो की तरह बोलते है ॥२८॥

कहते हैं साधु को बिल्ली के पीछे जाकर चूहा छुडा देना चाहिए, किन्तु वे ही श्रावक को नही उठाते, यह न्याय कैसे मिलेगा ? ॥२९॥

मूसादिक नै बचावता जी, मिनकी नै दुख थाय।
श्रावक ने बैठो किया जी, नही किण रे अंतराय ॥३०॥

मूसादिक नै कारणै जी, मिनकी न्हसाडै डराय।
श्रावक मरे मुख आगलै, बैठो न करे हाथ सभाय ॥३१॥

ए प्रत्यक्ष बात मिलै नही जी, तावडो छाया जेम।
श्री जिन मारग ओलख्यो, त्यारे हिरदे बैसे केम ॥३२॥

लाय लागे तो ढाढा खोल नै, साधु काढै उघाडी दुवार।
श्रावक ने बैठो करै नही, या श्रद्धा करसी खुवार ॥३३॥

ढाढा नै तो खोलता जी, खप घणी छै ताय।
सो श्रावक हाथ फेर्‌या बचे, त्यारी नाणै काइ मन माय ॥३४॥

कहै ढाढा खोल बचावस्या, पिण श्रावक रे न फेरा हाथ।
एहवा अज्ञानी जीवरी जी, कोई मूरख मानै बात ॥३५॥

गाडा नीचै आवै डावडो, कहै साधा नै लेणो उठाय।
श्रावक ने बैठो करै नही, यो ऊधो पथ इण न्याय ॥३६॥

रितु वर्षाला नै समैजी, जीव घणा छै ताय।
लटा गजाया ने कातरा जी, पडिया मारग माय ॥३७॥

साधु बारै नीकल्या जी, जोय जोय मूके पाय।
लारै ढाढा देख्या आवता, पिण साधु न लेवै उठाय ॥३८॥

जे बालक लेवै उठाय नै, या जीवा नै न ले उठाय।
तो उणरी श्रद्धा रे लेखे, उणरे दया नही घट माय ॥३९॥

जो बालक नै लेवै उठाय नै, और जीव देखी ले नाय।
इण श्रद्धारी करज्यो पारखा, कोई रखे पड़ो फद माय ॥४०॥

चूहे आदि को बचाने से बिल्ली को दुःख होता है। श्रावक को उठा लेने मे किसी को अन्तराय नही होती ॥३०॥

चूहे आदि के लिए बिल्ली को डराकर भगा देते है। श्रावक मुह के सामने मर रहा है, हाथ लगाकर उसे नही उठाते ॥३१॥

धूप और छाया की तरह यह बात प्रत्यक्ष मिलती नही। जिनेश्वर के धर्म को जिसने समझ लिया है, उसके हृदय मे यह बात कैसे समा सकती है ? ॥३२॥

आग लग जाती है तो साधु द्वार खोलकर गाय, भैस आदि जानवरो को निकाल देते हैं। श्रावक को नही उठाते। यह मान्यता आत्म-गुणो का नाश करने वाली है ॥३३॥

गाय, भैस आदि को खोलने मे तो बहुत परिश्रम उठाना पडता है। श्रावक यदि हाथ फेरने मात्र मे बच जाता है, उसकी कुछ मन मे नही लाते ॥३४॥

कहते हैं—गाय, भैस आदि को तो बचाएगे, किन्तु श्रावक के पेट पर हाथ नही फिराएगे। ऐसे अज्ञानी व्यक्तियो की बात मूर्ख ही मानता है ॥३५॥

गाडी के नीचे कोई बालक आ रहा है तो कहते हैं—साधु को उठा लेना चाहिए। श्रावक को नही उठाते, इस न्याय से यह उल्टा पथ है ॥३६॥

वर्षा ऋतु के समय जीवो की प्रचुरता है। लट, गजाइया और कातरे आदि जीव मार्ग मे पडे हैं ॥३७॥

साधु बाहर निकले है और देख-देख कर पैर रख रहे हैं। पीछे से गाय, भैस आदि पशु आ रहे हैं, परन्तु साधु लट आदि उन जीवो को नही उठाते ॥३८॥

बालक को उठा लेते हैं और जीवो को नही उठाते तो उनकी मान्यता के अनुसार उनके ही घट मे दया नही ॥३९॥

जो बालक को उठा लेते है और जीवो को नही उठाते, इस मान्यता की परीक्षा करनी चाहिए। यह नही कि कोई इस फदे मे फस जाए ॥४०॥

दुहा

मच्छ गलागल लोक मे, सबल निबल ने खाय।
तिण माहे धर्म परूपियो, कुगुरु कुबुद्धि चलाय ॥१॥

मूला जमीकद खवाविया, कहै छै मिश्र धर्म।
या श्रद्धा पाखण्ड्यारी आदर्‍या, जाडा बधसी कर्म ॥२॥

मूला खवाया पाणी पाविया, और सचित्तादिक अनेक।
खाया खवाया भलो जाणिया, या तीनारी विधि एक ॥३॥

ए तो न्याय न जाणियो, उजड पडिया अजाण।
करण जोग विगटाविया, ए मिथ्यादिष्टी एलाण ॥४॥

कुहेतु लगाय लोक नै, हिंसा धर्म भापत।
हिवै सात दिष्टात साधु कहै, ते सुणजो धर खत ॥५॥

मूला पाणी अगन नो, चोथो होको जाण।
तस जीव कलेवर तस तणो सातमो मनुष्य बखाण ॥६॥

या मे तीन दिष्टात करडा कह्या, जाणै अज्ञानी विरुद्ध।
समदिष्टी जिन धर्म ओलख्यो, ते न्याय सू जाणै शुद्ध ॥७॥

केशी कुमार दिष्टात करडा कह्या, तो छोडी प्रदेशी रूढ।
न्याय मेले हुवो समकिती, झगडो झालै ते मूढ ॥८॥

जिणरी बुद्धि छै निरमली, लेसी न्याय विचार।
सुणे भारी कर्मा जीवडा, ते लडवानै छै त्यार ॥९॥

ए सात दिष्टात धुर सू चले, आगै घणो विस्तार।
भिन-भिन भवियण साभलो, अतर आख उघाड़ ॥१०॥

दोहा

लोक मे मच्छगलागल लगी है। सबल जीव निर्बल जीव को खा रहे है। कुगुरु ने अपनी कुबुद्धि के बल पर उसमे भी धर्म निरूपित किया है ॥१॥

मूले, जमीकन्द आदि खिलाने मे मिश्र धर्म कहते है। पाखण्डी लोगो की ऐसी मान्यता स्वीकार करने से सघन कर्म बन्धेंगे ॥२॥

मूले खिलाना, पानी पिलाना और नाना प्रकार के सचित्त खाना, खिलाना व इसका अनुमोदन करना, इन तीनो की एक ही विधि है ॥३॥

इन्होने न्याय को नही जाना। अज्ञानी उजड पड गए हैं। करण व जोगो का विघटन किया है। ये ही तो मिथ्यादृष्टि होने के लक्षण है ॥४॥

कुहेतु लगाकर लोगो को हिंसा-धर्म सिखलाते हैं। उस विषय पर सात दृष्टान्त कहे जाते है। उन्हे शान्ति से सुनो ॥५॥

मूला, पानी, अग्नि, हुका, त्रस जीव, त्रस कलेवर और मनुष्य ये सात दृष्टान्त है ॥६॥

इन सात दृष्टान्तो मे तीन दृष्टान्त बहुत कठोर है। अज्ञानी उनका विरुद्ध अर्थ लगाते हैं। जैनधर्म को समझने वाले सम्यग्दृष्टि न्यायपूर्वक उन्हे शुद्ध मानते हैं ॥७॥

केशी स्वामी ने कठोर दृष्टान्त कहे तो प्रदेशी राजा ने अपनी रूढि छोड दी। न्याय को समझकर वह सम्यग्दृष्टि बना। मूर्ख लोग होते हैं, जो झगडा करते हैं ॥८॥

जिनकी बुद्धि निर्मल है, वह न्यायपूर्वक सोचेंगे। जो बहुकर्मी है, इन्हे सुनेगे तो वे लडने के लिए तैयार ही रहेगे ॥९॥

ये सात दृष्टान्त प्रारम्भ मे हैं। आगे उनका विस्तार है। भव्य जीवो! भिन्न-भिन्न प्रकार मे अपने अन्तर्लोचन खोलकर सुनो ॥१०॥

ढाल : ७

[राग—वीर सुणो मोरी वीनती]

मूला खवाया मिसर कहै, लगावै हो खोटा दिष्टात एह।
कहै पाप लागो मूला तणो, धर्म हूवो हो खाधा बचिया तेह।
भवियण जिन धर्म ओलखो ॥१॥

कहै कूवा बाव खणाविया, हिंसा हुई हो तिणरा लागा कर्म।
लोक पीया कुशले रह्या, साता हुई हो तिणरो हुवो धर्म ॥२॥

इम कही मिश्र परूपता, नहीं शकै हो करता वकवाय।
इण श्रद्धा रो प्रश्न पूछिया, जाव न आवै हो जव लोक लगाय ॥३॥

हिवै सात दिष्टात री थापना, त्यारी सुणज्यो हो विवरा सुध वात।
निरणो कीज्यो घट भीतरै, बुद्धिवंता हो छोडी नै पखपात ॥४॥

सो मनुष्या नै मरता राखिया, मूला गाजर हो जमीकद खवाय।
वले कुशले राख्या सो मानवी, काचो पाणी हो त्याने अणगल पाय ॥५॥

पोह माह महिनें ठारी पडै, तिणकाले हो वाजे सीतल वाय।
अचेत पड़्या सो मानवी, मरता राख्या हो त्यानै अगन लगाय ॥६॥

पेट दुखे तल-फल करै, जीव दोरो हो करै हाय तराय।
साता वपराई सो जणा, मरता राख्या हो त्यानै होको पाय ॥७॥

सो जणा दुर्भख काल मे, अन्न विना हो मरै उजाड माय।
कोइ एक मारै तसकाय नै, सो जणा ने हो मरता राख्या जीमाय ॥८॥

किण ही काले अन्न विना, सो जणा रा हो जुदा हुवै जीव काय।
सहजे कलेवर मूवो पड़्यो, कुशले राख्या हो त्यानै एह खवाय ॥९॥

गीति : ७

मूले खिलाने मे मिश्र धर्म कहते है। उसका हेतु यह वतलाते है कि मूले खिलाने का पाप हुआ, परन्तु मूला खाने मे जो जीव वचे,वह धर्म हुआ ॥१॥

और कहते हैं—कुआ, बावडी खुदाने मे जो हिंसा होती है, वह पाप है। लोग पानी पीकर जो सकुशल रहते हैं, सुख पाते हैं,यह धर्म है ॥२॥

इस प्रकार मिश्र धर्म की प्ररूपणा करते हुए सशक नही होते वल्कि व्यर्थ विवाद करते हैं। इस मान्यता के विषय मे प्रश्न पूछे जाने पर उत्तर नही आता तो लोगो को उभारते हैं ॥३॥

अब इस विषय पर सात दृष्टान्तो की स्थापना की जाती है, उन्हे सविस्तार सुनें। बुद्धिमान् लोग पक्षपात छोडकर अपने हृदय की अनुभूति से निर्णय करें ॥४॥

किसी ने सौ मनुष्यो को मूला, गाजर आदि जमीकन्द खिलाकर मरने से वचाया और किसी ने सौ मनुष्यो को सचित्त और अनछाना पानी पिलाकर सकुशल रक्खा ॥५॥

पोष, माघ का महीना है। ठण्ड पड रही है और उस समय शीतल हवाए चल रही हैं। सौ आदमी मूर्छित पडे हैं। उनको अग्नि जगाकर मरने से वचाया ॥६॥

सौ आदमियो का पेट दुख रहा है, तडफडाहट कर रहे हैं, जीव मिचला रहा है, सवने हाय-तोवा मचा रखी है। उन सौ आदमियो को हुक्का पिलाकर सुखी किया, मरने से वचाया ॥७॥

किसी जगल मे दुर्भिक्ष के कारण सौ व्यक्ति अन्न विना मर रहे हैं। किसी एक व्यक्ति ने जानवर को मारकर उन्हे खिलाया और मरने से वचाया॥८॥

किसी समय अन्न के विना सौ आदमी मर रहे हैं। किसी ने मृत कलेवर खिलाकर उन्हे सकुशल रखा॥९॥

मरता देखी सो रोगला, ममाई बिना हो ते तो साजा न थाय ।
कोई ममाई करै एक मनुष्य री,सो जणा रै हो साता कीधी बचाय ।।१०।।

जमीकंद खवाया पाणी पाविया, त्यामै थापै हो पाप नै धर्म दोय ।
तो अगन लगाया होको पाविया इत्यादिक हो सगले मिश्र होय ।।११

जो धर्म श्रद्धे बचिया तिको, हिसा तिण रा हो लागा जाणै कर्म ।
तो सातूई सरिखा लेखवै, कहि देणो हो सगले पाप नै धर्म ।।१२।।

जो साता मैं मिश्र कहै नही,तो किम आवै हो इण वोल्यारी परतीत ।
आप थापै आप उत्थपै, कुण मानै हो या श्रद्धा विपरीत ।।१३।।

जो सताइ मैं मिसर कहै, तो नही लागै हो गमती लोका मै वात ।
मिलती कह्या विन तेहनी, कुण करै हो कूडारी पखपात ।।१४।।

एक दोय वोला मै मिसर कहै, सगला मै हो कहिता लाजै मूढ ।
एहवो उलटो पथ झालियो, यारै केडै हो ताणै मूरख रूढ ।।१५।।

सौ-सौ मनुष्य सगलै वच्या, थोड़ी घणी हो सगलै हुई घात ।
जो धर्म बरोवर न लेखवै, तो उत्थप गइ हो मूला-पाणी री वात ।।१६।।

वात उथपती जाण नै, कदा कहिदे हो सगले पाप नै धर्म ।
पिण समदिष्टी श्रद्धै नही,एतो काढ्यो हो खोटी श्रद्धा रो मर्म ।।१७।।

असंजती रो मरणो जीवणो, वाछा कीधा हो निश्चै राग नै द्वेष ।
यो धर्म नही जिन भाषियो, सासो हुवै तो हो अग-उपग देख ।।१८।।

सौ रोगी मर रहे थे। ममाई के बिना वे स्वस्थ नही हो सकते। किसी ने एक मनुष्य की ममाई कर सौ मनुष्यो को बचाया, उन्हें साता दी ॥१०॥

जमीकन्द खिलाने व पानी पिलाने मे यदि धर्म और पाप दोनो माने जाते है तो अग्नि जलाने, हुक्का पिलाने आदि सभी कार्यो मे मिश्र धर्म होना चाहिये ॥११॥

यदि ऐसा कहा जाए, जो मनुष्य बचे वह धर्म है और जो हिंसा हुई उससे कर्म बन्ध हुआ तो सातो ही दृष्टान्तो मे समान रूप से पाप व धर्म कह देना चाहिए ॥१२॥

यदि सातो उदाहरणो मे मिश्र धर्म नही कहा जाता तो उनके कथन का विश्वास कैसे हो सकता है ? आप ही सिद्धान्त की स्थापना करते हैं और अपने आप ही उसे उठा देते है। इस विपरीत सिद्धान्त को कौन मानेगा ॥१३॥

यदि सातो ही उदाहरणो मे मिश्र कहा जाता है तो लोगो को अच्छा नही लगता और लोकमत के अनुसार न कहने से उन झूठो की पक्षपात कौन करे ॥१४॥

एक या दो उदाहरणो मे मिश्र कहते हैं। सब मे मिश्र कहते हुए लज्जित होते है। ऐसा विपरीत मार्ग उन्होने लिया है। उनके पीछे मूर्ख रूढिपरक आग्रह करते है ॥१५॥

सौ-सौ व्यक्ति सभी उदाहरणो मे बचे हैं। थोडी बहुत हिंसा भी सभी उदाहरणो मे हुई है। उनमे यदि समान रूप से धर्म निरूपण नही होता तो मूले और पानी की बात कट जाती है ॥१६॥

बात जाती देखकर कभी कह देते है कि सभी स्थानो मे पाप और धर्म दोनो है। किन्तु सम्यग्दृष्टि लोक इस पर विश्वास नही करते। इस प्रकार विपरीत श्रद्धा का भ्रम निष्फल गया है ॥१७॥

असयति जीव का जीना और मरना चाहा जाता है तो निश्चित ही राग और द्वेष है। जिनेश्वर देव ने इसे धर्म नही कहा। यदि सशय हो तो अग व उपाग सूत्रो को देखना चाहिये ॥१८॥

काच तणा देखी मिणकला, अणसमझू हो जाणै रतन अमोल ।
ते निजर पड्या सराप री, कर दीधो हो त्यारो कोड्या मोल ।।१९।।

मूला खवाया मिसर कहै,
या श्रद्धा हो काच-मणी समान ।
तो पिण झाली रतन अमोल ज्यू,
न्याय न सूझै हो चाला कर्मारा जाण ।।२०।।

जीव मारे झूठ बोल नै, चोरी करनै हो पर जीव बचाय ।
वलै करै अकारज एहवो, मरता राख्या हो मैथुन सेवाय ।।२१।।

धन दे राखै पर प्राण नै, क्रोधादिक हो अठारै सेवाय ।
ए सावद्य काम पोते करी, पर जीवानै हो मरता राखै ताय ।।२२।।

जो हिंसा करै जीव राखिया, तिण मे होसी हो धर्म ने पाप दोय ।
तो इम अठारेई जाणजो, ए चरचा में हो वरला समझै कोय ।।२३।।

जो एक मै मिसर कहै, सतरा मे हो भाषा बोलै और ।
ऊँधी सरधारो न्याय मिलै नही, जब उलटा होकर ऊठै झोड ।।२४।।

जीव मारे जीव राखणा, सूत्तर मे हो नही भगवत वैण ।
ऊधो पथ कुगरा चलावियो, सुद्ध न सूझै हो फूटा अतर नैण ।।२५।।

कोइ जीवता मिनख तिर्यच नो,होम करै हो युद्ध जीतण सग्राम ।
एक तो यो पाप मोटको, जीव होम्या हो बीजो सावद्य काम ।।२६।।

कोइ नाहर कसाई नै मारने, मरता राख्या हो घणा जीव अनेक ।
जो गिणै दोया ने सारिषा,त्यारी बिगडी हो श्रद्धा बात विवेक ।।२७।।

काच के टुकडो को देखकर मूर्ख आदमी उसे बहुमूल्य रत्न समझ लेता है, पर जब वह जौहरी की नजर पडता है तो उसका मूल्य कौडियो मे हो जाता है ।।१६।।

मूला खिलाने मे जो मिश्र-धर्म कहते हैं, वे सिद्धान्त काच की मणि के बराबर हैं। फिर भी वह बहुमूल्य रत्न की तरह धारण किया जा रहा है। कर्मों का ऐसा प्रपच है कि न्याय नही सूझता ।।२०।।

जीव-हिंसा कर, झूठ बोलकर, चोरी कर व मैथुन जैसा अकार्य कर जीवो को बचाता है ।।२१।।

धन देकर, क्रोधादि अष्टादश पाप का सेवन कराके व स्वय यह पापकारी कार्य करके दूसरे जीवो को मरने से बचाता है ।।२२।।

हिंसा करके भी बचने मे यदि पाप और धर्म दोनो होते हैं तो अठारह पापो के विषय मे यही समझना चाहिये। पर इस चर्चा को कोई विरला ही व्यक्ति समझ सकता है ।।२३।।

एक पाप मे मिश्र कहते हैं और सतरह प्रकार के पापो के विषय मे दूसरी भाषा बोलते है। इस विपरीत मान्यता का न्याय नही मिलता, तब उलटा झगडा करने लग जाते है ।।२४।।

जीवो को मारकर जीवो को बचाया जाए, ऐसा सूत्र मे कही भगवान् का कथन नही है। ऐसा उल्टा मार्ग कुगुरो ने चलाया है। अन्तरग नेत्र मिट जाने से वे शुद्ध मार्ग को नही देख सकते ।।२५।।

कोई युद्ध-विजय के लिए जीवित मनुष्य व तिर्यञ्च को होम देते है। एक बडा पाप तो युद्ध करना है ही, जीवो का होम करने से दूसरा पापकारी कार्य और हो जाता है। ।।२६।।

किसी ने व्याघ्र व कसाई को मार कर बहुत सारे जीवो को मरने से बचा लिया। यदि दोनो को एक जैसा ही माना जाता है तो समझना चाहिए उनकी मान्यता व बात का विवेक आदि सब बिगड जाते है ।।२७।।

पहिला कहिता जीव बचावणा, तिण लेखे हो बोल्या शुद्ध न काय ।
जीव बचिया रो धर्म गिणै नही,खिणमे थापै हो खिणमै फिर जाय ।।२८।।

देवल ध्वजा तेहनी परै, फिरता बोलै हो न रहै एकण ठाम ।
त्याने पाषडी जिन कह्या, झगडो झाल्यो हो नही चरचा रो काम ।।२९।।

जो एकण नै अधर्म कहै, तो दूजा नै हो कहणो धर्म ने पाप ।
ए लेखो किया तो लड़ पडै,त्यारा घट मैं हो खोटी श्रद्धारो थाप ।।३०।।

बले सरणो लेइ श्रेणिक तणो,सावद्य बोलै हो तिणरी खबर न काय ।
जोरीदावै पेलानै बरजिया, तिण माहे हो जिन धर्म बताय ।।३१।।

कहै श्रेणिक पडह फेरावियो, हणो मती हो फेरी नगरी मे आण ।
तिण मोक्ष हेते धर्म जाणियो,एहवो भाषै हो मिथ्यादिष्टि अजाण ।।३२।।

कहै राय श्रेणिक तो समकिती,धर्म विना हो किम करसी ए काम ।
इम कहि-कहि भोला लोक नै,फद मै न्हाखै हो श्रेणिक रो ले नाम ।।३३।।

श्रेणिक नै करी मुख आगलै,आमी-साहमी हो माडी खाचा-ताण ।
आप छादे उटका मेलता, किम पालै हो श्री जिनवर आण ।।३४।

समदिष्टी तणो कोई नाम लै भरमावै हो अणसमझू अजाण ।
तो शकेंद्र समदृष्टि देवता, जिन भक्ता हो एका अवतारी जाण ।।३५।।
ते तो भीड आयो कोणक तणो, युद्ध कियो हो तिण सावद्य जाण ।
एक कोड असी लाख ऊपरे, मनुष्या रो हो कर दियो घमसाण ।।३६।।

श्रेणिकराय पडहो फेरवियो,एतो जाणो हो मोटा राजारी रीत ।
भगवत न सरायो तेहनै, तो किम आवै हो तिणरी परतीत ।।३७।।

पहले कहा जाता था, जीवो को बचाना चाहिए तो अब उस न्याय पर स्थिर क्यो नही रहते ? जीव बचने का धर्म नही मानते। एक क्षण मे धर्म की स्थापना करते हैं और दूसरे क्षण मे बदल जाते हैं ॥२८॥

मन्दिर की ध्वजा की तरह अस्थिर रहकर ये बदलते हुए बोलते जाते है। ऐसे लोगो को जिनेश्वर देव ने पाखण्डी कहा है। उनका काम चर्चा करना नही, झगडा करना होता है ॥२६॥

एक कार्य मे तो वे अधर्म कहते है और दूसरे मे धर्म और पाप मिश्र रूप से कहते है। इस बात का न्याय मिलाने से वे झगड पड़ते है, क्योकि उनके हृदय मे विपरीत श्रद्धा घर किये हुए है ॥३०॥

श्रेणिक राजा का नाम लेकर सावद्य बात कहते है। बलपूर्वक किसी को पाप से रोक देने मे जिन धर्म की प्ररूपणा करते है ॥३१॥

कहते हैं, श्रेणिक राजा ने 'पडह' बजवाया। नगर मे यह उद्घोषणा कर दी कि प्राणी-वध मत करो। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि कहते है, यह सब उसने मोक्ष के हेतु से धर्म समझ कर किया था ॥३२॥

राजा श्रेणिक तो सम्यक्त्वी था। धर्म न होता तो वह ऐसा काम क्यो करता, यह कह-कहकर के भोले लोगो को फन्दे मे डाला जाता है ॥३३॥

श्रेणिक का नाम आगे रखकर खीचतान खडी करते हैं। जिनेश्वर देव की आज्ञा कौन पालता है ? मनचाही गप्पें हाकते हैं ॥३४॥

कुछ लोग श्रेणिक सम्यग्दृष्टि था, यह कहकर अजान लोगो को भरमाते है। ऐसी बात है तो सम्यग्दृष्टि शकेन्द्र जो परम जिन-भक्त और एक भव के अन्तर से मोक्ष जाने वाला था, वह कोणिक के सहयोग मे आया, सावद्य समझते हुए भी उसने युद्ध किया और एक करोड अस्सी लाख मनुष्यो का उसने सहार किया ॥३५-३६॥

इसी प्रकार श्रेणिक राजा ने जो ढिंढोरा पिटवाया, वह तो बडे राजाओ की रीति थी। भगवान् महावीर ने इस कार्य की कही प्रशसा नही की तो ऐसा कहने वालो की प्रतीति कैसे हो ? ॥३७॥

पडहो फेर्‍यो हणो मती, इतरी छै हो सूत्तर मे बात।
कोइ धर्म कहै श्रेणिक भणी, ते तो बोलै हो चोडै झूठ विख्यात ।।३८।।

लोका सू मिलती बात जाण नै, कर रह्या हो कूडी बकवाय।
मिश्र कहै ते पिण अटकता, साचा हुवै तो हो सूत्र मैं दे बताय ।।३९।।

एतो पुत्रादिक जाया परणिया, ओछवादिक हो ओरी सीतला जाण।
एहवो कारण कोई ऊपजै, श्रेणिक राजा हो फेरी नगरी मै आण ।।४०।।

ते रुकिया नही कर्म आवता, नही कटिया हो तिणरा आगला कर्म।
नरक जातो रह्यो नही, न सीखायो हो तिणनै भगवत धर्म ।।४१।।

भगवते मोटा-मोटा राजवी, प्रतिबोध्या हो आण्या मारग ठाय।
साधु श्रावक धर्म बतावियो, न सीखायो हो पडहो फेरणो ताय ।।४२।।

तो श्रेणिक सीख्यो किण आगलै, भगवत हो पूछ्या साझै मून।
बले न जणावै आमना, आज्ञा बिना हो करणी जाणो जबून ।।४३।।

वासुदेव चक्रवर्ती मोटका,
त्यारी वरते हो तीन-छ खड मे आण।
जो पडहो फेरया मुगति मिले,
तो कुण काढै हो आघो जिन धर्म जाण ।।४४।।

कोउ रागण दिवादिक स्नान नै,
विस्न सातू हो बिना मन दे छोडाय।
जो इणविध जिन धर्म नीपजै,
तो छ खड मे हो वरजे आण फेराय ।।४५।।

आगम मे केवल इतना कथन है—जीव-हिंसा मत करो, ऐसा ढिंढोरा पिटवाया। श्रेणिक राजा को धर्म हुआ,ऐसा कहने वाले तो प्रत्यक्ष ही असत्य बोलते है ॥३८॥

लोकमत के अनुकूल समभकर इस बात पर व्यर्थ विवाद कर रहे है। मिश्र-धर्म भी अटकल बाजी से कहते है। यदि उनका कथन यथार्थ है तो वे शास्त्र का प्रमाण क्यो नही देते ? ॥३९॥

पुत्रादि के जन्मोत्सव, विवाहोत्सव या ओरी-चेत्रक आदि के उत्सव पर व अन्य किसी ऐसे कारण के पैदा होने पर श्रेणिक राजा ने नगरी मे अपना ढिंढोरा फिरवाया होगा ॥४०॥

उससे श्रेणिक राजा के आने वाले कर्मो का अवरोध नही हुआ और न पूर्व सचित कर्मो का नाश ही हुआ। वह नरक जाते भी नही रुका और भगवान् श्री महावीर ने उसको ऐसा धर्म सिखाया हो, ऐसी भी बात नही है ॥४१॥

भगवान् महावीर ने बडे-बडे राजाओ को प्रतिबोध देकर जिन-मार्ग पर लगाया। उनको भगवान् ने साधु-धर्म व श्रावक-धर्म बतलाया, पर 'पडह' फिरवाना कभी नही सिखलाया ॥४२॥

भगवान् तो इस विषय मे पूछने पर भी मौन रहते हैं, अपना अभिप्राय भी व्यक्त नही करते। फिर श्रेणिक को 'पडह' फिरवाना किसने सिखलाया ? जिनेश्वर देव की आज्ञा के बिना कोई भी क्रिया निकृष्ट है ॥४३॥

वासुदेव जिसकी तीन खण्डो मे आज्ञा प्रवर्तमान थी, चक्रवर्ती जिसकी भारत-वर्ष के छहो खण्डो मे आज्ञा प्रवर्तमान थी, यदि ढिंढोरा पिटवाने से मुक्ति मिलती तो जैनधर्म मे समझने वाला कौन व्यक्ति यह करने मे विलम्ब करता ? ॥४४॥

चमडा रगना, दीप जलाना, स्नान करना और सातों व्यसन कोई किसी से बलपूर्वक छुडा देता है। यदि इस प्रकार जिनेश्वर देव का धर्म होता तो चक्रवर्ती छहो खण्डो मे ऐसा न करने की दुहाई फिरा देते ॥४५॥

फल फूल अनत काय नो, हिसादिक हो अठारै पाप जाण।
जोरीदावै पेलानै मना किया, धर्म हुवै तो हो फेरै छ खड मे आण ॥४६॥

तीर्थंकर घर मे थका, त्याने होता हो तीन ज्ञान विशेष।
हाल हुकम थो लोक मै, त्या नही फेरचो हो पडहो सूत्तर देख ॥४७॥

बलदेवादिक मोटा राजवी, घर छोडी हो किया पाप-पचखाण।
श्रेणिक जिम पडहो न फेरियो, जोरीदावै हो न वरताइ आण ॥४८॥

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती तेहने, चित्त मुनि हो प्रतिबोधण आय।
साधु श्रावक नो धर्म कह्यो, पडहा री हो न कही आमना काय ॥४६॥

वीसा भेदा रुके कर्म आवता, बारै भेदे हो कटै आगला कर्म।
ए मोक्ष रो मारग पाधरो, छोडा-मेला हो सगला पापड धर्म ॥५०॥

दोय वेश्या कसाई वाडै गई, करता देख्या हो जीवा रा सघार।
दोनू जण्या मतो करी, मरता राख्या हो जीव दोय हजार ॥५१॥

एक जणी गहणो देई आपरो, तिण छोडाया हो जीव एक हजार।
दूजी छोडाया इण विधे, एका दोया हो चोथो आश्रव सेवाड ॥५२॥

एकण ने पापडी मिसर कहै, तो दूजी नै हो पाप किणविध होय।
जीव बराबर बचाविया, फेर पडियो हो ते तो पाप मे जोय ॥५३॥

एकण सेवायो आश्रव पाचमो, तो उण दूजी हो चोथो आश्रव सेवाय।
फेर पड्यो उण पाप मे, धर्म होसी हो ते तो सरीपो थाय ॥५४॥

एकण नै धर्म कहिता लाजै नही, दूजोड़ी नै हो कहिता आवै शक।
जब लोका सू करै लगावणी, एहवो जाणो हो चोडै कुगरा रा डक ॥५५॥

यदि वल-प्रयोग से किसी को निपेध करने मे धर्म होता हो तो फल-फूल व अन्तकाय वनस्पति की हिंसा करने का और शेष पापो के सेवन का निपेध छहो खण्डो मे किया जा सकता था ।।४६।।

तीर्थकर जव गृहस्थावास मे थे, उनके पास तीन ज्ञान थे। ससार मे उनका आदेश-निर्देश भी चलता था। उन्होंने कभी 'पडह' नही फिरवाया। सूत्र ग्रथ इस वात के साक्षी हैं ।।४७।।

वलदेव आदि वडे राजाओ ने गृह-त्यागकर पाप-प्रत्याख्यान किया,पर श्रेणिक की तरह 'पडह' फिरवाकर वलपूर्वक आज्ञा नही प्रवरताई ।।४८।।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को चित्त मुनि प्रतिवोध देने के लिए आये। उसे साधु व श्रावक का धर्म वतलाया पर 'पडह' फिरवाने के लिए कोई इगित नही किया ।।४६।।

वीस प्रकार के संवर-भेदो मे आते हुए कर्म रुकते हैं। वारह प्रकार के निर्जरा-भेदों मे सचित कर्म टूटते हैं। ये दो सीधे मोक्ष के मार्ग है। दूसरी सारी खटपट पाखण्ड-धर्म है ।।५०।।

दो वेश्याए कसाई खाने मे गई। जीवो का सहार होते देखा। दोनो वेश्याओ ने परस्पर विचार-विमर्श करके एक-एक हजार जीवो को मरते वचाया ।।५१।।

एक ने अपना गहना देकर एक हजार जीवो को वचाया, दूसरी ने एक या दो पुरुषो को अपने साथ अब्रह्मचर्य-सेवन का अवसर देकर एक हजार जीवो को छुडाया ।।५२।।

पाखण्डी एक को मिश्र-धर्म कहते हैं तो फिर दूसरी को केवल पाप कैसे हुआ? जीव तो दोनो ने वरावर वचाये। अन्तर पडा तो पाप-प्रकार मे पडा ।।५३।।

एक स्त्री ने पाचवे आश्रव परिग्रह का सेवन कराया और दूसरी ने चौथे आश्रव अब्रह्मचर्य का सेवन कराया। अन्तर तो इस पाप मे चौथे व पाचवे की सख्या का पड़ा। धर्म यदि होगा तो दोनो को समान ही होगा ।।५४।।

एक को धर्म कहने मे हिचकते नही, दूसरी को धर्म कहने मे सशक होते हैं। लोगो को वहकाते है। यह कुगुरुजनो का साप की तरह दश लेना है ।।५५।।

एक वेश्या सावद्य कामो करी, सहस्र नाणो हो लेगइ घर माय ।
दूजी कर्तव्य करी आपणो, मरता राख्या हो सहस्र जीव छोडाय ।।५६।।

धन आण्यो खोटा कर्तव्य करी, तिणरै लागा हो दोनू विध कर्म ।
दूजी जीव छोडाया तेहनै, उणरै लेखै हो हुवो पाप नै धर्म ।।५७।।

पाप गिणै मैथुन मे, जीव बचिया हो तिणरो न गिणै धर्म ।
पोतै श्रद्धारी खबर पोतै नही, ताणी-ताणी हो बाधे भारी कर्म ।।५८।।

ए प्रश्न रो जाब न ऊपजै, चरचा मै हो अटके ठाम-ठाम ।
तो पिण निरणो करै नही, बक ऊठे हो जीवारो ले नाम ।।५९।।

जीव जीवे काल अनाद रो, मरै तेहनी हो पर्याय पलटी जाण ।
सवर निर्जरा तो न्यारा कह्या, ते तो ले जावै हो जीवनै निर्वाण ।।६०।।

पृथवी पाणी अगन ने वायरो, वनस्पती हो छठी तसकाय ।
मोल ले छोडावै तेहनै, धर्म होसी हो ते तो सगला मे थाय ।।६१।।

तसकाय छोडाया धर्म कहै, पाच काय मे हो नही बोलै निशक ।
भर्म मे पाड्या लोक नै, त्या लगाया हो मिथ्यात रा डक ।।६२।।

त्रिविधे-त्रिविधे छकाय हणवी नही,
एहवी छै हो भगवत री वाय ।
मोल लिया धर्म कहै मोक्ष रो,
ए फद माड्यो हो कुगुरा कुबुद्धि चलाय ।।६३।।

देव गुरु धर्म रतन त्रिहु, सूत्तर मे हो जिन भाख्या अमोल ।
मोल लिया नही नीपजे, साची श्रद्धो हो आख हियारी खोल ।।६४।।

एक वेश्या पापकारी कार्य करके सहस्र रुपए लेकर बलि-गृह मे आई, दूसरी न्यायोपार्जित सहस्र रुपए लेकर। दोनो ने सहस्र-सहस्र जीव बचाए ॥५६॥

जिसने पापकारी कार्य करके धन कमाया, उसके दोनो ओर से कर्म-बध हुआ। दूसरी ने जो जीव बचाए तो उनके अभिमतानुसार उसमे पाप और धर्म दोनो हुए ॥५७॥

अब्रह्मचर्य के सेवन मे पाप माना जाता है और उससे जो जीव बचे, उसे धर्म नही मानते। उनकी मान्यता का पता उन्हे स्वय नही चलता। व्यर्थ ही अपनी बात को तानकर सघन कर्म बाधते है ॥५८॥

इन प्रश्नो का उत्तर नही आता। चर्चा-प्रसग मे बात-बात पर अटकते हैं तो भी निर्णय नही करते और जीवो का नाम लेकर बहक उठते हैं ॥५६॥

जीव अनादि काल से जी रहा है। जो मरता है, वह तो उसकी पर्याय बदलती है। सवर व निर्जरा की तो बात ही अलग है। वे तो आत्मा को मोक्ष ले जाने वाले हैं ॥६०॥

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन छ प्रकार के जीवो को मूल्य पर खरीदकर बचाने मे यदि धर्म है तो इन सभी प्रकार के जीवो को तथाप्रकार से बचाने मे धर्म है ॥६१॥

केवल त्रसकाय को छुडाने मे धर्म कहते है। पाच कायो को बचाने मे नि शक बात नही कहते। उन्होने लोगो को भ्रम मे डाला है और उनके मिथ्यात्व का डक मारा है ॥६२

तीन करण व तीन योग से छ काया के जीवो की हिंसा नही करनी चाहिए, ये भगवद्-वाक्य हैं। जीवो को मोल लेकर बचाने मे जो मोक्ष-धर्म कहा जाता है, वह कुगुरुओ की कुबुद्धि का प्रपच है ॥६३॥

शास्त्र मे देव, गुरु व धर्म इन तीन रत्नो को जिन भगवान् ने अमूल्य कहा है। ये तीनो रत्न मोल लेने से प्राप्य नही हैं। हृदय की आखे खोलकर सम्यक प्रकार से इस कथन मे भरोसा करना चाहिए ॥६४॥

ज्ञान दर्शन चारित्र नै तप, मोक्ष जावा हो मारग छै च्यार।
त्यानै भिन-भिन ओलख आदरै, शुद्ध पालै हो ते पामै भव-पार ।।६५।।

दुहा

दया-दया सबको कहै, ते दया धर्म छै ठीक।
दया ओलख नै पालसी, त्यानै मुगत नजीक ।।१।।

आ दया तो पहिलो व्रत छै, साधु श्रावक नो धर्म।
पाप रुके तिण सू आवता, नवा न लागै कर्म ।।२।।

छ काय हणै हणावै नही, हणिया भलो न जाणै ताय।
मन वचन काया करी, या दया कही जिनराय ।।३।।

आ दया चोखै चित्त पालसी, तिरै घोर रुद्र ससार।
वले याहिज दया परूपनै, भवि जीवानै उतारै पार ।।४।।

एक नाम दया लोकीक री, तिणरा भेद अनेक।
तिणमे भेषधारी भूला घणा, ते सुणज्यो आण विवेक ।।५।।

ढाल : ८

[राग—पाषंड मत रो निरणो कीजे]

द्रव्ये लाय लागी भावे लाय लागी, द्रव्येई कूवो नै भावेई कूवो।
भेद न जाणै मूढ मिथ्याती, ससार नै मुगत रो मारग जूवो।
भेषधर नै भूला रो निरणो कीज्यो ।।१।।

कोइ द्रव्ये लाय सू बलतो राखै,
द्रव्ये कूवा सू पडता नै झाल बचायो।
यो तो उपगार कह्यो इण भवरो,
जे विवेक विकल त्यानै खबर न कायो ।।२।।

मोक्ष-गमन के चार मार्ग हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। इन्हे भिन्न-भिन्न प्रकार से पहचान कर, स्वीकार कर, शुद्ध प्रकार से पालन करने वाला इस भव-सिन्धु से पार उतर जाता है॥६५॥

दोहा

दया-दया सभी कहते हैं और दया धर्म सही भी है। जो दया की छ न-बीन कर उसका पालन करेंगे, उनके मुक्ति निकट होगी॥१॥

यह दया तो साधु और श्रावक का पहला व्रत व धर्म है। इसमे आने वाले कर्म रुकते हैं व नये कर्मों का बन्ध नही होता॥२॥

मन, वचन, काया से पट्कायिक जीवो की हिंसा करे नही, करावे नही और करने वाले को अच्छा समझे नही, यह दया है, ऐसा जिन भगवान् ने कहा है॥३॥

इसी दया का शुद्ध हृदय से पालन कर मनुष्य घोर रौद्र ससार को तर जाता है और इसी दया की प्ररूपणा करके जीव ससार सिन्धु के पार उतर जाता है॥४॥

एक लौकिक दया है। उसके अनेक भेद हैं, जिनमे वेशधर साधु भूल रहे है। यह अब विवेकपूर्वक सुनो॥५॥

गीति : ८

आग लगी है और पापरूप आग लगी है। कुआ है और ससार रूप कुआ है। इन भेदो को मूर्ख मिथ्यादृष्टि नही जानते। ससार और मोक्ष का तो मार्ग ही पृथक्-पृथक् है। साधु का वेश लेकर भी कैसे भूले हैं, इसका निर्णय करो॥१॥

कोई इस अग्नि मे जलने से बचाता है या इस कुए मे पडने से बचाता है, ये सब तो लौकिक उपकार है। विवेक-शून्य लोगो को इसका ज्ञान नही है॥२॥

घट मे ज्ञान घाल नै पाप पचखावै,
तिण पडतो राख्यो भव कूवा माह्यो।
भाव लाय सू बलता नै काढे ऋषेश्वर,
ते पिण गेहला भेद न पायो ॥३॥

सूनै चित सूत्तर वाचै अज्ञानी,
त्यारै द्रव्य नै भाव रा नही निवेडा।
परवार सहित कुपथ मै पडिया,
त्या नरक सु सन्मुख दीधा डेरा ॥४॥

गृहस्थ नै ओषध-भेषद देई नै,
अनेक उपाय करै जीवा बचावै।
ए ससार तणा उपगार किया मैं,
मुगति रो मारग मूढ बतावै ॥५॥

करै मत्र-जत्र झाडा नै झपटा,
सर्पादिक नो जहर देवे उतारी।
काढे डाकण-साकण भूत यक्षादिक,
तिणमे इ धर्म कहै सागधारी ॥६॥

एहवा किरतब सावद्य जाणी,
त्रिविधे-त्रिविधे साधा त्यागज कीधो।
भेषधारी लोका सू मिलनै अज्ञानी,
त्या जीव वचावण रो सरणो लीधो ॥७॥

उवे जीव बचावण रो मुख सू कहै पिण,
काम पडचा बोलै फिरती बाणो।
भोला लोका नै भ्रम मे पाड बिगोया,
ते पिण डूबै छै कर-कर ताणो ॥८॥

कीडचा मकोडा नै लटा गजाया,
ढाढा रा पग हेठै चीथ्या जावै।

किसी के घट मे ज्ञान पैदा कर पाप का प्रत्याख्यान करा दिया तो उसने उस व्यक्ति को ससार कूप मे पडने से बचाया। इसी प्रकार साधु जन्म-मरण की अग्नि से जीवो को बचा लेते है। विक्षिप्त लोगो ने इसका भी रहस्य नही समझा है॥३॥

मिथ्यादृष्टि लोग सूने मन से शास्त्र का अध्ययन करते है। उन्हे ऐहिक, पारलौकिक आदि भेदो का पता नही है। वे तो सपरिवार कुपथ मे पडकर नरक के नजदीक डेरा डाल रहे है॥४॥

गृहस्थ को औषध-भैषज्य देकर अथवा अनेक अन्य उपाय करके बचाया। यह जो ससार का उपकार किया गया, उसे मूढ लोग मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं॥५॥

यन्त्र, मन्त्र, झाडा-झपटा करके सर्पादिक का जहर उतार देते है, डाकिन, शाकिन, भूत, यक्ष आदि को निकाल देते हैं। वेशधारी साधु इन कार्यो मे भी धर्म कहते हैं॥६॥

इस प्रकार के कार्यो को सावद्य समझकर साधुओ ने तीन करण, तीन योग से छोडा है। वेशधारी साधुओ ने लोगो मे मिलकर जीवो को जिलाने का शरण लिया है॥७॥

वे जीवो को जिलाने की बात मुख मे कहते हैं, किन्तु काम पडने पर बदल जाते हैं। भोले लोगों को भ्रम मे डुबोया है और आग्रह कर-करके स्वय भी डूबते हैं॥८॥

कीडे-मकोडे, लट और गजाई आदि जीव भैस आदि पशुओ के पैरो तले कुचले जाते हैं। वेशधारी साधु कहते हैं, हम जीव बचाते है तो उन जीवो को एक-

भेषधारी कहै म्है जीव बचावा,
तो चुण-चुण जीवानै क्यू न बचावै ॥६॥

कोइ आखै चोमासै उपदेश देवै तो,
दश पाच जीवाने दोरा समझावै ।
जो उद्यम करै च्यार महिना माहे,
तो लाखा गमै जीव तेह बचावै ॥१०॥

सो घरा रै आर कोइ लेवै सथारो,
तो तुरत आलस छोड देवण जावै ।
सो पगला गया लाखा जीव बचै छै,
त्या जीवानै जाये क्यू न बचावै ॥११॥

घर छोडतो जाणै सो कोशा उपरै,
तो साग पहिरावण सताब सू जावै ।
एक कोश गया जीव कोड़ा बचै छै,
त्या जीवानै जाय क्यू न बचावै ॥१२॥

जब तो कहै म्हारो कल्प नही छै,
म्हे तो ससार थी हूवा न्यारा ।
कब ही कहै म्है जीव बचावा,
उवे बाणी न बोलै एकण धारा ॥१३॥

साधु तो आपरा व्रत राखण नैं,
त्रिविधे-त्रिविधे जीव नही सतावै ।
ससार माहे जीव पच रह्या छै, त्या सू तो साधु हुवा निरदावै ।
या श्रद्धा श्री जिनवर भाषी ॥१४॥

जीवणो मरणो त्यारो नही चावै,
समझतो देखे तो साधु समझावै ।
ज्ञानादिक गुण घट मे घाली,
मुगत नगर मे साधु पहुचावै ॥१५॥

एक करके क्यो नही चुग लिया करते ? ॥६॥

सारे चौमासे मे उपदेश करके दस-बीस आदमियो को भी बडी कठिनता से समझाते है। यदि चार महीनो तक उक्त प्रकार से जीव बचाने का काम करे तो वे लाखो जीवो को सहज ही बचा सकते है ॥१०॥

सौ घरो की दूरी पर कोई व्यक्ति आमरण अनशन करता है तो आलस्य छोडकर एकदम उसे अनशन दिलाने के लिए जाते है। सौ कदम जाने से ही लाखो जीव बच जाते है तो उन जीवो को जाकर क्यो नही बचाते ? ॥११॥

सौ कोस दूर भी कोई आदमी दीक्षा लेना चाहता है, वे वेशधारी उसे वेश देने के लिए बडे अभिमान से जाते है। एक कोस दूर जाने मे करोडो जीव बचते हैं, तो उन जीवो को जाकर क्यो नही बचाते ? ॥१२॥

तब कहते है, हम ससार से अलग हो गये हैं, ऐसा करना हमारा आचार नही है। कभी कहते है, हम जीव बचा सकते है। इस प्रकार एक जैसी बात नही कहते ॥१३॥

साधु तो अपने व्रत रखने के लिए तीन करण, तीन योग से किसी भी जीव को सताते नही। ससार मे जीव लीन हो रहे है, उनसे साधुओ का लगाव नही है। यही श्रद्धा जिन-भासित है ॥१४॥

उनका जीना, मरना साधु नही चाहते। समझने के योग्य वे होते है तो साधु उनको समझाते हैं। उनके घट मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि डालकर उन्हे मोक्ष-नगर पहुचा देते है ॥१५॥

गृहस्थ रा पग हेठै जीव आवै तो,
भेषधारी कहै म्हे तुरत बतावा।
ते पिण जीव बचावण काजै,
म्हे सर्व जीवारो जीवणो चावा ॥१६॥

अव्रती जीवारो जीवणो वाछै,
तिण धर्म रो परमारथ नही पायो।
या श्रद्धा अज्ञान्यारी पग-पग अटके,
ते साभलज्यो भवियण चित ल्यायो ॥१७॥

गृहस्थ रै तेल जाये मूण फूटा,
ते कीडचा रा दर माहे रेलो आवै।
बिच मैं जीव आवै ते तेल सू बहिता,
बले तेल वुहो-बुहो अगनि मैं जावै ॥१८॥

जो अगनि ऊठै तो लाय लागै छै,
तो तस स्थावर जीव मारचा जावै।
गृहस्थ रा पग हेठै जीव बतावै,
तो तेल ढुलै ते बासण क्यू न बतावै ॥१९॥

पग सू मरता जीव बतावै,
तेल सू मरता जीवानै नही बतावै।
या खोटी श्रद्धा उघाडी दीसे,
पिण अभिन्तर आधारै नजर न आवै ॥२०॥

वले भेषधारी विहार करता मारग मैं,
त्याने श्रावक साह्मा मिलिया आयो।
ते मारग छोड ने उज्जड पडिया,
तस थावर जीवानै चीथता जायो ॥२१॥

श्रावका नै उज्जड पडिया जाणै,
तस थावर जीवानै मरता देखै।

गृहस्थ के पैर के नीचे कोई जीव आ रहा है तो वेशधारी साधु कहते है, हम उसे तुरन्त बचाते है और यह भी कहते है कि जीव-रक्षा के उस समय हम सभी जीवो का जीना चाहते हैं ॥१६॥

जो अव्रती जीवो का जीना चाहते हैं, उन्होने धर्म का परमार्थ नही पाया। उन अज्ञानियो की मान्यता कदम-कदम पर अटकती है। भव्य जनो को चित्त लगाकर उसका न्याय सुनना है ॥१७॥

गृहस्थ का तेल-भाजन फूट जाने से तेल वह रहा है। चीटियो के विल मे उसकी धाराए वहकर आती है। तेल के साथ वहते हुए जीव भी आ रहे है और वह तेल वहता हुआ अग्नि मे जा रहा है ॥१८॥

जो अग्नि उठती है तो लाय लग सकती है। त्रस और स्थावर जीव मर सकते है। गृहस्थ के पैरो के नीचे आने वाले जीवो को वताते हैं तो जिस भाजन से तेल वह रहा है, उसे क्यो नही वताते ? ॥१६॥

पैर से मरते जीवो को तो वतलाते हैं और तेल से मरते जीवो को नही वतलाते, यह तो प्रत्यक्ष ही विपरीत मान्यता है, किन्तु जिनके ज्ञानरूप नेत्र नही है, उनके समझ मे नही आती ॥२०॥

वेशधारी साधु विहार कर रहे है, रास्ते मे कुछ श्रावक उन्हें सामने आकर मिले। वे सव मार्ग-भ्रष्ट होकर त्रस-स्थावर जीवो को रौंदते हुए उजड जा रहे हैं ॥२१॥

उज्जड पडे हुए श्रावको को और मरते हुए त्रस-स्थावर जीवो को वे देख रहे है। गृहस्थ के पैरो मे आने वाले जीव को यदि वे वताते हैं तो उनके कथनानुसार

गृहस्थ रा पग हेठे जीव बतावै,
तो मारग बताय देणो इण लेखै ।।२२।।

एक पग हेठै जीव मरै ते बतावै,
तो थोडा सा जीवाने बचता जाणो ।
श्रावका नै उज्जड सू मारग घाल्या,
घणा जीव बचै तस स्थावर प्राणो ।।२३।।

एक पग हेठै जीव बचावै अज्ञानी,
ठालै बादल अंबर ज्यू गाजै ।
त्याने श्रावक उजाड मे मार्ग पूछै तो,
मोन साझै बोलता काय लाजै ।।२४।।

थोडी दूर बताया थोडो धर्म हुवै तो,
घणी दूर बताया घणो धर्म जाणो ।
घणी दूर रो नाम लिया बक उठै,
त्यारी खोटी श्रद्धारा ए अहलाणो ।।२५।।

कोई आधो पुरुष गामातरे जाता,
ऊ आख बिना जीव किणविध जोवै ।
कीडया मकोडादिक चीथतो जावै,
तस स्थावर जीवारो घमसाण होवै ।।२६।।

भेषधारी सहजाई साथे जाता,
आधा रा पग सू जीव मरता देखै ।
जो पग-पग जीवानै नही बतावै,
तो खोटी श्रद्धा जाणज्यो इण लेखै ।।२७।।

त्याने बताय-बताय ने जीव बचावणा,
के पूजी-पूजी ने करणो दूरो ।
इण धर्म करण सू तो पोतैई लाजै,
तो दूजो कुण मानसी यो मत कूडो ।।२८।।

उन श्रावकों को मार्ग भी बता देना चाहिए ॥२२॥

किसी एक के पैरों के नीचे आने वाले जीवों को बतलाने से तो थोड़े से जीव ही बचते हैं। श्रावकों को उज्जड से मार्ग डालने मे त्रस-स्थावर बहुत सारे जीव बच जाते हैं ॥२३॥

किसी एक के पैर नीचे आने वाले जीवों को तो अज्ञानी बतलाते हैं, खाली बादल की तरह आकाश मे गूजते है, पर जगल मे श्रावक मार्ग पूछते हैं तो बोलते लज्जित होकर मौन क्यो रखते हैं ॥२४॥

थोडी दूर बताने मे थोडा धर्म होता है तो अधिक दूर बताने मे अधिक धर्म होना चाहिए। अधिक दूर का नाम लेते ही बकने लगते हैं। यह असत्य मान्यता की निशानी है ॥२५॥

कोई अन्धा पुरुष दूसरे गाव जा रहा है। वह आख के बिना जीवो को कैसे देख सकता है? वह बनस्पति प्रभृति स्थावर और चीटी-मकोडे प्रभृति त्रस जीवो को कुचलता चलता है। इस प्रकार जीवो का सहार होता ॥२६॥

वेशधारी साधु सहज ही उसके साथ चल रहे हैं और अन्धे पुरुष के पैरो से मरने वाले जीवो को भी उन्होने देख लिया है, ऐसी स्थिति मे यदि वे कदम-कदम पर जीवो को नही बचाते तो उनकी मान्यता को अशुद्ध मान लेना ही चाहिए ॥२७॥

या तो उस अन्धे को बता-बताकर जीवो को बचाना चाहिए या प्रमार्जन कर-करके उन्हे दूर करना चाहिए। ऐसा धर्म करने से यदि स्वय ही लज्जित होते है तो कौन इस असत्य मत को मानेगा ॥२८॥

बले ईल्या सुलसुलिया सहित आटो छै,
ते गृहस्थ रै ढुलै मारग मायो।
तपती रेत उनालारी तिण मै,
पडत पाण जुदा हुवै जीव कायो ॥२९॥

गृहस्थ नही देखै आटो ढुलतो,
ते भेषधारचा री निजरचा आवै।
उवे पग सू मरता जीव बतावै,
आटे ढुलते मरता जीव क्यू न बतावै ॥३०॥

इत्यादिक गृहस्थ रा अनेक उपधि सू,
तस स्थावर जीव मूवानै मरसी।
ते पग हेठै जीव बतावै त्यानै,
सगली ठोड बतावणा पडसी ॥३१॥

किणहिक ठोडै जीव बतावै,
किणहिक ठोड शका मन आणै।
समभ पडचा बिन श्रद्धा परूपै,
पीपल बाधी मूर्ख ज्यू ताणै ॥३२॥

ए पग-पग जाब अटकता देखै,
कदा सर्व आरै हुवै अज्ञानी थूलो।
कूड-कपट करै मत कुशले राखण नै,
पिण वुद्धिवत बात न मानै मूलो ॥३३॥

गृहस्थ रो न वाछणो जीवणो मरणो,
ते वाछ बताया लागै पाप कर्मो।
राग द्वेष रहित रहणो निरदावै,
एहवो निकेवल श्रीजिन धर्मो ॥३४॥

समोसरण ते एक जोजन माडला मे,
तठे नर-नारचा रा व्रन्द आवै नै जावै।

इल्ली और सुलसल्यो सहित आटा है, किसी गृहस्थ से मार्ग मे गिर रहा है। ग्रीष्म-काल की तप्त धूलि मे उन जीवो के पडते ही प्राण व शरीर जुदा हो रहे हैं।।२६।।

उस गृहस्थ को आटा गिरने का ध्यान नही है और वह वेशधारी साधुओ की नजरो मे आ गया है। वे पैर से दवकर मरने वाले जीवो को वताते है तो आटा गिरने से मरने वाले जीवो को क्यो नही वताते है ? ।।३०।।

इस प्रकार गृहस्थ के अनेक उपकरणो से त्रस-स्थावर जीव मरते रहे है और मरते रहेगे। यदि पैर के नीचे आने वाले जीवो को वतलाते हैं तो उन्हे सभी जीवो को वतलाना पडेगा ।।३१।।

किसी स्थान पर वे जीवो को वतलाते हैं और किसी स्थान पर वे ऐसा करने मे सशक होते हैं। विना समझे वूझे जो अपनी मान्यता स्थिर करते हैं, वे मूर्ख वहू की तरह पीपल के तने को वाधकर खीचते हैं।।३२।।

जव वे अपने उत्तर को स्थान-स्थान पर रुकते हुए देखते है तो कभी-कभी वे स्थूल अज्ञानी सभी प्रसगो पर जीव वतलाने की हाँ करते है। यह सब झूठ और कपट की मान्यता को सकुशल रखने के लिए किया जाता है, परन्तु वुद्धिमान् जरा भी उनकी वात को नही मानते ।।३३।।

गृहस्थ के जीने और मरने की वाछा न करनी चाहिए। वाछा करके वताने मे पाप-कर्म का वन्ध होता है। जिनेश्वर देव के धर्म के अनुसार तो राग-द्वेष रहित होकर तटस्थ रहना चाहिए। निकेवल यही श्रद्धा जिन-भाषित है।।३४।।

चार कोश गोलाकार स्थान मे समवसरण लगता है। वहा स्त्री-पुरुषो के समूह आते हैं, जाते है। अरिहन्त देव की वाणी सुनने के लिए वे आते है और

अरिहत आगै बाणी सुणवा त्याने,
भगवत भिन्न-भिन्न भाव सुणावै ॥३५॥

च्यार कोश मा हे त्रस-स्थावर हूता,
मर गया जीव उराणे आया।
नर-नारया रा पग सू बिन उपयोगे,
पिण भगवत कठेयन दीसे बताया ॥३६॥

नन्द मणियारो डेडको हुई नै,
वीर वादण जातो मारग मायो।
तिण नै चीथ मारयो श्रेणिक रे वछेरे,
वीर साधु साहमा मेहली क्यू न बचायो ॥३७॥

गृहस्थ रा पग हेठै जीव आवै तो,
साधा नै बतावणो कठेय न चाल्यो।
भारी कर्मा लोका नै भिष्ट करण नै,
यो पिण घोचो कुगुरा रो घाल्यो ॥३८॥

जब साधा रो नाम तो अलगो मेलै,
श्रावका री चरचा मुख ल्यावै।
साधा सू मरता जीव साधु वतावै,
ज्यू श्रावक श्रावका नै जीव बतावै ॥३९॥

सिद्धातरा वल बिन बोलै अज्ञानी,
श्रावका रो सभोग साधा ज्यू वतायो।
ए गाला ए गोला मुख सू चलाया,
ते न्याय सुणो भवियण चित ल्यायो ॥४०॥

साधा रा पग हेठै जीव मरे ते,
सभोगी साधु देखी जो नही बतावै।
तो अरिहतनी आज्ञा लोपावै,
पाप लागो ने विराधक थावै ॥४१॥

अरिहन्त देव उन्हे विविध विषय समझाते हैं ॥३५॥

चार कोश के उस क्षेत्र मे त्रस-स्थावर अनेक जीव थे। स्त्री-पुरुषो के विना उपयोग से उन के पैरो मे आकर अनेको जीव यो ही मर गये होगे ? किन्तु भगवान् ने उन जीवो को वताया हो, ऐसा कही नही आता ॥३६॥

नन्दन मणिहारा अपने मेढक के भव मे भगवद्-वदन के लिए जा रहा था। श्रेणिक के घोडे के पैर के नीचे आकर वह मर गया। महावीर स्वामी ने साधुओ को सामने भेजकर उसे क्यो नही वचाया ? ॥३७॥

गृहस्थ के पैर के नीचे जीव आते हो, साधु उसे वताये, यह कही नही आया है। वहुकर्मी लोगो को भ्रष्ट करने के लिए कुगुरु लोगो का ही मारा । यह तीर है॥३८॥

तव वे साधुओ का नाम तो अलग कर देते हैं और श्रावको की चर्चा मुह पर लाते है। कहते हैं—साधु से मरते हुए जीवो को जैसे साधु वतलाते है, वैसे ही श्रावक मे मरते हुए जीवो को श्रावक वतलाते हैं ॥३९॥

अज्ञानी लोग शास्त्र के वल विना बोलते हैं और साधुओ की तरह श्रावको का भी पारस्परिक सभोग वतलाते हैं। ये कपोल-कल्पित वाते मुह से यो ही कह दी। भव्यजन चित्त लगाकर इसका न्याय सुनें ॥४०॥

किसी साधु के पैर के नीचे आकर कोई जीव मर रहा है। यदि कोई सघ का साधु उसे जानते हुए भी नही वताता तो वह अरिहन्त की आज्ञा का लघन करता है, पाप-उपार्जन करता है और वह विराधक अर्थात् आराधना रहित हो जाता है॥४१॥

साधु तो साधा नै जीव बतावै,
ते पोता रो पाप टलावण रै काजै।
श्रावक श्रावका नै जीव नही बतावै,
तो किसो पाप लागो किसो व्रत भाजै ॥४२॥

श्रावक श्रावक नै न बताया पाप लागो कहै,
यो भेषधारया मत काढ्यो कूडो।
श्रावका रै सभोग साधा ज्यू हुवै तो,
पग-पग वध जाये पाप रा पूरो ॥४३॥

पाट बाजोटादिक साधु वारै मेले नै,
ठरडै मात्रादिक कारज जावै।
लारै और साधु त्यानै भीजतो देखै,
जो ऊ न लेवै तो प्रायश्चित आवै ॥४४॥

रोगी गरड़ा गिलाण साधु री व्यावच,
न करे तो श्रीजिन-आज्ञा वारै।
महामोहणी कर्म तणो वध पाडै,
इहलोक ने परलोक दोनू विगाड़ै ॥४५॥

आहार पाणी साधु वहिरी आणै,
सभोगी साधा नै वाट देवा री रीत।
आप आण्यो जाणी नै अधिको लेवै तो,
अदत्त लागै नै जावै परतीत ॥४६॥

इत्यादिक साधु-साधु रै अनेक वोलां रो,
सभोगो साधा सू न किया अटके मोखो।
या हिज वोला रो श्रावक श्रावका रे,
न करे तो मूल न लागै दोषो ॥४७॥

श्रावका रे सभोग साधा ज्यू हुवै तो,
श्रावक-श्रावक ने पिण इणविध करणो।

एक साधु दूसरे साधु को जीवादि बताता है, वह तो अपना पाप टालने के लिए। श्रावक श्रावक को यदि जीवादि नही बतलाते तो उनका कौनसा व्रत टूटता है व कौनसा पाप लगता है ? ॥४२॥

श्रावक श्रावक को यदि जीव नही बताता तो पाप है, यह वेशधारियो ने झूठा मत निकाला है। यदि श्रावको का पारस्परिक सभोग अर्थात् आचार-कल्प साधुओ जैसा ही हो तो पग-पग पर पाप की गठरी बधती रहेगी ॥४३॥

चौकी, तख्त आदि बाहर पडे रहते है। साधु शरीर-चिंता की निवृत्ति के लिए गये है। पीछे जो साधु है, वे वर्षादि मे पाट-बाजोट आदि भीगते हुए देखते रहे, उन्हे उठाकर अन्दर न लाए तो उन्हे प्रायश्चित्त आता है ॥४४॥

रोगी, वृद्ध और ग्लान साधु की वैयावृत्ति (सेवा) साधु न करे, यह जिन-आज्ञा के विरुद्ध है। वैयावृत्ति न करने वाला साधु महामोहनीय कर्म का बन्धन करता है और अपने लोक व परलोक दोनो बिगाडता है ॥४५॥

आहार व पानी साधु गोचरी (भिक्षा) से लाता है। उसके लिए अपने सभोगी साधु को सविभाग देने का विधान है। वह लाया है, इसलिए वह अधिक ले, तो उसे चोरी का दोष लगता है और उसका विश्वास उठ जाता है ॥४६॥

इस प्रकार अनेको बोल है, जो सभोगी साधु के साथ यदि नही किये जाते है तो मोक्ष-गमन रुकता है, पर ये सभी बोल यदि श्रावक श्रावक के लिए नही करता तो उसे जरा भी दोष नही लगता ॥४७॥

श्रावक के भी साधुओ की तरह यदि सभोग हो तो उन्हे भी साधुओ की तरह करना चाहिए। अज्ञानी इस मान्यता का निर्णय नही निकालते। उन्होने तो नीति

ए श्रद्धा रो निरणो न काढै अज्ञानी,
त्या विकल थई लीधो लोका रो सरणो ।।४८।।

जो ए श्रावक श्रावका रा नहीं करे तो,
भेषधारया रे लेखै भागल जाणो ।
त्या श्रावका रे सभोग साधा ज्यू परुप्यो,
ते पड गया मूरख उलटी ताणो ।।४६।।

श्रावक रे सभोग तो श्रावक सू छै,
बले मिथ्याती सू राखै भेलापो ।
त्यारो सभोग तो अव्रत मै छै,
ते त्याग किया सू टलसी पापो ।।५०।।

त्या सू सरीरादिक नो सभोग टाले नै,
ज्ञानादिक गुण रो राखै भेलापो ।
उपदेश देइ निरदावै रहिणो,
पेलो समझ नै टालै तो टलसो पापो ।।५१।।

लाय लागी जो गृहस्थ देखै तो,
तुरत बुझावै छ काया मारी ।
ए सावद्य किरतब लोक करै छै,
तिण माहे धर्म कहै सागधारी ।।५२।।

अगनि पाणी छ काय मरी त्यारो,
थोडोसो पाप कहां हुवै कानी ।
और जीव वच्या त्यारो धर्म बतावै,
लाय बुझावण री करै छै सानी ।।५३।।

ए पाप ने धर्म रो मिश्र परूपै,
तोटा बिचै लाभ घणो बतावै ।
त्या भेषधारया री प्रतीत आवै तो,
लाय बुझावण दोडया जावै ।।५४।।

एहवी दया बतावै अज्ञानी,
छ काय रा पीहर नाम धरावै ।

भ्रष्ट होकर गृहस्थो का शरण लिया है ॥४८॥

यदि श्रावक श्रावक के प्रति ये कार्य नही करते है तो वेशधारियो के मतानुसार वे व्रत-भ्रष्ट है। श्रावको के सभोग को साधु-सभोग की तरह बताने वाले उल्टी खीचातान मे पड गये ॥४९॥

श्रावक के श्रावक से सभोग है और मिथ्यात्वी से भी है। वे सभोग तो अव्रत मे है। उनका तो परित्याग करने से ही पाप टलेगा ॥५०॥

उनसे शरीर आदि का सभोग टालना चाहिए और ज्ञानादि गुणो की एकता रखनी चाहिए। उपदेश देकर तटस्थ रहना चाहिए। अगला व्यक्ति समझ कर पाप टालना चाहेगा, तभी पाप टलेगा ॥५१॥

लाय लगते ही यदि गृहस्थ देख लेता है तो तत्काल छ काया की हिंसा करके भी उसे बुझाता है। यह सावद्य आचार लोगो का है, उसमे भी वेशधारी धर्म कहते है ॥५२॥

अग्नि, पानी आदि छ काय के जीवो की हिंसा हुई, उसमे थोडा-सा पाप कहकर अलग हो जाते है और जो जीव बचे उनका धर्म बतला कर अग्नि बुझाने का सकेत करते है ॥५३॥

यह पाप और धर्म की मिश्र-प्ररूपणा करते हैं। हानि से अधिक लाभ बतलाते है। इन वेशधारियो का विश्वास करते है, वे अग्नि बुझाने के लिए दौडते हुए जाते है ॥५४॥

इस प्रकार की दया अज्ञानी बतलाते है और छ काय के रक्षक होने का दावा

मिश्र धर्म कहै लाय बुझाया,
पिण प्रश्न पूछ्या रो जाब न आवै ॥५५॥

छ काय जीवारी हिंसा कीधा,
और जीव बच्या त्यारो कहै छै धर्मो।
ए श्रद्धा सुण-सुण ने बुद्धिवंता,
खोटा नाणा ज्यू काढ्यो भर्मो ॥५६॥

नित्य रा नित्य पाच सो जीवानै मारै,
कोई करै कसाई अनारज कर्मो।
जो मिश्र धर्म छै लाय बुझाया,
तो इण नैई मारचा हुवै मिश्र धर्मो ॥५७॥

लाय सू बलता जीव जाणी नै,
छ काय हणै नै लाय बुझाई।
ज्यू कसाई सू मरता जीवाने देखै,
कोइ जीव बचावण हणै कसाई ॥५८॥

जो लाय बुझाया जीव बचै तो,
कसाई नै मारचा बचै घणा प्राणो।
लाय बुझाया, कसाई नै मारचा,
ए दोया रो लेखो बरोबर जाणो ॥५९॥

बले नाहर सिंघादिक चिता बघेरा,
ए दुष्ट जीव करै पर घाता।
जो लाय बुझाया जीव बचै तो,
यानेई मारचा घणा रै हुवै साता ॥६०॥

दुहा

जीव हिंसा छै अति बुरी, तिण मैं अवगुण अनेक।
दया धर्म मैं गुण घणा, ते सुणज्यो आण विवेक ॥१॥

करते है। अग्नि बुझाने मे मिश्र-धर्म कहते है, किन्तु प्रश्न पूछने पर उसका जवाब नहीं आता ।।५५।।

षट्कायिक जीवो की हिंसा करने मे जो दूसरे जीव बचे, उनका धर्म कहते है, इस मान्यता को सुनकर जो बुद्धिमान् है, उन्होने तो खोटे रुपये की तरह पहचान कर भ्रम निकाल दिया है ।।५६।।

कोई अनार्य कर्मी कसाई प्रतिदिन पाच सौ जीवो को मारता है। यदि अग्नि बुझाने मे मिश्र-धर्म है तो कसाई को मार देने मे भी मिश्र-धर्म होना चाहिए ।।५७।।

अग्नि मे जलते जीवो के लिए षट्कायिक जीवो की हिंसा करके आग बुझाई जाती है, वैसे ही कसाई से मरते हुए जीवो को देखकर कोई जीवो को बचाने के लिए कसाई की हत्या कर डालता है ।।५८।।

जो अग्नि को बुझाने से जीव बचते है तो कसाई को मार देने से बहुत सारे जीव बच जाते हैं। अग्नि को बुझाने और कसाई को मार देने, इन दोनो का लेखा बराबर समझना चहिए ।।५९।।

सिंह, चीता, बाघ, नाहर ये दुष्ट जीव दूसरे जीवो की हत्या करते है। यदि अग्नि बुझाने मे जीव बचते है तो उन दुष्टो को मार देने मे भी बहुत लोगो के साता हो जाती है ।।६०।।

दोहा

जीव-हिंसा अति बुरी है। उसमे अनेक अवगुण भरे है। जो दया धर्मी होते हैं, उनमे अनेक गुण होते है। उन्हे विवेक पूर्वक सुनो ।।१।।

ढाल : ९

[राग—थो भल रे सीता पति आयो]

दया भगोती छै सुखदाई, ते मुगति पुरी नी साई जी।
साठ नाम दया रा कह्या जिन, दशमा अग रै माहि जी।
दया धर्म श्रीजिनजी री बाणी ॥१॥

पूज्यनीक नाम दया रो भगोती, मगलीक नाम छै नीको जी।
जे भवि जीव आया इण सरणे, त्यानै छै मुगति नजीको जी ॥२॥

त्रिविधे-त्रिवधे छ काय न हणवी, या दया कही जिनरायो जी।
तिण दया भगोती रा गुण छै अनता, ते पूरा केम कहिवायो जी ॥३॥

त्रिविधे-त्रिविधे छ काय जीवा नै, भय नही उपजावै तामो जी।
ए अभय दान कह्यो भगवते, ए पिण दया रो नामो जी ॥४॥

त्रिविधे-त्रिविधे छ काय मारण रा, त्याग करै मन सुद्धे जी।
या पूरी दया भगवते भाषी, तिण सू पाप रा वारणा रूधे जी ॥५॥

त्याग किया बिन हिसा टालै, तो कर्म निर्जरा थायो जी।
हिसा टाल्या शुभ जोग वर्ते छै, तिहा पुन्न रा थाट बधायो जी ॥६॥

इण दया सू पाप कर्म रुक जावै, बले कर्म करै चकचूरो जी।
या दोय गुणा मैं अनत गुण आया, ते पालै छै बिरला सूरो जी ॥७॥

याहिज दया छै महाव्रत पहिलो, तिणमे दया दया सर्व आई जी।
ते पूरी दया तो साधु जी पालै, बाकी दया रही नही काई जी ॥८॥

गीति : ९

दया भगवती अत्यन्त सुखदायी है। वह मोक्षपुरी की स्वीकृति है। दशवे अग प्रश्नव्याकरण सूत्र मे दया के साठ नाम कहे हैं। दया धर्म जिनेश्वर देव की वाणी है ॥१॥

दया का पूज्यनीय और मागलिक नाम भगवती है। जो भव्य प्राणी इसकी शरण आये हैं, उनके मुक्ति निकट है ॥२॥

तीन करण, तीन योग से पट्कायिक जीवो की हिंसा न करना, जिनेश्वर देव ने इसे दया कहा है। उस दया भगवती के अनन्त गुण है, उन्हे पूरा कैसे कहा जा सकता है? ॥३॥

तीन करण, तीन योग मे पट्कायिक जीवो को भय न उपजाना, इसे भगवान् ने अभयदान कहा है। यह भी दया का एक नाम है ॥४॥

तीन करण, तीन योग से पट्कायिक जीवो को मारने का शुद्ध मन से त्याग करना, यही पूर्ण दया भगवान् ने कही है, इससे पाप-आगमन के द्वार रुकते है ॥५॥

त्याग किये विना भी यदि दया पाली जाती है, तो भी कर्म टूटते है। हिंसा से वचाने मे शुभ योगो की प्रवृत्ति होती है, उससे पुण्य समूह का वन्धन होता है ॥६॥

इस दया से आने वाले पाप कर्म रुक जाते है और सचित कर्म चूर-चूर हो जाते हैं। इन दो गुणो मे अनन्त गुण आ जाते हैं। विरले शूर ही इस दया का पालन करते है ॥७॥

यही दया तो प्रथम महाव्रत है, जिसमे समग्र दया का समावेश है। उस पूर्ण दया का पालन साधु करते है। उससे अवशेप कोई दया नही रह जाती ॥८॥

छ काय ने हणे हणावै नाही, बले हणता ने नही सरावै जी।
इसडी दया निरन्तर पालै, त्यारे तुले बीजो कुण आवै जी ॥६॥

याहिज दया चोखै चित पालै, ते केवलिया री छै गादी जी।
याहिज दया सभा मैं परूपै, तिणनै वीर कह्यो न्यायवादी जी ॥१०॥

याहिज दया केवलिया पाली, मनपर्यव अवधिज्ञानी जी।
वले मतिज्ञानी नै श्रुतिज्ञानी, याहिज दया मन मानी जी ॥११॥

याहिज दया लब्धीधार्या पाली, या ही पूर्वधर ज्ञानी जी।
शंका हुवै तो निशक सू जोवो, सुतर मैं नही छै वात छानी जी ॥१२॥

देश थकी दया श्रावक पालै, तिणनै पिण साधु वखाणे जी।
ते श्रावक हिंसा करै घर बैठो, पिण तिण माहे धर्म न जाणे जी ॥१३॥

प्राण भूत जीव ने सत्व,
त्यारी घात न करणी लिगारो जी।
या तीन काल रा तीर्थंकरा नी वाणी,
आचारग चोथा अध्येन मझारो जी ॥१४॥

मत हणो मत हणो कह्यो अरिहता,
तो ए जीव हणै किण लेखै जी।
ज्यारी अभितर आख हिया री फूटी,
ते सूतर साहमो न देखै जी ॥१५॥

जीव री हिंसा छै महा दुखदाई,
ते नरक तणी छै साई जी।
खोटा-खोटा नाम तीस हिंसा रा,
कह्या दशमा अग रै माहि जी।
हिंसा धर्म कुगुरा री वाणी ॥१६॥

छ काय के जीवो को मारे नही, मरवाये नही और मारने वाले की प्रशसा करे नही, ऐसी दया का जो निरन्तर पालन करते है, उनकी तुलना मे दूसरा कौन आ सकता है ? ॥६॥

इसी दया का भले मन से पालन किया जाता है तो वह केवलियो का परम्परा है। इसी दया का जो सभा मे निरूपण करता है, उसे भगवान् महावीर ने न्यायवादी कहा है ॥१०॥

केवलज्ञानियो ने भी इसी दया का पालन किया है और मन पर्यव ज्ञानियो अवधिज्ञानियो, मति ज्ञानियो व श्रुत ज्ञानियो ने भी इसी दया का पालन किया है ॥११॥

इसी दया का पालन लब्धिधर साधुओ ने भी किया है। इसी दया का पालन पूर्वधरो ने किया है। शका हो तो नि शक रूप से शास्त्रो को देख लेना चाहिए ॥१२॥

उसी दया का आशिक पालन श्रावक करता है, उसकी भी साधु प्रशसा करते हैं, परन्तु जो श्रावक घर बैठा हिंसा करता रहता है, उसे साधु धर्म नही मानते ॥१३॥

आचाराग सूत्र के चौथे अध्ययन मे कहा गया है, प्राण, भूत, जीव, सत्व की हिंसा नही करनी चाहिए। यह भूत, भविष्य, वर्तमान तीनो ही काल के तीर्थंकरो की वाणी है ॥१४॥

अरिहन्त प्रभु ने साधु को माहण अर्थात् 'मत हणो' इस शब्द से सम्बोधित किया है तो फिर यह जीवो की हिंसा किस आधार से करते हैं। जिनके अन्तरग नेत्र लुप्त हो गये हैं, वे आगम की ओर नहीं देखते ॥१५॥

जीव-हिंसा दु ख देने वाली है। यह नरक-गमन की स्वीकृति है। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे हिंसा के तीस नाम बहुत ही बुरे-बुरे बतलाये हैं। हिंसा धर्म कुगुरु की वाणी है ॥१६॥

प्राण घात हिसा छै खोटी,
ते सर्व जीवा नै दुखदायो जी।
तिण जीव हिसा मैं अवगुण अनेक,
ते पूरा केम कहिवायो जी ॥१७॥

केई कहै म्हे हिसा किया मे,
जाणा छा पाप एकतो जी।
पिण हिंसा किया बिना धर्म न हुवै,
म्हे किणविध पूरा मन खतो जी ॥१८॥

केई कहै म्हे हणा एकेन्द्री, पचेन्द्री जीवा रे ताई जी।
एकेन्द्री मार पचेन्द्री पोष्या, धर्म घणो तिण माहि जी ॥१९॥

एकेन्द्रिय थी पचेन्द्रिय ना, मोटा घणा पुन्य भारी जी।
एकेन्द्री मार पचेन्द्री पोष्या, म्हाने पाप न लागै लिगारी जी ॥२०॥

केई इसडो धर्म धारी ने बैठा, ते तो कुगुरा तणो सीखायो जी।
निशक थका छ काय ने मारै, बले मन माहै हर्षित थायो जी ॥२१॥

कोई पाच स्थावर नै सहल गिणी नै, मारचा न जाणै पापो जी।
तिण सू त्याने हणता शक न आणै, ए तो कुगुरा तणो परतापोजी ॥२२॥

पाच थावर ना आरभ सेती, दुर्गति दोष बधारै जी।
कह्यो दशवैकालिक छठे अध्येने, तो बुद्धिवत किणविध मारैजी ॥२३॥

छ काय जीवा नै जीवा मारी नै, सगासेण न्यात जीमावै जी।
ए प्रत्यक्ष सावद्य ससार नो कामो, तिण माहे धर्म बतावै जी ॥२४॥

जीवा नै मारी नै जीवानै पोषै, ते तो मारग ससार नो जाणो जी।
तिण माहै साधु धर्म बतावै, ते पूरा छै मूढ अयाणो जी ॥२५॥

हिंसा को प्राण-घात भी कहते है। वह सब जीवो के लिए दु खदायी है। उस जीव-हिंसा मे अनेको अवगुण हैं, उन्हे पूरा कैसे कहा जा सकता है ? ॥१७॥

कुछ कहते हैं, हम जानते हैं कि हिंसा करने मे एकान्त पाप होता है, पर हिंसा किये बिना धर्म भी नही होता। हम अपनी धर्म-भावना को किस प्रकार पूरी करे ? ॥१८॥

कुछ लोग कहते है, पचेन्द्रिय जीवो के लिए हम एकेन्द्रिय जीवो का विनाश करते हैं, क्योकि एकेन्द्रिय जीवो को मारकर पचेन्द्रिय जीवो को पोपित करने मे बहुत बडा धर्म होता है ॥१९॥

एकेन्द्रिय जीवो से पचेन्द्रिय जीवो के पुण्य अधिक होते है, इसलिए एकेन्द्रिय जीवो को मार कर पचेन्द्रिय जीवो को पोपित करने मे हमे जरा भी पाप नही लगता ॥२०॥

जो ऐसा धर्म मन मे धारण किये बैठे है, वह तो कुगुरु लोगो का सिखाया हुआ है। वे नि शक होकर छ काय के जीवो को मारते हैं और मन मे हर्पित होते है ॥२१॥

कुछ लोग पाच प्रकार के स्थावर जीवो को सहज समझ कर उन्हे मारने मे पाप नही समझते, इसलिए उन्हे नि शक रूप से मारते है। यह कुगुरु का प्रताप है ॥२२॥

पाच स्थावर की हिंसा से दुर्गति रूप दोप बढते है। दशवैकालिक के छठे अध्ययन मे जब यह कहा गया है तो बुद्धिमान् हिंसा कैसे करेंगे ? ॥२३॥

छ काय के जीवो को मारकर अपने सगे-सम्बन्धी व बिरादरी को खिलाते हैं, यह प्रत्यक्ष ही पापकारी और सासारिक कार्य है। इसमे भी धर्म बतलाते हैं ॥२४॥

जीवो की हिंसा कर जीवो का पोपण करते है, यह ससार का मार्ग है। इसमे जो साधु धर्म बतलाते हैं, वे पूरे मूर्ख और अज्ञानी है ॥२५॥

मूला गाजर सकरकंद कादा, इत्यादिक निलोती अनेको जी।
ते पिण दान दिया मे पुन्न परूपै, तै बूडे छै बिना विवेको जी ॥२६॥

केई जीव खवाया मे पुन्य परूपै, केई मिश्र कहै छै मूढोजी।
ए दोनुई हिसाधर्मी अनारज, ते बूडे छै कर कर रूढोजी ॥२७॥

जीव खवाया मैं पुन्य परूपै, त्यारी जीभ वहै तलवारो जी।
वले पहरण साग साधुरो राखै, धिग त्यारो जमवारो जी ॥२८॥

केइ साधुरो विडद धरावै लोका मैं, वले वाजे भगवत रा भगताजी।
पिण हिंसा माहे धर्म परूपै, त्यारा तीन व्रत भागै लगता जी ॥२९॥

छ काय मारचा मे धर्म परूपै, त्याने हिंसा छ काय री लागै जी।
तीन काल री हिंसा अनुमोदी, तिण सू पहलो महाव्रत भागै जी ॥३०॥

हिंसा मे धर्म तो जिन कह्यो नाही, हिसा मे धर्म कह्या झूठ लागैजी।
इसड़ो झूठ निरन्तर वोलै, त्यारो बीजोई महाव्रत भागै जी ॥३१॥

ज्या जीवा ने मारचा धर्म परूपै,
त्या जीवा रो अदत्त लागोजी।
वले आज्ञा लोपी श्री अरिहंत नी,
तिण सु तीजोई महाव्रत भागो जी ॥३२॥

छ काय मारचा मे धर्म बतावै, त्यारी श्रद्धा घणी छै ऊंधी जी।
ते मोह मिथ्यात मे जडिया अज्ञानी, त्यानै श्रद्धा न सूझै सूधीजी ॥३३॥

त्याने पूछचा कहै म्हे दयाधर्मी छा, पिण निश्चै छ काय रा घातीजी।
त्या हिंस्या धर्म्या ने साधु श्रद्धे केई, ते पिण निश्चै मिथ्याती जी ॥३४॥

मूला, गाजर, सकरकन्द, प्याज इत्यादि अनेक प्रकार की वनस्पति का दान करने मे पुण्य का निरूपण करते है, वे विना विवेक से डूब रहे है ॥२६॥

कुछ एक जीव-खिलाने मे पुण्य की प्ररूपणा करते हैं और कुछ मूर्ख मिश्र-धर्म की। ये दोनों ही प्रकार के लोग हिंसाधर्मी है, अनार्य हैं और रूढिवश डूब रहे हैं ॥२७॥

जीवो की हिंसा मे पुण्य का निरूपण करने वालो की जीभ तलवार की तरह चलती है। वे साधु का स्वाग रखते हैं। उनके जीवन को धिक्कार है ॥२८॥

कुछ लोग साधु होने का गौरव रखते है। लोगो मे भगवान् के उपासक कह-लाते है, पर हिंसा मे धर्म की प्ररूपणा करते है। उनके तीन महाव्रत टूट जाते हैं ॥२९॥

छ काया की हिंसा मे धर्म की प्ररूपणा करते है, उन्हे छ काया की हिंसा का दोष लगता है। तीन काल की हिंसा का अनुमोदन हुआ, इससे प्रथम महाव्रव भग हुआ ॥३०॥

जिनेश्वर देव ने हिंसा मे धर्म कहा नही है और वे ऐसा कहते हैं, इसलिए उन्हें झूठ का दोप लगता है। फिर ऐसा झूठ वे निरन्तर वोलते रहते है, इसलिए उनका दूसरा महाव्रत टूट जाता है ॥३१॥

जिन जीवो को मारने मे धर्म प्ररूपते है, उन जीवो का अदत्त लगता है। दूसरी वात हिंसा मे धर्म की प्ररूपणा कर वे अरिहन्त प्रभु की आज्ञा का लघन करते हैं, इससे तीसरा महाव्रत भी भग हो जाता है ॥३२॥

छ काया को मारने मे धर्म वतलाते हैं, उनकी मान्यता बहुत ही विपरीत है। वे अज्ञानी मोह और मिथ्यात्व मे जकडे है। उन्हे सम्यक् मान्यता नही सूझ सकती ॥३३॥

वे भी पूछे जाने पर कहते है, हम दयाधर्मी हैं, पर वास्तव मे वे छ काया के हिंसक हैं। उन हिंसाधर्मियो को यदि कोई साधु मानता है, वह भी निश्चित रूप से मिथ्यात्वी है ॥३४॥

केइ कहै साधु जीव बचावै, राखै रखावै भलो जाणैजी।
ने जिनमारग रा अजाण अज्ञानी, इसडी चरचा आणै जी ॥३५॥

साधु तो जीवा ने क्या नै बचावै, ते पचे रह्या निज कर्मो जी।
कोई साधुरी सगत आय करै तो, सीखाय देवै जिन धर्मो जी ॥३६॥

छ कायरा शस्त्र जीव अव्रती, त्यारो जीवणो मरणो चावैजी।
त्यारो जीवणो मरणो साधु बछैतो, राग द्वेष बेहू आवै जी ॥३७॥

छ कायरा शस्त्र जीव अव्रती, त्यारो जीवणो मरणो खोटो जी।
त्यानै हणवारो त्याग कियो तिण माहे, दया तणो गुण मोटोजी ॥३८॥

असजमजीतब नै बाल मरण, या दोयारी वाछा न करणी जी।
पडित मरण नै सजमजीतब, यारी आशा वछा धरणी जी ॥३९॥

छ कायरा शस्त्र जीव अव्रती, त्यारो असजमजीतब जाणोजी।
सर्व सावद्य त्याग किया त्यारो, सजमजीतब एह पिछाणोजी ॥४०॥

त्रिविधे त्राइ छ काय रा साधु, त्यारी दया निरतर राखैजी।
ते छ कायरा पीहर छ काय नै मारचा, धर्म किसै लेखै भाखैजी ॥४१॥

छ कायरा जीवा नै हणै ससारी, त्यारै बिचै पड़ै नही जायोजी।
बिचै पडचा व्रत भागै साधुरो, ते विकला नै खबर न कायोजी ॥४२॥

केइ तो कहै साधु नै बिचै न पड़णो, केइ कहै बिचै पडणोजी।
साधु नै समभावै रहिणो, ते विकला रै नही छै निरणोजी ॥४३॥

कोई कहते हैं, साधु जीव बचाते हैं, जीव की रक्षा करते है, दूसरो से रक्षा करवाते है और रक्षा करने वाले को अच्छा समझते है। वे जैनधर्म के अजाण व अज्ञानी हैं जो ऐसी चर्चाए करते है ।।३५।।

साधु जीवो को क्यो बचाने लगेगे ? जीव तो अपने-अपने कर्मो के अनुसार सुख-दु ख पा रहे है। कोई निकट आकर साधु की सगति करेगा तो वे उसे जैन धर्म सिखलाएगे ।।३६।।

अव्रती जीव तो छ काया के शस्त्र हैं। साधु उनका जीना या मरना नही चाहेगा। यदि चाहेगा तो उसके मन मे राग व द्वेष की प्रवृत्ति होगी ।।३७।।

छ काया के शस्त्र अव्रती जीवो का जीना व मरना दोनो ही बुरे है। उन जीवो को मारने का जो त्याग करता है, उस व्यक्ति मे दया का विशेष गुण है ।।३८।।

असयमजीवितव्य और बाल-मरण इन दोनो की वाछा नही करनी चाहिए। पडितमरण और सयमजीवितव्य की वाछा करनी चाहिए ।।३९।।

अव्रती जीव पट्कायिक जीवो के शस्त्र हैं। उनके जीवन को असयमी जीवन समझना चाहिए। जिन्होने सब प्रकार के सावद्य का त्याग किया है, उनका जीवन सयमी जीवन कहा जाता है ।।४०।।

साधु तीन करण, तीन योग से पट्कायिक जीवो के त्राता (रक्षक) है। वे उनके प्रति निरन्तर दया-भाव रखते है। वे पट्काय के रक्षक साधु पट्काय को मारने मे धर्म किस आधार से कहते है ? ।।४१।।

ससारी प्राणी छ ही काया के जीवो की हिंसा करते है। साधु उनके बीच मे नही पडते। बीच मे पडने से साधु का व्रत भग होता है। विवेकशून्य लोगो को इसकी खबर नही पडती ।।४२।।

कुछ तो कहते हैं, साधु को बीच मे नही पडना चाहिए और कुछ कहते है, उन्हे बीच मे पडना चाहिए। विवेकशून्य लोग यह नही समझ पाते कि साधु को तो समभाव से ही रहना चाहिए ।।४३।।

साधु नै बिचै पडणो त्रिविधे निषेध्यो,
ते हृणता विचै न पडै जायो जी।
पिण गृहस्थ मे धर्म कहै विचै पडिया,
तो घररो धर्म काय गमायो जी ॥४४॥

हृणे जीतब ने प्रससा रे हेत, हृणे मान ने पूजा रै कामोजी।
वले जनम-मरण मूकावा हृणै छै, हृणे दु.ख गमावण तामो जी ॥४५॥

या छ कारणा छ काय नै मारै तो, अहेत रो कारण थावे जी।
जनम-मरण मूकावण हृणे तो, समकित रतन गमावे जी ॥४६॥

ए छ कारणे छ काय नै मारचा, आठ कर्मारी गाठ वधायो जी।
मोहनै मार बधे घणी निश्चै बलै पड़ै नरक मे जायोजी ॥४७॥

अर्थे अनर्थे हिंसा कीधा, अहेत रो कारण तासो जी।
धर्म रै कारण हिंसा कीधा, बोध बीजरो नाशो जी ॥४८॥

ए छ कारणे छ काय नै मारै, ते तो दुःख पामैं इण ससारोजी।
ए तो आचारग रै पहले अध्ययने,छ उद्देशा मै कह्यो विस्तारोजी ॥४९॥

केई समण माहृण अनारज पापी, करै हिंसा धर्मरी थापो जी।
कहै प्राण भूत जीव नै सत्व, धर्म हेते हृण्या नही पापो जी ॥५०॥

एहवी ऊधी परूपणा करै अनारज,
त्यानै आरज वोल्या धर प्रेमोजी।
थे भूडो दीठो नै भूडो साभलियो,
भूडो मान्यो भूडो जाण्यो एमोजी ॥५१॥

जीव मार्‌या मैं धर्म परूपै,
ए तो अनारज री वाणोजी।
ते तो मूढ मिथ्याती भारी कर्मा,
त्यांरी सुध-वुध नही ठीकाणोजी ॥५२॥

साधु को वीच मे पडने का तीन करण, तीन योग से निषेध है, इसलिए वे जीव-वध के समय वीच मे नही पडते। फिर भी गृहस्थ के बीच मे पडने मे धर्म कहते हैं। तव उन्होने घर के धर्म को ऐसे ही क्यो गमा दिया ? ॥४४॥

प्रशसा, सम्मान, पूजा के लिए, जन्म व मृत्यु से मुक्ति पाने के लिए और दु ख गमाने के लिए हिंसा की जाती है ॥४५॥

इन छ कारणो से छ कायो की हिंसा की जाती है तो वह अहित का कारण वनती है और यदि जन्म-मरण से मुक्ति पाने के लिए हिंसा की जाती है तो सम्य-क्त्वरूप रत्न ही गुम हो जाता है ॥४६॥

इन छ करणो से छ काय की हिंसा करने से आठ कर्मों की गाठ वध जाती है। मोह और दु ख की निश्चित ही अभिवृद्धि होती है और जीव नरक मे जाता है ॥४७॥

अर्थ या अनर्थ किसी भी रूप मे हिंमा की जाती हो, वह अहित का कारण है। धर्म के लिए हिंसा करने मे वोधि-वीज का नाश होता है ॥४८॥

छ कारण से छ काय की जो हिंसा करता है, वह इस ससार मे दु ख पाता है। आचारागसूत्र के पहले अध्ययन मे छ उद्देशो के अन्तर्गत यह विस्तार से कहा गया है ॥४९॥

कुछ एक पापी श्रमण, व्राह्मण, अनार्य हिंसा धर्म की स्थापना करते है। कहते है—धर्म के लिए प्राण, भूत, जीव, सत्व की हिंसा करने मे पाप नही है ॥५०॥

इस प्रकार की विपरीत प्ररूपणा अनार्य करते है। उन्हे आर्य लोग कहते हैं—"यह तुमने वुरा देखा, वुरा सुना, वुरा जाना और वुरा माना" ॥५१॥

जीव मारने मे धर्म कहना, यह अनार्य की वाणी है। ऐसी प्ररूपणा करने वाले भारी कर्म वाले मूढ मिथ्यात्वी हैं, उनकी सुध-वुध ठिकाने नही है ॥५२॥

त्या हिंसा धर्म्या नै आरज पूछ्यो,
थानै मारचा धर्म के पापोजी।
जब तो कहै म्हानै मारचा छै पाप एकत,
साच बोलै कीधी शुद्ध थापोजी ।।५३।।

जब आरज कहै थानै मारचा पाप छै,
तो सर्व जीवा नै इम जाणो जी।
ओरा नै मारचा धर्म परूपै,
थे काय बूडो कर-कर ताणो जी ।।५४।।

इम हिंसा धर्मी अनारज त्याने,
कीधा जिन मार्ग सु न्यारोजी।
जोवो आचारग चोथा अध्ययन माहे,
बीजै उद्देशै विस्तारोजी ।।५५।।

ओरा नै मारचा धर्म परूपै,
आप नै मारचा कहै पापोजी।
या श्रद्धा विकलारी ऊधी,
तिण मे कर रह्या मूढ विलापो जी ।।५६।।

अर्थ अनर्थ धर्म रै काजै,
जीव हणै छ कायो जी।
तिण नै मद बुद्धि कह्यो दशमे अगे,
पहिला अध्येन रे मायो जी ।।५७।।

छ काय जीवा रो घमसाण करनै,
श्रावका ने जीमावैजी।
उणनै मद बुद्धि तो कह दियो भगवत,
तिण ने धर्म किसी विध थावै जी ।।५८।।

कोई तो जीवा नै मार खवावै,
कोई जीव खवावै आखा जी।
तिण माहै एकत धर्म परूपे,
ते अनारज री भाखा जी ।।५९।।

उन हिंसाधर्मियो को आर्य ने पूछा—तुम्हारा कोई वध करे तो वह धर्म है या पाप ? तब तो कहते हैं—हमे मारने मे एकान्त पाप है। ऐसे अवसर पर तो सच बोलते है, शुद्ध मान्यता की स्थापना करते हैं॥५३॥

जब आर्य कहते हैं—तुम्हें मारने मे यदि पाप है तो सब जीवो के विषय मे यही समझना चाहिए। दूसरो को मारने मे धर्म कहकर और उसकी खीचातान कर क्यो डूब रहे हो ?॥५४॥

इस प्रकार आचाराग सूत्र के चौथे अध्ययन के दूसरे उद्देशक मे हिंसाधर्मी अनार्यों को जिन मार्ग से सविस्तार पृथक् किया गया है॥५५॥

अन्य जीवो को मारने मे धर्म कहते हैं और उन स्वय को कोई मारे तो पाप कहते हैं। मूर्ख व शिथिल जनो की यह श्रद्धा विपरीत तथा प्रलाप मात्र है॥५६॥

प्रयोजन से या विना प्रयोजन से जो छः काया के जीवो की हिंसा करता है, उसे दशवें अग सूत्र प्रश्नव्याकरण मे मद बुद्धि वाला कहा गया है॥५७॥

छ काया के जीवो का सहार करके जो श्रावको को खिलाता है, भगवान् ने जब उसे मन्द बुद्धि वाला कह दिया है तो फिर उसमे धर्म कैसे होगा ? ॥५८॥

कुछ लोग जीवो को मारकर खिलाते हैं और कुछ ज्यो-के-त्यो ही खिला देते हैं। इसमे एकान्त धर्म कहना, यह अनार्य-भाषा है॥५९॥

केइ जीव मारचा मे धर्म कहै छै,
ते पूरा अज्ञानी ऊधाजी।
त्यानैं जाण पुरुष मिलै जिन मारग रो,
तो किणविध बोलावै सूधाजी ।।६०।।

लोह नो गोलो अगनी तपायो,
ते अग्नी वरणो करै तातोजी।
ते पकड सडासे आयो त्या पासे,
कहै बलतो गोलो थे झालो हाथो जी ।।६१।।

जब पाषडिया हाथ पाछो खेच्यो,
जब जाणपुरुष कहै त्यानैं जी।
थे हाथ पाछो खेच्यो किण कारण,
थारी श्रद्धा म' राखो छानैजी ।।६२।।

जब कहै गोलो म्हे हाथे ल्या तो,
म्हारो हाथ बलै लागै तापोजी।
तो थारो हाथ वालै तिणनैं पाप के धर्म,
जब कहै उणनैं लागै पापोजी ।।६३।।

थारो हाथ बालै तिण नै पाप लागै तो,ओरा नै मारचा धर्म नाहिंजी।
थे सर्व जीव सरीषा जाणो, सोच देखो मन माहिजी ।।६४।।

जे जीव मारचा मे धर्म कहै तैं, रूलै काल अनतोजी।
सूयगडाग अध्ययन अठारमे, भाष गया भगवतोजी ।।६५।।

स्थानक करावै छ काय हणै ते, करै अनत जीवारी घातोजी।
अहेतनो कारण निश्चै हुवो छै, धर्म जाणै तो आवै मिथ्यातोजी ।।६६।।

जव कहै म्हे स्थानक करावा तिण मे, जाणा छा एकत पापोजी।
तिण कहिवा नै पाप कह्यो झूठ बोलै,श्रद्धा गोप विगोयो आपो जी ।।६७।।

जो जीव मारने मे धर्म कहते हैं, वे पूरे अज्ञानी व विपरीत है। उनको कोई जैनधर्म का ज्ञाता मिल जाता है तो उससे वे सीधी वात किस तरह करेंगे ॥६०॥

वह ज्ञाता-पुरुष एक लोह के गोले को तपाकर उसे अग्नि वर्ण जैसा लाल वनाकर, सडासे मे पकड कर उन लोगो के पास आया और बोला यह गरमागरम गोला आप अपने हाथो मे लें ॥६१॥

तव उन पाखडियो ने अपना हाथ पीछे खीच लिया तो उस ज्ञाता-पुरुष ने उनसे कहा—तुमने अपना हाथ पीछे क्यो खीचा ? यह हमे स्पष्ट वताओ ॥६२॥

उन्होने कहा—यदि यह गोला हम हाथ मे लेते हैं तो ताप लगता है और हाथ जलता है। जव उनसे पूछा गया कि तुम्हारा हाथ जलाता है तो उसे पाप है या धर्म ? तो कहते है पाप ॥६३॥

तुम्हारे हाथ जला देने में ही यदि पाप है तो दूसरो को मार देने मे धर्म कैसे होगा ? मन मे चिन्तन करके सभी जीवो को समान रूप से देखो ॥६४॥

जो आदमी जीवो को मारने मे धर्म कहता है, वह अनन्त काल तक ससार मे परिभ्रमण करता है। सूत्रकृताग सूत्र के अठारहवे अध्ययन मे भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है ॥६५॥

छ काया के अनन्त जीवो की घात कर स्थानक वनवाते है। यह निश्चित ही अहित का कारण है। उसमे यदि धर्म समझा जाता है तो मिथ्यात्व की निष्पत्ति होती है ॥६६॥

तव कहते है—हम स्थानक कराते हैं, उसमे एकान्त पाप समझते है। यह तो केवल कहने की वात है। असत्य वोलकर अपनी मान्यता छिपाई जाती है, अपने सत्व को नष्ट किया जाता है ॥६७॥

कोई मनुष्य आतरियो छै तिण काले, धन उदके स्थानक काजोजी ।
जोऊ पाप जाणै तो परभव जाते, इसड़ो काय कियो अकाजो जी ॥६८॥

घररो धन दे नै जीव मराया, ते अर्थ न दीसै काईजी ।
अनर्थ पिण जाण्यो नहि दीसै, धर्म जाण्यो दीसै तिण माहिजी ॥६९॥

हिसारी करणी मे दया नही छै, दयारी करणी मे हिंसा नाहिजी ।
दया नै हिंसारी करणी छै न्यारी, ज्यू तावड़ो नै छाहीजी ॥७०॥

और वस्तु मे भेल हुवै पिण, दया मे नहीं हिसा रो भेलो जी ।
ज्यू पूरव नै पश्चिम रो मारग, किणविध खाये मेलो जी ॥७१॥

केई दया नै हिसारी मिश्र करणी कहै, ते कुडा कुहेत लगावै जी ।
मिश्र थापण नै मूढ मिथ्याती, भोला लोका नै भरमावै जी ॥७२॥

जो हिंसा किया मे मिश्र हुवै तो, मिश्र हुवै पाप अठारोजी ।
एक फिरचा अठारै फिरै छै, कोई बुद्धिवत करज्यो विचारोजी ॥७३॥

जिन मारग री नीव दया पर, खोजी हुवै ते पावैजी ।
जो हिसा माहे धर्म हुवै तो, जल मथिया घी आवैजी ॥७४॥

सवत अठारै नै वर्ष चमालै, फागुण सुद नवमी रविवारोजी ।
जोड़ कीधी दया धर्म दीपावण, बगड़ी शहर मझारोजी ॥७५॥

दुहा

नमू वीर शासण धणी, गणधर गौतम स्वाम ।
त्या मोटा पुरुषा रा नाम थी, सीझै आतम काम ॥१॥

त्या घर छोडी सजम लियो, भगवत श्री वर्द्धमान ।
बारे वर्ष ने तेरे पखे, छदमस्थ रह्या भगवान ॥२॥

कोई मनुष्य मृत्यु-शय्या पर है। अपना धन स्थानक के लिए निकालता है। यदि वह पाप समझता है तो परभव जाते-जाते ऐसा अकार्य क्यो करता है ॥६८॥

अपना धन देकर जीवो को मरवाया, यह कोई अर्थ हिंसा हुई हो, ऐसा नही लगता। अनर्थ पाप भी उसको जाना हो, ऐसा नही लगता। सम्भव यही है कि उसने उसमे धर्म माना है ॥६९॥

हिंसा युक्त कार्य मे दया नही है और दयायुक्त कार्य मे हिंसा नही है। दया और हिंसा के कार्य इतने पृथक् है, जितने कि धूप और छाया ॥७०॥

और वस्तु मे मिलावट हो सकती है, किन्तु दया मे हिंसा की मिलावट नही हो सकती। पूर्व और पश्चिम के मार्ग कैसे मेल खा सकते है ? ॥७१॥

कुछ लोग दया और हिंसा से युक्त क्रिया को मिश्र क्रिया कहते है। उसके लिए असत्य हेतु लगाते है। अपनी उस मिश्र-क्रिया की स्थापना के लिए भोले लोगो को भरमा देते हैं ॥७२॥

जो हिंसा करने से मिश्र-धर्म होता है तो वह अठारह ही पाप करने से भी होगा। एक फिर जाने से अठारह फिर जाते हैं। बुद्धिमान् लोगो को इसका विचार करना चाहिए ॥७३॥

जैन-धर्म की नीव दया के ऊपर है। जो गवेपणा करता है, वही उसे पा सकता है। यदि हिंसा करने मे धर्म हो सकता है तो जल मथने से घृत निकल सकता है ॥७४॥

विक्रम सवत् अठारह सौ चवालीस फाल्गुन शुक्ला नवमी रविवार के दिन वगडी शहर मे दया धर्म की प्रभावना के लिए यह रचना मैंने की है ॥७५॥

दोहा

शासनाधिनायक भगवान् श्री महावीर स्वामी और गणधर गौतम स्वामी को प्रणाम करता हू। उन महापुरुषो के नाम से आत्मा के कार्य सिद्ध होते है ॥१॥

भगवान् श्री महावीर ने गृहवास छोडकर सयम ग्रहण किया। बारह वर्ष और तेरह पक्ष तक भगवान् छद्मस्थ रहे ॥२॥

त्या गोसाला नैं चेलो कियो,ते तो निश्चै अजोग साख्यात ।
सराग भाव आयो तेहथो,ते पिण छदमस्थपणा री वात ॥३॥

तीर्थंकर छदमस्थ थका, चेलो न करै दीक्षा देवै नाहि ।
धर्म कथा पिण कहै नही, जोवो सूतर रै माहि ॥४॥

वारे वर्ष नैं तेरे पख मझे,
दीक्षा दे चेलो न करचो कोय ।
एक गोसाला अजोग नैं चेलो कियो,
निश्चै होणहार टलै नही सोय ॥५॥

तीर्थंकर साथे दीक्षा लिये, तिण नै दीक्षा दे जिनराय ।
पछै केवली नही हुवै त्या लगै, किण नैं दीक्षा देवै नाय ॥६॥

गोसाला नैं वीर वचावियो, छदमस्थ पणा रो सभाव ।
मोहराग आयो तिण ऊपरै, तिणरो विकल न जाणै न्याव ॥७॥

गोसाला नै वीर वचावियो, तिणरो मूरख थापै धर्म ।
सूने चित वकवो करै, ते भूला अज्ञानी भर्म ॥८॥

कहै भगवत दीक्षा लिया पछै, न कियो किंचित प्रमाद ने पाप ।
जाणता ने अजाणता, कहै दोष न सेव्यो जिन आप ॥९॥

इम कही भोला लोका भणी, न्हाखै छै फद माय ।
तिणरो न्याय निरणो यथातथ्य कहू,ते सुणज्यो चित लाय ॥१०॥

ढाल : १०

[राग—पाषंड बधसी आरै पांचमै]

गोसाला ने वचायो वीर सराग थीरे,
तिण माहै धर्म नही लिगार रे ।
यो तो निश्चै होणहार टलै नही रे,
तिणरो भोला नही जाणै मूल विचार रे ।
कुपात्र ने वचाया धर्म किहा थकी रे ॥१॥

उन्होंने गोशालक को अपना शिष्य वनाया। वह वास्तव मे ही अयोग्य था। भगवान् उस समय छद्मस्थ थे। यह सब रागभाव के कारण हुआ ॥३॥

छद्मस्थ तीर्थंकर अपनी साधु-अवस्था मे दीक्षा देकर किसी को अपना शिष्य नही वनाते, न वे धर्म-कथा ही करते हैं। स्थानागसूत्र के नवम ठाणे के अर्थ मे यह वात कही है ॥४॥

वारह वर्ष और तेरह पक्ष मे भगवान् ने किसी को शिष्य नही बनाया। केवल एक अयोग्य गोशालक को शिष्य वनाया। यह न टल सकने वाली भवितव्यता थी ॥५॥

तीर्थंकरो के साथ जो लोग दीक्षा लेते है, उन्हे तीर्थंकर दीक्षा देते हैं। फिर जव तक वे केवली नही वन जाते, तव तक किसी को दीक्षा नही देते ॥६॥

भगवान् श्री महावीर को छद्मस्थ स्वभाव के कारण मोह आया और उन्होने गोशालक को वचाया। विवेकशून्य लोग इस न्याय को नही समझते ॥७॥

गोशालक को भगवान् महावीर ने वचाया। उसमे मूर्ख व्यक्ति धर्म कहते हैं। वे अज्ञानी भ्रम मे भूल, वेभान होकर प्रलाप करते हैं ॥८॥

कहते हैं, भगवान् ने दीक्षा लेने के पश्चात् ज्ञात-अज्ञात अवस्था मे किंचित् भी प्रमाद व पाप का आचरण नही किया और न किसी अन्य दोष का सेवन ॥९॥

इस प्रकार कह कर अज्ञानी लोगो को फन्दे मैं डालते हैं। इस विषय का यथोचित न्याय मैं अव यथाविधि कहता हू। मन लगाकर सुनो ॥१०॥

गीति : १०

गोशालक को भगवान् ने सराग भाव से वचाया। उसमे किंचित् भी धर्म नही। यह तो निश्चित होनहार की वात थी। अज्ञानी इस मूल विचार को नही जान सकते। कुपात्र को वचाने मे धर्म कहा से होगा ? ॥१॥

कुपात्र नै बचायो वीर सराग थी रे,
तिण मे म' जाणो कोई कूड रे।
शंका हुवै तो भगोती रो अर्थ देखनै रे,
खोटी श्रद्धा नै करद्यो दूर रे।।२।।

भारी कर्मा जीवा नै समझ पडै नही रे,
ते तो कुगुरा रे बदलै बोलै कूड़ रे।
ताणा-ताण मे जासी ताणिया रे,
बहती अगाध नदी रे पूर रे।।३।।

गोसालो तो अधर्मी अवनीत थो रे,
भारी कर्मो कुपात्र जीव रे।
बले दावानल छै जिन धर्म रो रे,
दुष्टचा मे दुष्टी घणो अतीव रे।।४।।

भगवत ने भूठा पाण पापीये रे,
तिल नै उखेलियो पापी जाण रे।
मिथ्यात पडिवजियो श्री भगवत थी रे,
त्यारी मूल न राखी पापी काण रे।।५।।

जगत तणा सगला चोरा थकी रे,
गोसालो छै अधिको चोर निशक रे।
बले कूड ने कपट तणो थो कोथलोरे,
तिणरे करडो मिथ्यात तणो छै डक रे।।६।।

तिण नै वीर बचायो बलतो जाणनै रे,
लब्धि फोडवी सीतल लेश्या मूक रे।
राग आण्यो तिण पापी ऊपरै रे,
छदमस्थ गया तिण काले चूक रे।।७।।

केई भेषधारी भागल इसडी कहै रे,
गोसाला नै बचाया हुवो धर्म रे।
त्या धर्म जिनेश्वर रो नही ओलख्यो रे,
ते तो भूल गया अज्ञानी भर्म रे।।८।।

इसमे जरा भी असत्य नही है कि भगवान् ने उस कुपात्र को सराग भाव से वचाया था। किसी को शका हो तो भगवतीसूत्र का अर्थ देखकर उस बुरी मन्यता को दूर कर देना चाहिए ॥२॥

वहुकर्मी जीवो को समझ नहीं होती। वे तो कुगुरु के वदले असत्य बोलते है। वे खीचातान करनेवाले, इसी खीचातान मे वहती नदी के अगाध पूर मे वह जाएगे ॥३॥

गोशालक तो अधर्मी, अविनीत, वहुकर्मी, कुपात्र, जैनधर्म के लिए दावानल और दुष्टो मे अति दुष्ट था ॥४॥

भगवान् महावीर को असत्य करने के लिए उस पापात्मा ने तिल के पौधे को उखाड़ा। भगवान् का जरा भी आदर न रखकर उनके प्रति मिथ्यात्व का आचरण किया ॥५॥

जगत के चोरो मे वह सबसे वडा चोर था और झूठ व कपट का भण्डार था। उसके मिथ्यात्व का डक वहुत कठोर लगा हुआ था ॥६॥

उसे जलता देखकर भगवान् ने शीतल तेजोलेश्या का प्रयोग कर वचाया। उस पापी के ऊपर उन्हे राग आया। भगवान् छद्मस्थ अवस्था मे थे, इसलिए यह उनकी चूक हुई ॥७॥

कुछ नियम-भ्रष्ट वेशधारी ऐसा कहते है—गोशालक को वचाने मे धर्म हुआ। उन्होने जिनेश्वर देव के धर्म को नही पहचाना। वे अज्ञानी तो भ्रम मे भूल रहे है ॥८॥

बले कहै छै भगवत तो घर छोड्या पछै रे,
दोष न सेव्यो मूल लिगार रे।
प्रमाद किंचित मात्र सेव्यो नही रे,
बले आश्रव न सेव्यो किण ही बार रे ॥९॥

इम कही कही ने सत्यवादी हुवै रे,
पिण एकत बोलै छै मूसा वाय रे।
त्या धर्म जिनेश्वर नो नही ओलख्यो रे,
फूटा ढोल ज्यू बोलै बिरुवा वाय रे ॥१०॥

ते झूठ बोलै छै सुध-बुध बाहिरा रे,
त्यारी श्रद्धारी त्यानै खबर न काय रे।
त्या विकला री श्रद्धा मैं परगट करू रे,
ते भवियण साभलज्यो चित ल्याय रे ॥११॥

भगवत आहर कियो छै जाणनै रे,
तिण मे कहे छै प्रमाद ने आश्रव पाप रे।
बले निद्रा लीधा मै कहै पाप छै रे,
ते निद्रा पिण लीधी भगवत आप रे ॥१२॥

परमाद न सेव्यो कहै भगवान ने रे,
बले कहैता जावै पापी परमाद रे।
न्याय निरणो विकला रे छै नही रे,
यू ही करै कूडो विपवाद रे ॥१३॥

मोह कर्म उदय सू सावद्य सेवियो रे,
छदमस्थ थका श्री भगवान रे।
अजाण पणै ने बिन उपयोग छै रे,
ते बुद्धिवत सुणो सुरत दे कान रे ॥१४॥

दश सुपना पिण भगवत देखिया रे,
दश सुपना रो पाप लागो छै आण रे।
ते पिण दशू सुपना रो पाप जुवो-जुवो रे,
तिणरी शका मत करज्यो चतुर सुजाण रे ॥१५॥

वे लोग कहते है, गृहवास छोड देने के वाद भगवान् ने जरा भी दोष नही लगाया और न उन्होंने प्रमाद तथा अन्य किसी आश्रव का आचरण किया ॥९॥

ऐसा कहकर वे सत्यवादी वनते है, पर वे नितान्त असत्य बोलते हैं। उन्होने जिनेश्वर देव के धर्म को नही पहचाना। फूटे ढोल की तरह वे विरूप वचन बोलते हैं ॥१०॥

वे सुध-बुध भूलकर झूठ बोलते है। उन्हे अपनी मान्यता का भी पता नही है। उन विकल लोगो की मान्यता को प्रकट करता हू। भव्य जन ध्यान लगाकर सुनें ॥११॥

भगवान् जान-बूझकर आहार करते थे, उसे प्रमाद आश्रव कहते है और निद्रा लेने मे पाप कहते हैं। भगवान् ने निद्रा भी ली थी ॥१२॥

भगवान् ने प्रमाद का आचरण नही किया, यह कहते हैं और साथ-साथ यह भी कि यह भगवान् का प्रमाद था। विकल लोगो के न्याय-निर्णय कुछ भी नही। ऐसी ही असत्य व बेमेल बातें करते रहते हैं ॥१३॥

छद्मस्थ भगवान् ने मोहकर्म के उदय से इस सावद्य आचार का सेवन किया। अज्ञातावस्था और अनुपयोगावस्था की वात थी। बुद्धिमान् पुरुष ध्यान लगाकर सुने ॥१४॥

दश स्वप्न भी भगवान् ने देखे थे और उनका पृथक्-पृथक् पाप भी उन्हे लगा था। विज्ञजनो को उसमे शका नही करनी चाहिए ॥१५॥

कोई कहै भगवत तो घर छोड्या पछै रे,
पाप रो अश न सेव्यो मूल रे।
जो उवे सुपना देख्या मे पाप परूपसी रे,
तो त्या रे लेखै त्यारी श्रद्धा मे धूल रे ॥१६॥

सात प्रकारे छदमस्थ जाणिये रे,
कह्यो छै ठाणाग सूतर माहि रे।
हिंसा लागै छै प्राणी जीवरी जी,
वले लागै मिरषा नै अदत्त ताहि रे ॥१७॥

शब्दादिक आस्वादे रागे करी रे,
पूजा सत्कार वाछे छै मन माय रे।
कदै असणादिक पिण सावद्य भोगवै रे,
वागरे जैसी करणी नावै ताय रे ॥१८॥

ए सातूई सावद्य रा स्थानक कह्या रे,
छदमस्थ सेवै छै किण हो वार रे।
त्यारो पिण प्रायश्चित यथायोग छै रे,
जाण-अजाण सेव्यारो करै विचार रे ॥१९॥

ए सातूई वोल न सेवै केवली रे,
छदमस्थ पिण निरतर सेवै नाहि रे।
सेवै तो मोह कर्म उदय हुवा रे,
शका हुवै तो जोवो सूतर माहि रे ॥२०॥

गोसाला नै वीर वचायो तिण दिने रे,
छदमस्थ हुता जिण दिन भगवान रे।
मोह राग आयो भगवत नै तिण दिनै रे,
निश्चै होणहार टलणो नही आसान रे ॥२१॥

छदमस्थ थका पिण श्री भगवान ने रे,
समे समे लागता कर्म सात रे।
मोह कर्म विशेष थकी उदय हुवो रे,
कुपात्र ने वचाय लियो साख्यात रे ॥२२॥

कुछ लोग कहते है—भगवान् ने गृह-त्याग के पश्चात् पाप का अशमात्र भी सेवन नही किया। यदि वे स्वप्न देखने मे पाप की प्ररूपणा करेगे तो उनके अभि-प्रायानुसार उनकी मान्यता मे ही धूलि गिरेगी ॥१६॥

ठाणागसूत्र मे कहा गया है कि सात प्रकार से छद्मस्थ जाना जाता है। प्राणी विशेप की हिंसा करने से, झूठ बोलने से, चोरी करने से, शब्दादि मे सराग आस्वाद लेने से, पूजा सत्कार की इच्छा करने से, सावद्य असनादिक भोगने से और जैसा मुख से कहा जाता है, वैसा न करने से ॥१७-१८॥

ये सात सावद्य-स्थान कहे गये है। छद्मस्थ कभी-कभी इनका सेवन कर बैठता है। उसका भी यथायोग्य प्रायश्चित्त-विधान है। उसमे ज्ञात-अज्ञात पापा-चार के सेवन का विचार है ॥१९॥

इन सात ही बातो का सेवन केवली नही करते। छद्मस्थ भी निरन्तर उनका सेवन नही करते। मोह कर्म का उदय होने से ही सेवन करते हैं। यदि शंका हो तो सूत्र ग्रन्थो मे देखना चाहिए ॥२०॥

गोशालक को जिस दिन भगवान् ने बचाया, उस दिन वे छद्मस्थ थे। उस दिन भगवान् को मोह राग आया। निश्चित भवितव्यता को टाल देना आसान नही है ॥२१॥

छद्मस्थ अवस्था मे भगवान् के प्रति समय सात कर्म लगते थे। मोह कर्म का विशेप उदय हुआ तो उन्होने गोशालक को साक्षात रूप से बचाया ॥२२॥

गोसालो दावानल श्री जिनधर्म नो रे,
दुष्टा मैं दुष्ट घणो अतीव रे।
वले कोथलो कूड कपट रो तेहने रे,
वचाया रा फल सुणो भवि जीव रे ॥२३॥

गोसाले तेजू लेश्या मेल नै रे,
दोय साधारी कीधी घात रे।
ऊधो अवलो वोल्यो भगवान नै रे,
वीर सू पडिवजियो मिथ्यात रे ॥२४॥

वले लेश्या मेली छै पापी वीर नै रे,
त्यारी पिण एकत करवा घात रे।
तिण जाण्यो जमाऊ शासन माहरो रे,
एहवो गोसालो दुष्ट कुपात रे ॥२५॥

तिलरो प्रश्न पूछ्या भगवते कह्यो रे,
सूघणी माहे तिल वताया सात रे।
जव वीर ने झूठा घालण पापीये रे,
तिल उखेल ने कीधी घात रे ॥२६॥

तेजू लेश्या सीखाई गोसाला भणी रे,
तिण लेश्या सू कीधी साधारी घात रे।
वले लोहीठाण कियो भगवत ने रे,
इसडा काम किया पापी साख्यात रे ॥२७॥

गोसाला पापी नै वीर वचावियो रे,
तो वधियो भरत मै घणो मिथ्यात रे।
घणा जीवा नै पापी वोईया रे,
ऊधी श्रद्धा दिया मैं घात रे ॥२८॥

कूड कपट करे ने पापिये रे,
झूठोइ शासन दियो थाप रे।
अणहुतो तीर्थकर वाज्यो लोक मैं रे,
वीर नो शासण दियो उत्थाप रे ॥२९॥

गोशालक जिन-धर्म के लिए दावाग्नि था। वह दुष्टो मे भी अति दुष्ट और कूड-कपट का भडार था। उसको बचाने से जो फल हुआ, ध्यान लगाकर सुनो ॥२३॥

गोशालक ने तेजोलेश्या छोडकर दो साधुओ को मार डाला। वह भगवान् महावीर से भी उल्टा-सीधा बोलता रहा और उनके साथ मिथ्यात्व का प्रवर्तन किया ॥२४॥

फिर उसने भगवान् पर तेजोलेश्या छोडी और वह भी उनकी घात करने के लिए। उसने सोचा—मैं आसन जमाऊ। वह इस प्रकार का दुष्ट और कुपात्र था ॥२५॥

तिल का प्रश्न पूछने पर भगवान् ने कहा—फली मे सात तिल हैं। पर भगवान् को झूठ करने के लिए तिल वृक्ष को उखाड कर हिंसाचरण किया ॥२६॥

भगवान् ने गोशालक को तेजोलेश्या की विधि बतलाई। उसी तेजोलेश्या से उसने साधुओ का वध किया और स्वय भगवान् के लोहीठाण अर्थात् रुधिर-स्राव किया। ये सारे कार्य उसने प्रत्यक्ष रूप से किये ॥२७॥

गोशालक को भगवान् ने बचाया, इससे भरतक्षेत्र मे बहुत मिथ्यात्व बढा। उस पापात्मा ने बहुत लोगो को विपरीत मान्यता देकर डुबोया ॥२८॥

झूठ, कपट के द्वारा उस पापी ने झूठे धर्म-शासन की स्थापना की। वीर प्रभु के शासन का विघटन किया और स्वय तीर्थंकर न होते हुए भी तीर्थंकर कह-लाया ॥२९॥

गोसाला नै वीर बचायो तठा पछै रे,
घणा जीवारै हुवो बिगाड रे।
यो पापी धाडायत हुवो धर्म नो रे,
इण गुण तो न कीधो मूल लिगार रे ॥३०॥

गोसालो पापीड़ो बचिया पछै रे,
तिण कीधा पापीड़ै अनेक अकाज रे।
तिण दुष्टी नै बचाया धर्म किहा थकी रै,
विकला ने मूल न आवै लाज रे ॥३१॥

गोसाला नै बचाया धर्म कहै तिके रे,
गोसाला रा केडायत जाण रे।
त्या धर्म न जाण्यो श्री जिनराज रो रे,
यू ही बूडे अज्ञानी कर-कर ताण रे ॥३२॥

जो धर्म होसी गोसाला नै बचाविया रे,
तो छ ही काय बचाया होसी धर्म रे।
जो उवे जीव बचाया धर्म गिणै नही रे,
तो विकलारी श्रद्धा रो निकल्यो भर्म रे ॥३३॥

गोसाला नै वीर बचायो जिणविधे रे,
श्रावक ने तिणविध बचावै नाहि रे।
कहै छै तिणहिज विध करै नही रे,
तो धूड छै त्यारी श्रद्धा माहि रे ॥३४॥

पेट दुखे छै सो श्रावका तणो रे,
जुदा हुवै छै जीव नै काय रे।
साधु पधारचा छै तिण अवसरै रे,
त्यारे हाथ फेरे तो साता थाय रे ॥३५॥

लब्धिधारी तो साधु पधारचा देखने रे,
गृहस्थ बोल्या छै इम वाय रे।
हाथ फेरो त्यारा पेट ऊपरै रे,
नही फेरो तो श्रावक जीवा जाय रे ॥३६॥

गोशालक को बचाने के बाद बहुत सारे जीवो का बिगाड हुआ। वह पापात्मा तो धर्म का डाकू था। उससे अच्छा तो कुछ हुआ ही नही ॥३०॥

बचने के बाद उस पापी ने अनेको अकार्य किये। विवेकशून्य लोगो को जरा भी लज्जा नही है। उस दुष्ट आत्मा को बचाने मे धर्म कैसे होगा ? ॥३१॥

गोशालक को बचाने मे धर्म कहने वाले उसके वशज हो सकते है। उन्होने जिनेश्वर देव के धर्म को नही समझा है। अज्ञानी यो ही खीचातान मे डूबते हैं ॥३२॥

यदि गोशालक को बचाने मे धर्म होगा तो छ ही काया के जीवो को बचाने मे धर्म होगा। यदि उन जीवो को बचाने मे वे धर्म नही मानते तो उन विवेकशून्य लोगो की श्रद्धा का भ्रम निकल जाता है ॥३३॥

जिस विधि से महावीर स्वामी ने गोशालक को बचाया, वे उस विधि से अपने श्रावक को नही बचाते। जैसा कहते है, वैसा करते नही तो उनकी मान्यता मे क्या खाक धरा है ॥३४॥

सौ श्रावको का पेट दु ख रहा है। शरीर और प्राण अलग हो रहे है। उस समय साधु आए, वे हाथ फिराए तो साता हो सकती है ॥३५॥

लब्धिधारी साधुओ को आए देखकर उन गृहस्थो ने कहा—हमारे पेट पर आप हाथ फिराए नही तो हम श्रावक जीवो मर जाएगे ॥३६॥

जब कहै म्हानें तो हाथ न फेरणो रे,
ए मरो भावे दु खी घणा हुवो तामरे।
मरणो-जीवणो मूल न वाछे तेहनो रे,
म्हारे गृहस्थ सू काइ काम रे ॥३७॥

तो गोसाला दुष्टी नै वीर बचावियो रे,
तिण माहे कहे छै निकेवल धर्म रे।
तो श्रावक मरता नें नही बचाविया रे,
त्यारी श्रद्धा रो त्याहिज काढ्यो भर्म रे ॥३८॥

श्रावक नै बचाया धर्म गिणै नही रे,
गोसाला नै बचाया गिणै धर्म रे।
ते विवेक विकल छै सुध-बुध बाहिरा रे,
ऊंधी श्रद्धा सू बाधै पाप कर्म रे ॥३६॥

गोसाला पापी दुष्टी रे कारणै रे,
लब्धि फोडी छै श्री जगनाथ रे।
तो सो श्रावक जीवा मरता देखनैं रे,
थे काई न फेरो त्यारे हाथ रे ॥४०॥

धर्म कहै गोसाला नै बचाविया रे,
तो पोते काइ छोडी धर्म री रीत रे।
सो श्रावक मरता नै बचावै नही रे,
त्या विकलारी विकल करै परतीत रे ॥४१॥

गोसाला दुष्टी नै वीर बचावियो रे,
तिण माहै धर्म कहै साक्षात रे।
सो श्रावक मरता नें नही बचाविया रे,
त्या विकलारी बिगडी श्रद्धा बात रे ॥४२॥

श्रावक आखड नै पड मरतो हुवै रे,
जिण नैं पडता झेलै राखे नाहिं रे।
गोसाला नै बचाया मे कहै धर्म छै,
यो पिण अधारो त्यारै माहि रे ॥४३॥

तब कहते हैं, हमे तो हाथ नही फिराना है। चाहे वे श्रावक मरे या दु खी हो। हम गृहस्थ का जीना या मरना कुछ भी नही चाहते। हमे उससे क्या काम है ? ॥३७॥

दुष्ट गोशालक को भगवान् ने बचाया, उसमे तो एकान्त धर्म कहते है और मरते हुए श्रावको को नहीं बचाते। अपनी श्रद्धा का भ्रम उन्होने अपने-आप ही प्रकट कर दिया ॥३८॥

श्रावक को बचाने मे धर्म नही मानते और गोशालक को बचाने मे धर्म मानते हैं। वे बिना सुध-बुध के अज्ञानी अपनी विपरीत श्रद्धा से पाप-कर्म का बन्धन करते हैं ॥३९॥

दुष्ट आत्मा और पापी गोशालक के लिए भगवान् महावीर ने लब्धि फोडी तो सौ श्रावकों को मरते देखकर भी वे हाथ क्यो नही फेरते ? ॥४०॥

गोशालक को बचाने मे धर्म कहते हैं तो स्वय उस धर्म की रीति को क्यो छोड देते हैं ? मरते हुए सौ श्रावको को नही बचाते। ऐसे विवेक-भ्रष्ट लोगो का विवेक-भ्रष्ट ही विश्वास करते हैं ॥४१॥

दुष्ट आत्मा गोशालक को महावीर प्रभु ने बचाया। कहते है, उसमे तो साक्षात् धर्म हुआ और मरते हुए सौ श्रावको को नहीं बचाते। ऐसे विवेक-भ्रष्ट लोगों की श्रद्धा और बात दोनो ही बिगड गई ॥४२॥

श्रावक आखड कर गिर रहा है। उसे सहारा देकर रक्षा नही करते और गोशालक को बचाने मे धर्म कहते हैं, यह भी उनके घट मे अंधेरा है ॥४३॥

ज्ञान दर्शन नै देश चारित्र श्रावक मझे रे,
गोसालो तो एकात अधर्मी जाण रे।
तिण नै बचाया धर्म किहा थकी रे,
तिणरो न्याय न जाणै मूढ अयाण रे ॥४४॥

गोसाला नै बचाया रो कहै धर्म छै रे,
श्रावका नै बचाया कहै पाप रे।
एहवो अधारो छै विकला तणै रे,
ऊधी श्रद्धा री कर राखी छै थाप रे ॥४५॥

बारे वर्ष ने तेरे पख मझे रे,
छदमस्थ रह्या छै श्री भगवान रे।
तिण मे एक गोसाला/नै बचावियो रे,
और किण ने न बचायो श्री वर्द्धमान रे॥४६॥

गोसाला दुष्टी ने बचाविया रे,
जो धर्म कोई जाणै स्वाम रे।
तो दोनूई साधु बचावत आपरा रे,
बले रात ने दिन करता ओहिज काम रे ॥४७॥

गोसाला दुष्टी नै वीर बचावियो रे,
तिण माहै धर्म जाणै जिनराय रे।
दोय साधु मरता नही राख्यां आपरा रे,
यो पिण किणविध मिलसी न्याय रे ॥४८॥

अकाले जगत ने मरतो देखियो रे,
पिण आडा न दीधा भगवत हाथ रे।
धर्म हुवै तो भगवत आघो नहि काढता रे,
निश्चैई तिरण तारण जगनाथ रे ॥४९॥

अनत चोबीसी तो आगै हुई रे,
हिवड़ा तो ऋषभादिक चौबीस रे।
त्या तारया भवजीवा ने समझाय नै रे,
पिण मरता न राख्या श्री जगदीस रे ॥५०॥

श्रावक मे ज्ञान, दर्शन और देश चारित्र होते है और गोशालक तो एकान्त अधर्मी था। उसे बचाने मे धर्म कैसे होगा ? अज्ञानी लोग इस न्याय को नही समझ सकते ॥४४॥

गोशालक को बचाया, इसमे धर्म कहते है और श्रावको को बचाने मे पाप। उन विवेक-भ्रष्ट लोगो के घट मे इतना अंधेरा है। विपरीत श्रद्धा की उन्होने स्थापना कर रखी है ॥४५॥

बारह वर्ष और तेरह पक्ष तक भगवान् महावीर छद्मस्थ रहे। इस बीच मे केवल एक गोशालक को बचाया और किसी को नही बचाया ॥४६॥

दुष्ट गोशालक को बचाने मे यदि भगवान् कही धर्म समझते तो अपने दोनो साधुओ को भी बचाते और रात-दिन बचाने का ही काम करते ॥४७॥

दुष्ट गोशालक को बचाने मे यदि जिनेश्वर देव धर्म जानते तो अपने दो साधुओ को मरते हुए क्यो नही बचाते ? यह न्याय किस प्रकार मिलेगा ॥४८॥

भगवान् जगत को अकाल-मृत्यु मे मरते देखते थे, पर उन्होने कभी उनके सरक्षण के लिए हाथ नही बढाया। धर्म होता तो भगवान् जो कि तरणतारण प्रभु हैं, उन्हे बचाने मे जरा भी देर नही करते ॥४९॥

अनन्त चौवीसिया तो पहले हो चुकी है और ऋषभ आदि चौवीस तीर्थंकर अब हुए हैं। उन सभी ने सासारिक जीवो को प्रतिबोध देकर भव-समुद्र के पार किया, परन्तु उन्हे मरने से बचाने का प्रयत्न कभी नही किया ॥५०॥

एक गोसालो वीर वचावियो रे,
ते तो निश्चैई होणहार रे।
मोह राग आयो भगवान ने रे,
तिणरो न्याय न जाणै मूढ गिंवार रे ॥५१॥

संवत अठारै तेपनै समै रे,
आसाड विद इग्यारस नै मंगलवार रे।
गोसाला कुपातर नै ओलखायवा रे,
जोड कीधी छै माढा गाम मझार रे ॥५२॥

दुहा

दोय उपगार जिन-भापिया, त्यारो वुद्धिवत करज्यो विचार।
तिण मे एक उपगार छै मोक्षरो, वीजो ससार नो उपगार ॥१॥

उपगार करै कोई मोक्ष रो, तिणमे जिन आज्ञा दे आप।
उपगार करै ससार नो, तिहा आप रहै चुपचाप ॥२॥

उपगार करै कोई मोक्षरो, तिण मैं निश्चैई धर्म साख्यात।
उपगार करै ससार नो, तिण मे धर्म नही तिलमात ॥३॥

दोनू उपगार छै जुवा-जुवा, ते कठेई न खावै मेल।
पिण मिश्र पाखड्या परूप नै, कर दियो भेल सभेल ॥४॥

कुण कुण उपगार छै मोक्षरो, कुण कुण संसार ना उपगार।
त्यारा भाव भेद परगट करूं, ते सुणज्यो विस्तार ॥५॥

ढाल : ११

[राग—आ अनुकम्पा जिण आगना मे]

ज्ञान दर्शन चारित्र ने वले तप,
या च्यारां रो कोई करे उपगार।
तिण नै निश्चैई निर्जरा धर्म कह्यो जिन,
वले श्री जिन आज्ञा छै श्रीकार।
यो तो उपगार निश्चैई मुगतरो ॥१॥

एक गोशालक को भगवान् महावीर ने बचाया, यह तो निश्चित होनहार थी। भगवान् को राग-भाव आया था। इस न्याय को मूर्ख और गवार नही समझ सकते हैं ॥५१॥

सवत् अठारहसौ तिरेपन, आषाढ कृष्ण एकादशी मगलवार के दिन माढा नामक गाव मे कुपात्र गोशालक की पहचान के लिए यह रचना की है ॥५२॥

दोहा

दो प्रकार के उपकार श्री जिनेश्वर देव ने कहे है। बुद्धिमान् लोगो को इसका विचार करना चाहिए। उनमे एक प्रकार मोक्ष सम्बन्धी है और दूसरा ससार सम्बन्धी ॥१॥

कोई मोक्ष सम्बन्धी उपकार करता है, वहा जिनेश्वर देव स्वय आज्ञा देते है। यदि कोई ससार का उपकार करता है तो वे मौन रहते हैं ॥२॥

मोक्ष का कोई उपकार करता है, उसे निश्चय ही धर्म होता है। ससार का जो उपकार करता है, उसमे तिलमात्र भी धर्म नही होता ॥३॥

दोनो उपकार पृथक्-पृथक हैं, ये कही भी मेल नही खाते, किन्तु पाखण्डी लोगो ने मिश्र-धर्म कहकर दोनो उपकारो का भेल-सम्भेल कर दिया है ॥४॥

कौन से उपकार मोक्ष के हैं और कौन से ससार के, उनके इस स्वरूप और भेदो का विस्तार सहित वर्णन करता हू, उसे सुनो ॥५॥

गीति : ११

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारो के रूप मे कोई उपकार करता है, उसे जिनेश्वर देव ने निश्चित ही निर्जरा धर्म कहा है और उसमे जिनेश्वर देव की शुभ आज्ञा है। वह तो निश्चित ही मोक्ष का उपकार है ॥१॥

ज्ञान दर्शन चारित्र नै तप,
या च्यारा बिना कोई करे उपगार।
तिण में धर्म नही जिन भाख्यो,
वले जिन आज्ञा पिण नही छै लिगार।
यो तो उपगार ससार तणो छै ॥२॥

संसार तणो उपगार करे छै,
तिण रै निश्चैई ससार वधतो जाणो।
मोक्ष तणो उपगार करे छे,
तिणरे निश्चैई नेड़ी दीसै निरवाणो ॥३॥

कोइ दलद्री जीव ने धनवत कर दे,
नव जातिरो परिग्रहो देइ भरपूर।
वले विविध प्रकारे साता उपजावै,
उणरो जावक दालिद्र करदे दूर ॥४॥

छ काय रा शस्त्र जीव अव्रती,
त्यारी साता पूछै नै साता उपजावै।
त्यारी करै वियावच विविध प्रकारे,
तिण नै तीर्थंकर देव तो नही सरावै ॥५॥

गृहस्थरी साता पूछ्या नै वियावच कीया,
साधु तो तिण सू होय जावै अणाचारी।
साता पूछ्या नै वियावच कीया मे,
जिन आज्ञा पिण नही छै लिगारी ॥६॥

साता पूछ्या तो साधु नै पाप लागै छै,
तो साता कीवा मे धर्म किहा थी होवै।
पिण मूढ मिथ्याती विवेक रा विकल,
ते श्री जिन आज्ञा साहमो न जोवै ॥७॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप के विना कोई भी उपकार करता है, उसमे निश्चित ही न तो धर्म है और न जिनेश्वर देव की आज्ञा ही। यह उपकार ससार का है ॥२॥

सासारिक उपकार करने वाले के निश्चित ही ससार-वृद्धि होती है। जो मोक्ष का उपकार करने वाला है, उसके निश्चित ही मोक्ष निकट होता है ॥३॥

किसी दरिद्र व्यक्ति को सोना, चादी आदि नव प्रकार का परिग्रह देकर उसकी दरिद्रता दूर कर दी और उसे विविध प्रकार से सुख दिया, यह सासारिक उपकार है ॥४॥

अव्रती जीव षट्कायिक जीवो के शस्त्र होते है। उनका कुशल क्षेम पूछा जाता है। उनकी सेवा विविध प्रकार से की जाती है। उसका तीर्थंकर देव तो अनुमोदन नही करते ॥५॥

गृहस्थ का कुशल-क्षेम पूछने मे और उसकी सेवा करने मे साधु तो अनाचारी हो जाते है। उनकी साता पूछने मे और सेवा करने मे जिनेश्वर देव की जरा भी आज्ञा नही होती ॥६॥

कुशल-क्षेम पूछने मे साधु को यदि पाप लगता है तो उसका कुशल-क्षेम करने मे धर्म कहाँ से होगा ? किन्तु मूर्ख, मिथ्यादृष्टि और विवेक-भ्रष्ट लोग जिनेश्वर देव की आज्ञा की ओर नही देखते ॥७॥

कोइ मरता जीव ने जीवा बचावै,
झाडा-झपटा करै ओषध देई ताम।
वले अनेक उपाय करै ने तिणने,
मरतो राख्यो साजो कियो तमाम ॥८॥

कोइ मरता जीव नै सूस करावै,
च्यारू शरणा देई नै करावै सथारो।
ज्ञान ध्यान माहे परिणाम चढावै,
न्यातीला सू देवै मोह उतारो ॥९॥

श्रावक नो खाणो पीणो छै सर्व अव्रत मैं,
ते सेवै तो सावद्य जोग व्यापारो।
वले नव ही जातरो परिग्रहो अव्रत मै,
तिणने सेवाडे छै कोइ वारु वारो ॥१०॥

श्रावक नो खाणो पीणो छै सर्व अव्रत में,
तिणरो त्याग करावै चढावै वेरागो।
वले नव ही जात रो परिग्रहो अव्रत में,
ते छोडे छोड़ावै त्यारे सिरभागो ॥११॥

कोई लाय सू वलता नै काढ वचायो,
वले कूवै पड़ता ने झाल वचायो।
तलाव मे डूवता ने वारे काढै,
वले ऊचाथी पडता नै झाले लियो तायो ॥१२॥

जन्म-मरण री लाय थी वारै काढै,
भव कूवा माहि थी काढै वारै।
नरकादिक नीच गति माहे पडता नै राखै,
ससार समुद्र थी वारै काढ उधारे ॥१३॥

किण रै लाय लागी घर वलै छै,
तिण मे नाना मोटा जीव वलै लाय माहि।
कोइ लाय बुझाय त्याने वारै काढै,
घणा रै साता कीधी लाय बुझाई ॥१४॥

कोई किसी मरते जीव को मत्र या औषधि के उपचार से या अन्य अनेक उपायो से बचाता है, स्वस्थ करता है तो वह सासारिक उपकार ही कहा जाता है ॥८॥

कोई मरते जीव को किसी प्रकार का त्याग कराते है अथवा चारो शरण दिलाकर आमरण अनशन करा देते है, पारिवारिक जनो से मोह उतारकर ज्ञान-ध्यान मे उसे अनुरक्त करते हैं। यह उपकार निश्चित ही मोक्ष का है ॥९॥

श्रावक का खाना-पीना सब अव्रत मे है। उसका यदि सेवन करते हैं तो वह सावद्य योग का व्यापार है और नव ही प्रकार का परिग्रह अव्रत मे है। उसका कोई बार-बार सेवन कराते हैं। यह उपकार निश्चित ही सासारिक है ॥१०॥

श्रावक का खाना-पीना सब अव्रत मे है। वैराग्य चढाकर यदि कोई उसका त्याग दिला देता है और नौ ही प्रकार का परिग्रह जो अव्रत मे है उसको छोडता है या छुडाता है, वह भाग्यशाली है ॥११॥

कोई अग्नि मे गिरते मनुष्य को बाहर काढ लेता है, कोई कुए मे पडते हुए व्यक्ति को सभाल कर बचा लेता है, तालाब मे डूबने वाले व्यक्ति को बाहर निकाल लेता है और ऊपर से गिरने वाले व्यक्ति को झालकर बचा लेता है, ये उपकार निश्चित ही सासारिक हैं ॥१२॥

जन्म-मरण की अग्नि से और ससारकूप से जो व्यक्ति को बाहर निकाल लेते हैं, नरक आदि नीच गति मे पडने से उसे बचा लेते हैं और ससार-समुद्र से उसका उद्धार कर देते हैं। वे उपकार निश्चित ही मोक्ष के है ॥१३॥

किसी व्यक्ति के घर मे आग लगी है, वह जल रहा है। छोटे-बडे जीव जल रहे हैं। किसी ने अग्नि बुझाकर उन जीवो को बाहर निकाल लिया। बहुत सारे जीवो को सुखी कर दिया। यह उपकार सासारिक है ॥१४॥

किणरै तृष्णा लाय लागी घट भितर,
ज्ञानादिक गुण बलै तिण माय।
उपदेश देइ तिणरी लाय बुझावै,
रूम रूम साता दीधी वपराय ॥१५॥

कोई टाबर पालै नै मोटो करे छै,
आछी आछी वस्तु तिणनै खवाय।
बले मोटे मडाणे करी परणावै,
धन-माल देवै कमाय-कमाय ॥१६॥

कोइ बेटा नै रूडी रीत समझाये,
धन-माल सगलोई देवै छोडाय।
काम भोग स्त्रियादिक खावो ने पीवो,
भली भात सू त्याग करावै ताय ॥१७॥

मात-पितारी सेवा करै दिन रात,
बले मन मान्या भोजन त्याने खवावै।
बले कावड काधे लिया फिरे त्यारी,
बले बेहु टकारो स्नान करावै ॥१८॥

कोई मात-पिता ने रूडी रीते,
भिन भिन कर ने धर्म सुणावै।
ज्ञान दर्शन चारित्र त्याने पमावै,
काम भोग शव्दादिक सर्व छोड़ावै ॥१९॥

जिणरो खाणो पीणो गहणो अव्रत मे,
तिण नै मन माने ज्यू खवावै पीवावै।
बले मागे जिको तिण नै धन-धान आपै,
विविध पणै तिण ने साता उपजावै ॥२०॥

जिणरो खाणो पीणो गहणो अव्रत मैं छै,
तिणने उपदेश देई नै परहो छोडावै।
तिणरै ज्ञानादिक गुण घट मे घालै,
तिणरी तृष्णा लाय नै परी मिटावै ॥२१॥

किसी व्यक्ति के घट मे तृष्णा की लाय लगी है और ज्ञान, दर्शन आदि गुण उसमे जल रहे हैं। उपदेश देकर उसके घट की अग्नि को किसी ने बुझा दिया। उसके रोम-रोम में सुख ला दिया। यह उपकार मोक्ष का है ॥१५॥

कोई व्यक्ति लडके को पाल-पोपकर खिला-पिलाकर मोटा करता है और बडे आडम्बर से उसका विवाह करता है। कमा-कमाकर धन आदि देता है। यह सासारिक उपकार है ॥१६॥

कोई व्यक्ति पुत्र को प्रतिवोध देकर धन-माल छुडा देता है। स्त्री, काम-भोग, खाने-पीने आदि का भली प्रकार से त्याग करा देता है। यह उपकार मोक्ष-सम्बन्धी है ॥१७॥

कोई दिन-रात माता-पिता की सेवा करता है और उन्हे मन-माने भोजन खिलाता है। कावड मे विठाकर कधे पर लिये फिरता है और दोनो समय उन्हे स्नान कराता है। यह उपकार सासारिक है ॥१८॥

कोई व्यक्ति माता-पिता को भिन्न-भिन्न प्रकार से धर्म सुनाता है। उन्हे ज्ञान, दर्शन, चारित्र का लाभ कराता है। काम-भोग और शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श आदि विपयो को छुडाता है। यह उपकार आध्यात्मिक है ॥१९॥

जिसका खाना-पीना, आभूपण आदि अव्रत मे है, उसे मन चाहे ढग से कोई व्यक्ति खिलाता-पिलाता है और जैसे वह चाहता है, उसे धन-धान्य देता है और विविध प्रकार से साता उपजाता है। यह उपकार सासारिक है ॥२०॥

कोई व्यक्ति जिसका खाना-पीना, आभूपण आदि अव्रत मे है, उसे उपदेश देकर उनका भोगोपभोग छुडा देता है और उसके घट मे ज्ञानादि गुण डाल देता है, उसकी तृष्णा अग्नि को मिटा देता है। यह उपकार आध्यात्मिक है ॥२१॥

किणरा बाला काढै किणरा कीडा काढै,
बले लटा जूवादिक काढै छै ताहि।
कानसिलाया वुगादिक काढै,
घणी साता उपजावै शरीर रै माहि ॥२२॥

किणरै बाला कीडा नै लटा जूवादिक,
शरीर मे उपना जीव अनेक।
तिण नै बारै काढण रा त्याग करावे,
कहै शरीर बारै काढणो नही एक ॥२३॥

गृहस्थ भूलो उज्जड वन मे,
अटवी नै बले उजाड जावै।
तिण ने मारग बताय नै घरे पोहचावै,
बले थाको हुवै तो खाधे बेसावै ॥२४॥

ससार रूपणी अटवी मे भूला नै,
ज्ञानादिक शुद्ध मारग बतावै।
सावद्य भार नै अलगो मेलाए,
सुखे-सुखे शिवपुर मे पोहचावै ॥२५॥

नाग नागणी हुता बलता लकडा मे,
त्यानै पारसनाथजी काढ्या कहै छै बार।
अग्नी मे बलता नै राख्या जीवता,
पाणी ने अग्न्यादिक रा जीवा नै मार ॥२६॥

पारसनाथजी घर छोड काउसग्ग कीधो जब,
कमठ उपसर्ग कर वर्षायो पाणी।
जब पद्मावती हेठे कियो सिंघासण,
धरणेद्र छत्र कियो सिर आणी ॥२७॥

नाग नागणी नै नवकार सुणाए,
च्यारू सरणा नै सूस दराया जाणी।
ते शुभ परिणामा सू मरनै हुवा,
धरणेद्र ने पद्मावती राणी ॥२८॥

कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति के शरीर से नहरुआ, कीडा, लट, जू, कनखजूरा, वग आदि काढ देता है। और भी वहुत प्रकार की साता कर देता है। यह उपकार सासारिक है ॥२२॥

किसी व्यक्ति के शरीर मे लट, जू आदि अनेक जीव उत्पन्न हो गये। किसी व्यक्ति ने एक भी जीव को शरीर से वाहर निकाल देने का उसे त्याग कराया। यह उपकार आध्यात्मिक है ॥२३॥

कोई गृहस्थ भूलकर वन मे उजाड पड गया और उजाड ही चला जा रहा है। कोई दूसरा व्यक्ति उसे मार्ग वताकर, थका हो तो कधे पर विठाकर उसके घर पर पहुचा देता है। यह उपकार सासारिक है ॥२४॥

ससार रूप अटवी मे भूले हुए किसी व्यक्ति को कोई दूसरा व्यक्ति ज्ञान, दर्शन आदि का शुद्ध मार्ग वतला देता है, उसके पाप रूप भार को अलग रखवा कर उसे सुख-शान्तिपूर्वक मोक्ष मे पहुचा देता है। यह उपकार आध्यात्मिक है ॥२५॥

जलते हुए लक्कड मे जो नाग-नागिनी थे, उन दोनो को पार्श्वकुमार ने वाहर निकाला। अग्नि मे जलते हुओ को पानी और अग्नि के जीवो की हिंसा करके भी जीवित रखा। यह उपकार सासारिक है ॥२६॥

पार्श्वकुमार ने सयम लेकर जव ध्यान किया, तव कमठ देव ने उन पर पानी वरसा कर उपसर्ग किया। उस समय पद्मावती ने भगवान् पार्श्वनाथ के नीचे सिंहासन वनाया और धरणेन्द्र ने उनके सिर पर छत्र किया। यह उपकार सासारिक है ॥२७॥

नाग-नागिनी को नमस्कार-मत्र सुनाकर चारो शरण दिलाते हुए जो त्याग-प्रत्याख्यान कराये, उन शुभ परिणामो मे मरकर वे नाग-नागिनी धरणेन्द्र और पद्मावती हुए। यह उपकार आध्यात्मिक है ॥२८॥

सुग्रीव सू उपगार कियो राम नै लिछमण,
जब सुग्रीव हुवो त्यारो सखाई।
सीतारी खबर आण रावण ने मरायो,
तिण पाछो उपगार कियो भीड आई ॥२९॥

कोइ दुष्टी जीव जू नै मारतो थो,
तिण नै वरज ने जू नै बचाई।
ते जू रो जीव मनुष्य हुवो जब,
इणरो कजियो इण पिण दियो मिटाई ॥३०॥

धणीरा मूहढा आगै सेवग मरनै,
धणी नै कुशले खेमे जीवतो काढै।
जब धणी तूठो थको रिजक रोटी दे,
इणरो इहलोक रो काम सिराडे चाढै ॥३१॥

दोय इद्र आया कोणक री भीडी,
कोणक रै साता कर दीधी ताम।
एक कोड़ असी लाख मनुष्या ने मारै,
कोणक रो सुधारचो काम ॥३२॥

एकीका जीव नै अनती बार बचाया,
त्या पिण इणने अनती वार बचायो।
आमा साहमा उपगार ससार ना,
कीधा त्या सू जीवरी गरज सरी नही कायो ॥३३॥

हाती नेहतादिक दे आमा साहमा,
लाडू खोपरादिक दे आमा साहमा।
अथवा कोइ क आघा पिण देवै,
इत्यादिक अनेक ससार ना कामा ॥३४॥

सुग्रीव पर राम और लक्ष्मण ने उपकार किया और सुग्रीव उनका सहयोगी बना। उसने सीता की खबर मगाकर रावण को मरवाया। इस प्रकार राम और लक्ष्मण की दुविधा मे काम आकर उसने प्रत्युपकार किया। यह उपकार सासारिक है ॥२९॥

कोई दुष्ट जीव जू को मार रहा था। उसे समझा कर जू को किसी व्यक्ति ने बचाया। उस जू का जीव जब मनुष्य हुआ तो उस उपकार करने वाले व्यक्ति का कोई झगडा उसने मिटा दिया। यह उपकार सासारिक है ॥३०॥

सेवक स्वामी के सामने मर जाते हैं और अपने स्वामी को सकुशल बचा लेते हैं। तब स्वामी तुष्ट होकर उसे पट्टा-परगना देता है और उसका लौकिक कार्य सिद्ध कर देता है। यह उपकार सासारिक है ॥३१॥

दो इन्द्र कोणिक के सहयोग मे आए और उसे सुखी कर दिया। एक करोड अस्सी लाख मनुष्यो को मार कर कोणिक का काम सुधार दिया। यह उपकार सांसारिक है ॥३२॥

किसी एक जीव ने दूसरे एक जीव को अनन्त वार बचाया है और उस जीव ने भी उसे अनन्त वार बचाया है। ये सासारिक उपकार परस्पर किये, पर इनसे जीव का कार्य सिद्ध नही हुआ ॥३३॥

हाती [परोसा], न्योते परस्पर दिये जाते है। लड्डू, खोपरे परस्पर दिये जाते हैं। अथवा कोई अपनी ओर से ही देते है। इस प्रकार ससार के अनेक काम हैं, पर ये सब सासारिक उपकार है ॥३४॥

ससार नो उपगार करे जिण सेती,
कदा ते पिण पाछो करे उपगार।
एतो उपगार एकीका जीवा सू,
कीधा छै अनत अनती बार।
या श्रद्धा श्री जिनवर भाषी ॥३५॥

ससार ना उपगार सब ही फीका,
ते तो थोडा माहे बिले होय जावै।
ससार ना उपगार फीका छै त्या सू,
मुगति तणा सुख कोय न पावै ॥३६॥

ससार तणा उपगार किया मैं,
केइ मूढ मिथ्याती धर्म बतावै।
ते श्रीजिन मारग ओलखिया विन,
मन माने ज्यू गाला रागोला चलावै ॥३७॥

जितरा उपगार संसार तणा छै,
जे जे करै ते मोह वस जाणो।
साधु तो त्याने कदे न सरावै,
ससारी जीव तिणरा करसी बखाणो ॥३८॥

ससार तणा उपगार किया मैं,
जिन धर्म रो अश नही छै लिगार।
ससार तणा उपगार किया मैं,
धर्म कहै ते तो मूढ गिवार ॥३९॥

किण ही जीव नै खप करनै बचायो,
किण ही जीव उपजाय नै कीधो मोटो।
जो धर्म होसी तो दोया ने धर्म होसी,
तोटो होसी तो दोया नै तोटो ॥४०॥

सासारिक उपकार जिस जीव के प्रति किया जाता है, कदाचित् वह भी प्रत्युपकार करता है। ये पारस्परिक उपकार तो एक-एक जीव से अनन्त बार किये जा चुके हैं। यह श्रद्धा श्री जिनेश्वर देव ने कही है ॥३५॥

ससार के उपकार सभी फीके होते हैं। ये तो थोड़े में ही नष्ट हो जाते हैं। इन नितान्त फीके उपकारों से कोई मुक्ति को नहीं पा सकता ॥३६॥

सासारिक उपकार करने में कोई मूर्ख मिथ्यादृष्टि धर्म बतलाते हैं। वे जिनेश्वर देव के धर्म को समझे बिना मनचाही गप्पे हाकते हैं ॥३७॥

जितने भी सासारिक उपकार है, वे सब मोहवश किए जाते हैं। साधु तो उनकी कभी सराहना नहीं करते। सासारिक जीव ही उनके बखान करते हैं ॥३८॥

सासारिक उपकार करने में जैन धर्म का अश भी नहीं है। सासारिक उपकार करने में जो धर्म कहते हैं, वे मूढ और गवार हैं ॥३९॥

किसी ने किसी जीव को प्रयत्न करके बचाया और किसी जीव ने किसी जीव को पैदा करके मोटा किया। यदि धर्म है तो दोनो में है और यदि नुकसान है तो दोनों ही के है ॥४०॥

बचावण वाला बिचे तो उपजावण वालो,
साम्प्रत दीसै उपगारी मोटो।
या रो निरणो किया बिनधर्म कहै छै,
त्यारो तो मत निकेवल खोटो ॥४१॥

बचावण वालो ने उपजावण वालो,
ए तो दोनू ससार तणाउपगारी।
एहवा उपगार करै आहमा साहमा,
तिण मे केवली रो धर्म नही छै लिगारी ॥४२॥

जीव ने जीवा बचावै तिण सू,
बध जावै तिणरे राग-सनेह।
जो परभव मे ऊ आय मिले तो,
देखत पाण जागै तिण सू नेह ॥४३॥

जीव ने जीवा मारे छै तिण सू,
बध जाय तिण सू द्वेष विशेष।
जो परभव मे ऊ आय मिले तो,
देखत पाण जागै तिण सू द्वेष ॥४४॥

मित्री सू मित्री पणो चलियो जावै,
वैरी सू वैरी पणो चलियो जावै।
ए तो राग द्वेष कर्मा रा चाला छै,
श्री जिन धर्म माहे नही आवै ॥४५॥

कोई अनुकम्पा आणी घर मडावै,
कोइ मडता घर नै देवै भंगाय।
यो प्रत्यक्ष राग नै द्वेष उघाड़ो,
ते आगै लगा दोनू चलिया जाय ॥४६॥

कोई तो पेलारा काम नै भोग वधारै,
कोइ काम भोगनी देवै अंतराय।
यो पिण राग नै द्वेष उघाडो,
ते आगै लगा दोनू चलिया जाय ॥४७॥

बचाने वाले की अपेक्षा तो पैदा करने वाला प्रत्यक्ष ही बडा उपकारी लगता है। इन बातो का निर्णय किये बिना ही धर्म कहा जाता है, उनका अभिमत तो निकेवल बुरा है।।४१।।

बचाने वाला और पैदा करने वाला, ये दोनो तो ससार के उपकारी है। ऐसे जो उपकार-प्रत्युपकार होते है, उनमे जरा भी केवली-प्ररूपित धर्म नही है।।४२।।

जीव को जीव बचाता है तो उससे उसका राग-बन्धन हो जाता है। वह जीव यदि परलोक मे कही मिल जाता है तो उसे देखते ही स्नेह जागृत होता है।।४३।।

जीव को जीव मारता है, उससे उसके प्रति द्वेष का बन्धन हो जाता है। परलोक मे यदि वह आ मिलता है तो देखते ही उसके प्रति द्वेष जागृत हो जाता है।।४४।।

मित्र से मित्रता और शत्रु से शत्रुता भवान्तरो मे भी चलती जाती है। यह राग-द्वेष रूप कर्म प्रपञ्च जिनेश्वर देव के धर्म मे नही आता।।४५।।

कोइ व्यक्ति अनुकम्पा करके किसी का घर मडाता है अर्थात् विवाह करा देता है और कोई किसी के बनते घर को बिखेर देता है। यह तो प्रत्यक्ष ही राग और द्वेष है, जो आगे तक चलते जाते है।।४६।।

कोई किसी के काम-भोग की वृद्धि करता है और कोई किसी के काम-भोग मे अन्तराय दे देता है। यह भी स्पष्ट राग और द्वेष है जो आगे तक चलते जाते है।।४७।।

कोइ पेला रो धन गमियो बतावै,
बले स्त्रियादिक पिण गमिया बतावै।
कोइ लाभ नै तोटो लोका नै बतावै,
तिण सू आगै लगो राग चलियो जावै ॥४८॥

कोइ वेदगरो कर कर ने लोका रो,
रोग गमाय नै जीवा बचावै।
यो उपगार लोका सू कीधा,
आगै लगो राग चलियो जावै ॥४९॥

कहि कहि नै कितरो एक कहू,
ससार तणा उपगार अनेक।
ज्ञान दर्शन चारित्र ने तप बिना,
मोक्ष तणो उपगार नही छै एक ॥५०॥

सवर ना भेद बीस कह्या जिन,
निर्जरा तणा भेद कह्या छै बार।
ए बतीसूई बोल उपगार मुगतिरा,
और मोक्ष रो उपगार नही छै लिगार ॥५१॥

ससार ने मोक्ष तणा उपगार,
समदिष्टी हुवै ते न्यारा न्यारा जाणै।
पिण मिथ्याती नै खबर पडे नही सूधी,
तिण सू मोह कर्म बस ऊधी ताणै ॥५२॥

ससार नै मोक्ष रो मारग ओलखावण,
जोड कीधी खेरवा शहर मझार।
सवत अठारै ने वर्ष चोपनै,
आसोज सुद बीज ने गुरुवार ॥५३॥

दुहा

चोबीसमा जिनवर हुवा, महावीर विख्यात।
त्यारी पहली वाणी निर्फल गई,ते हुवो अछेरो आश्चर्य वात ॥१॥

कोई किसी का खोया हुआ धन और स्त्री बता देते है। कोई लोगो को लाभ व नुकसान की बात बता देता है। यह राग भाव भी आगे तक चलता जाता है ॥४८॥

कोई व्यक्ति वैद्यवृत्ति कर रोग गमाता है और उन्हे मरने से बचाता है। यह उपकार भी लोगो के साथ करने मे तत्सम्बन्धी राग-भाव आगे तक चलता जाता है ॥४९॥

ससार के अनेको उपकार है। कितनो का बखान कर सकता हू। ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप के बिना मोक्ष का उपकार एक भी नही है ॥५०॥

जिनेश्वर देव ने सवर के बीस भेद कहे है और निर्जरा के बारह भेद। ये बत्तीस भेद मोक्ष-सम्बन्धी उपकार के है और कोई भी मोक्ष का उपकार नही है ॥५१॥

जो सम्यक्दृष्टि होते है, वे ससार और मोक्ष के उपकार को पृथक्-पृथक् समझ लेते है। परन्तु मिथ्यादृष्टि को उसका सम्यक् ज्ञान नही होता। इसलिए मोहकर्मवश वह उल्टी खीचातान करता है ॥५२॥

सवत् अठारहसौचौवन, आश्विन शुक्ल द्वितीया, शुक्रवार के दिन ससार और मोक्ष का मार्ग बतलाने के लिए खेरवा शहर मे यह रचना की है ॥५३॥

दोहा

चौबीसवे तीर्थंकर विश्वविख्यात भगवान् महावीर थे। उनकी पहली देशना निष्फल गई। यह एक अछेरा (आश्चर्य) हुआ ॥१॥

जंभीक ग्राम ने बाहिरे, स्याम नाम कर्षणी रै खेत।
तिहा साल नामा वृक्ष थो, गहर गभीर पान समेत ॥२॥

तिण साल वृक्ष हेठे आविया, भगवत श्री वर्द्धमान।
बेसाख सुदि दशमी दिने, उपनो केवल ज्ञान ॥३॥

केवल महोछव करवा भणी, तिहा देवता आया अनेक।
पिण मनुष्या ने ठीक पडी नही, तिण सू मनुष्य न आयो एक ॥४॥

देवता नें वाणी वागरी, थित साचववा काम।
कोई साधु श्रावक हुवो नही, तिण सू वाणी निर्फल गई ताम ॥५॥

जो धन थकी धर्म नीपजै, तो देवता पिण धर्म करत।
वीर वाणी सफली करे, मन माहे पिण हर्ष धरत ॥६॥

व्रत पचखाण न हुवै देवता थकी, धन सू पिण धर्म न थाय।
तिण सू वीर वाणी निर्फल गई, तिण रो न्याय सुणो चितल्याय ॥७॥

ढाल : १२

[राग—जीव मोह अनुकम्पा न आणिये]

जिनधर्म हुवै सोनईया दिया,
तो देवता देता हाथो हाथ जी।
पूरत मनोरथ मन तणा,
वीर वाणी निर्फल न गमात जी।
भवि करज्यो परख जिनधर्म री ॥१॥

रत्न हीरा नै माणक पना,
मन माने ज्यू देवता देत जी।
वीर वाणी सफली करे,
देवता पिण लाहो लेत जी ॥२॥

धन दिया हुवै धर्म जिन भाषियो,
देवता दान दे दग चाल जी।
यू किया वीर वाणी सफल हुवै,
तो अछेरो नही हुवै तिण कालजी ॥३॥

जंभिक ग्राम के बाहर साम नामक किसान के खेत मे एक फल-पत्रो-सहित सघन शाल वृक्ष था ॥२॥

उस शाल वृक्ष के नीचे भगवान् महावीर आये। वहा वैशाख शुक्ला दसमी के दिन उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ ॥३॥

केवल महोत्सव करने के लिए वहा अनेको देव आये, परन्तु मनुष्यो को पता नही चला, इसलिए एक भी मनुष्य वहा नही पहुचा ॥४॥

केवल रीति निभाने के लिए देवो के सम्मुख भगवान् ने देशना दी। कोई भी व्यक्ति साधु या श्रावक नही बना, इसलिए उनकी वाणी निष्फल गई ॥५॥

यदि धन से धर्म होता तो देवता भी कर लेते। भगवान् की वाणी को ही सफल कर देते और अपने मन मे भी हर्षान्वित होते ॥६॥

देवता से व्रत या प्रत्याख्यान नही होता। इसी प्रकार धन से भी धर्म नहीं होता। इससे उनकी वाणी निष्फल गई। इसका न्याय मन लगाकर सुने ॥७॥

गीति : १२

स्वर्ण मुद्राए देने से यदि धर्म होता तो देवता उसी समय करते। अपने मन के मनोरथ भी पूरते और वाणी को भी निष्फल नही गमाते। भव्य लोगो! जैन धर्म की परीक्षा करो ॥१॥

हीरा, माणिक, पन्ना आदि रत्न देवता मन चाहेरूप से देते और भगवान् की वाणी को सफल कर अपने-आपको धन्य मानते ॥२॥

धन देने से यदि धर्म होता तो देवता खुले हाथो धन देते। ऐसा करने से वाणी सफल होती तो उस समय भगवान् की वाणी के असफल होने का अछेरा (आश्चर्य) नही होता ॥३॥

धन धानादिक लोका नै दिया,
ए तो निश्चैई सावद्य दान जी।
तिण मे धर्म नही जिनराज रो,
ते, भाख्यो छै श्री भगवान जी ॥४॥

जो जीव बचाया जिन धर्म हुवै,
यो तो देवता रे आसान जी।
अनता जीवा नें बचाय नें,
वाणी सफल करता देव आण जी ॥५॥

असंख्याता समदिष्टी देवता,
एकीको बचावत अनत जी।
जो धर्म हुवै तो आघो न काढता,
वीर री वाणी सफल करत जी ॥६॥

साधु श्रावक रो धर्म छै वरत मे,
जीव हणवा रा करै पचखाण जी।
ए धर्म देवता थी हुवै नही,
तिण सू निर्फल गई वीर-वाण जी ॥७॥

जीवा ने जीवा बचाविया हुवै,
ससार तणो उपगार जी।
यू तो सफल न हुवै वाणी वीरनी,
धर्म रो नही अश लिगार जी ॥८॥

असजती नै जीवा बचाविया,
वले असजती ने दिया दान जी।
इम किया वीर वाणी सफल हुवै,
ओ तो देवता रे पिण आसान जी ॥९॥

कुपात्र जीवा नै बचाविया,
कुपात्र ने दीधा दान जी।
यो सावद्य किरतब ससार नो,
भाख्यो श्री भगवान जी ॥१०॥

धन-धान्य आदि लोगो को जो दिया जाता है, वह तो निश्चित ही सावद्य दान है। इसमे जिनेश्वर देव का धर्म नही है। यह भगवान् ने स्वय कहा है ॥४॥

यदि जीव बचाने मे भी धर्म होता तो वह देवताओ के लिए आसान बात थी। अनन्त जीवो को बचाकर भगवान् की वाणी सफल करते ॥५॥

अनन्य समदृष्टि देव है। एक-एक अनन्त जीवो को बचा देता। यदि उसमे धर्म होता तो भगवान् की वाणी सफल करने मे जरा भी देर नही करते ॥६॥

साधु और श्रावक का धर्म व्रत मे है। वे जीव-हिंसा करने का त्याग करते है। यह धर्म देवता से नही होता, इसलिए भगवान् की वाणी निष्फल गई ॥७॥

जीवो को जीवित रखने मे सासारिक उपकार होता है, इसमे भगवान् की वाणी सफल नही होती। इसमे धर्म का जरा भी अश नही ॥८॥

असयति को जीवित रखने मे और असयति को दान देने मे यदि भगवान् की वाणी सफल होती तो देवो के लिए यह बहुत ही आसान काम था ॥९॥

कुपात्र जीवो को बचाना और कुपात्र को दान देना, यह ससार का सावद्य कर्तव्य है, ऐसा भगवान् ने कहा है ॥१०॥

उत्तराध्येन अठावीस मे कह्यो,
मोक्ष ना मारग भाख्या च्यार जी।
बाकी सर्व काम ससार ना,
सावद्य जोग व्यापार जी ॥११॥

जो धर्म हुवै सावद्य दान मे,
असजती ने बचाया हुवै धर्म जी।
तो निश्चैई समदिष्टी देवता,
यो धर्म करे काटै कर्म जी ॥१२॥

कर्म कटै इण सावद्य धर्म सू,
एहवा सावद्य काम अनेक जी।
ते तो थोडा सा परगट करू,
ते सुणज्यो आण विवेक जी ॥१३॥

मच्छगलागल लग रही,
सारा द्वीप समुद्रा माय जी।
मोटो मच्छ छोटा ने भखे,
उणसू मोटो उणने ई खाय जी ॥१४॥

जो उद्यम करे एक देवता,
ता एक दिन मे बचावै अनेक जी।
धर्म हुवै तो आचो काढै नही,
यो तो छै देवता मे विवेक जी ॥१५॥

जीव बचाया अभय दान हुवै,
तो अभय दान घणा नै देत जी।
धर्म जाणै जीव बचाविया,
देव भव मे पिण लाहो लेत जी ॥१६॥

मछला बचावै एक दिन मझे,
लाखा कोड़ाई गिणिया न जाय जी।
इण मे धर्म हुवै जिन भाषियो,
तो देवता देवै मछला छुडाय जी ॥१७॥

उत्तराध्ययन के अट्ठाईसवें अध्ययन मे मोक्ष के चार मार्ग कहे हैं। बाकी सब काम संसार के हैं और उनमे सावद्य योग का व्यापार है ॥११॥

यदि सावद्य दान मे और असयति को बचाने मे धर्म होता तो निश्चित ही समदृष्टि देवता उस धर्म का अनुष्ठान कर अपने कर्म नष्ट करते ॥१२॥

इस प्रकार के सावद्य कार्य से यदि कर्म कटते हैं तो ऐसे अनेको कार्य हैं। उनमे से थोडे से कार्यों को मैं प्रकट करता हू। मन मे विवेक जगाकर सुनो ॥१३॥

समस्त द्वीप समुद्रो मे मच्छगलागल लग रही है। बडा मच्छ छोटे मच्छ को खा रहा है और उससे बडा उसे खा रहा है ॥१४॥

यदि एक देवता भी परिश्रम करे तो एक दिन मे अनेक जीवो को बचा देता है। धर्म हो तो वह ऐसे कार्य मे विलम्ब नही करेगा, क्योकि इतना विवेक तो उसमे है ही ॥१५॥

जीव बचाने मे यदि अभयदान होता है तो वह बहुतो को अभयदान दे देता। जीवो को बचाने मे यदि धर्म मानता तो देव-योनि मे भी यह कार्य खूब करता ॥१६॥

एक दिन मे लाखो-करोडो और अगणित मच्छो को बचाया जा सकता है। यदि इसमे धर्म होता तो देवता मच्छो को अवश्य बचाते ॥१७॥

मच्छ आगा सू मच्छ छोडाविया,
उणरे पडी जाणै अतराय जी।
तो अचित मच्छ उपजाय ने,
उणने पिण देवै खवाय जी ॥१८॥

जो धर्म हुवै मछला नै बचाविया,
मछला ने पोख्या हुवै धर्म जी।
एहवो धर्म तो हुवै देवता थकी,
यू कर कर काटे कर्म जी ॥१९॥

जो धर्म हुवै तो देवता,
असख्याता मछला ने बचाय जी।
असख्याता पोपे माछला,
आलस पिण न करे ताय जी ॥२०॥

पृथवी पाणी तेउ वाउ मझे,
जीव कह्या असख्यात जी।
वनसपती मे अनत छै,
या ने पिण देव बचात जी ॥२१॥

तीन विकलेंद्री मनुष्य तिर्यचने,
बचाया धर्म जाणै जो देव जी।
तो त्यानेई बचावण री खप करे,
समदिष्टी देवता स्वयमेव जी ॥२२॥

नाहर चित्तादिक दुष्ट जीव छै,
करै गायादिकरी घात जी।
गायादिक नै तो खावा दे नही,
त्याने पिण देव अचित्त खवात जी ॥२३॥

जीव जीव तणो भक्षण करै,
त्याने बचावै अचित्त खवाय जी।
जो यू किया मै धर्म नीपजै,
तो देवता करे ओहिज उपाय जी ॥२४॥

यदि मत्स्य के मुह से मत्स्य को छुडाने मे उसके अन्तराय होने लगे तो अचित्त मत्स्य को पैदा करके उसे वह खिला देता ॥१८॥

यदि मत्स्यो को बचाने मे और पोष देने मे धर्म होता तो यह धर्म देवता से भी सम्भव था और उसे करके वह अवश्य कर्म काटता ॥१९॥

यदि धर्म हो तो देवता असख्य मत्स्यो को बचा देता और बिना किसी आलस्य के असख्य मत्स्यो का पोषण करता ॥२०॥

पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु इनमे असख्य जीव माने जाते है। वनस्पति मे अनन्त जीव होते हैं। उनको भी देवता बचा देता ॥२१॥

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, मनुष्य और अन्य तिर्यञ्चो को बचाने मे यदि देवता धर्म जानता तो सम्यक्‌दृष्टि देवता स्वय उनको बचाने के लिए प्रयत्न करता ॥२२॥

बाघ, चीते आदि दुष्ट जीव गाय आदि पशुओ की घात करते है, उनको भी अचित्त द्रव्य खिला कर गाय आदि वह बचा लेता ॥२३॥

जीव जीव का भक्षण करता है। उसे अचित्त खिलाकर बचाया जा सकता है। यदि ऐसा करने मे धर्म होता हो तो देवता यही उपाय काम मे लेता ॥२४॥

अढाइ द्वीप मैं मनुष्या तणे,
घर-घर आरम्भ करै जाण जी।
ते तो कतल करै जीवा तणी,
छ ही काय तणो घमसाण जी ॥२५॥

नित्य एकीका घर में जुवो जुवो,
आरम्भ हुवै दिन रात जी।
छेदन-भेदन करे निलोतरी,
करे अनत जीवा री घात जी ॥२६॥

दलणो पीसणो नै पोवणो,
घर-घर चूलो धुकावै तास जी।
आवट कूटो करै छ कायरो,
करे अनत जीवा रो विणास जी ॥२७॥

एकीको समदिष्टी देवता,
त्यारी शक्ति घणी छै अतत जी।
अढी द्वीप रो आरभ मेटनै,
बचावै जीव अनन्त जी ॥२८॥

अढी द्वीप तणा मनुष्या भणी,
भूखा त्रपा न राखै कोय जी।
अचित्त अन्न पाणी निपजाय नैं,
सगला नैं करे तृप्ती सोय जी ॥२९॥

विविध प्रकार ना भोजन करै,
विविध प्रकार ना पक्वान जी।
खादिम स्वादिम विविध प्रकार ना,
विविध प्रकारै शीतल पान जी ॥३०॥

साग व्यंजन विविध प्रकार ना,
फल निलोती विविध प्रकार जी।
मनसा भोजन सगला मनुष्या भणी,
करावै देवता वार-वार जी ॥३१॥

अढाई द्वीप मे मनुष्यो के घर-घर मे आरम्भ होता है। वे छ हो प्रकार के जीवो का सहार करते है ॥२५॥

एक-एक घर मे प्रतिदिन पृथक्-पृथक् हिंसा युक्त प्रवृत्तिया होती है। वनस्पति का छेदन-भेदन होता है। अनन्त जीवो की घात होती है ॥२६॥

दलना, पीसना, पोना, चुल्हा जलाना आदि रूपो मे छ काय का आरम्भ-समारम्भ होता है। अनन्त जीवो का नाश किया जाता है ॥२७॥

एक-एक समदृष्टि देव अत्यन्त शक्तिशाली होते है। वे अढाई द्वीप का आरम्भ मिटा कर अनन्त जीवो को बचा सकते है ॥२८॥

अढाई द्वीप के मनुष्यो की भूख और प्यास अचित्त अन्न, जल आदि देकर मिटा सकते हैं। सबको तृप्त कर सकते है ॥२६॥

देवता विविध प्रकार के भोजन और विविध प्रकार के पक्वान्न बना सकते है। विविध प्रकार के मेवे और लवग आदि द्रव्य तथा शीतल पानी, विविध प्रकार के शाक और विविध प्रकार के फल आदि से मनुष्यो को पुन -पुन मनोवाछित भोजन करा सकते हैं ॥३०-३१॥

ठाम-ठाम अचित्त पाणी तणा,
कुंड भर-भर राखे ताम जी।
वले भोजन विविध प्रकार ना,
त्यारा ढिगला करे ठाम-ठाम जी ॥३२॥

च्यारु आहार अचित्त निपायनैं,
दीधा हुवे धर्म ने पुन्य ताम जी।
बले धर्म हुवे जीव बचाविया,
तो देवता करे ओहिज काम जी ॥३३॥

देवता खाणो देवै मिनखा भणी,
तो खेती रो आरम्भ टल जाय जी।
वले गहणा कपडा देवै देवता,
तो घणा जीव मरे नही ताय जी ॥३४॥

घर हाट हवेली महलायता,
इत्यादिक कमठाणा ताय जी।
ए पिण निपजाय देवै देवता,
तो अनन्ता जीव मरता रहि जाय जी ॥३५॥

ते छावणा लीपणा नही पडै,
ते तो सुन्दर नै सोभाय मान जी।
ते पिण दीसे घणा रलियामणा,
देवता नै करता आसान जी ॥३६॥

एहवी करणी किया धर्म नीपजै,
तो देवता आघो नही काढत जी।
या करणी करै कर्म काट नै,
काम सिराडे देता चाढत जी ॥३७॥

दान दिया नै जीव वचाविया,
जो कर्म तणो हुवै सोख जी।
तो दान दे जीव वचायनैं,
देवता पिण जावै मोख जी ॥३८॥

स्थान-स्थान पर अचित्त पानी के कुंड भर कर रख सकते हैं और स्थान-स्थान पर विविध प्रकार के भोजनों के ढेर लगा सकते हैं। चारो प्रकार के आहार अचित्त पैदा कर देने से यदि धर्म-पुण्य होता हो और जीवो को बचाने मे धर्म होता हो तो वे समदृष्टि देवता यही काम करते ॥३२-३३॥

देवता यदि मनुष्यों को खाना देने लगें तो खेती करने का आरम्भ टल जाता है और देवता गहने, कपडे आदि देने लग जाए तो बहुत सारे जीव मरने से बच सकते हैं ॥३४॥

घर, हाट, हवेली, महल आदि भी यदि देवता पैदा कर दें तो अनन्त जीव मरने से बच जाते हैं ॥३५॥

उन देव-निर्मित मकानों को छाना या नीपना भी न पडे। वे तो सुन्दर होते ही हैं और देवताओं के लिए उनको बनाना भी बहुत सरल है ॥३६॥

ऐसा कार्य करने मे यदि धर्म होता तो देवता देरी नहीं करते। इस क्रिया से कर्म काट कर अपना काम सिद्ध करते ॥३७॥

दान देने मे और जीव बचाने मे यदि कर्मों का क्षय होता हो तो दान देकर या जीव बचा कर देवता भी मोक्ष मे चले जाते ॥३८॥

अनेरा ने दिया पुन्य नीपजै,
देवता रे हुवै पुन्य रा थाट जी।
बले धर्म हुवै जीव बचाविया,
तो देव मोक्ष जावै कर्म काट जी ॥३६॥

असजती जीवा रो जीवणो,
ते सावद्य जीतव साख्यात जी।
तिण ने देवै ते सावद्य दान छै,
तिण मे धर्म नही असमात जी ॥४०॥

धर्म हुवै तो सगला मिनखा तणे,
रत्ना जड्या करदे महल जी।
ते पिण थोडा मे निपजाय दे,
देवता ने करता सहल जी ॥४१॥

खाणो पीणो गहणो कपडादिक,
गृहस्थ तणा सारा काम भोग जी।
त्यारो करै बधोतर तेहनै,
बधे पाप कर्म ना सजोग जी ॥४२॥

काम नै भोग सारा गृहस्थ तणा,
दु ख नै दुखरी छै खान जी।
त्याने किंपाक फलरी ओपमा,
उत्तराध्ययन मे कह्यो भगवान जी ॥४३॥

त्याने भोगवावै धर्म जाण नै,
तिणरे वधै छे पाप कर्म जी।
तिण मे समदिष्टी देवता,
अस मात्र न जाणे धर्म जी ॥४४॥

केइ अज्ञानी इम कहै,
श्रावक नै पोख्या छै धर्म जी।
लाडू खवाय दया पलाविया,
तिणरा कट जाये पाप कर्म जी ॥४५॥

दूसरो को देने मे पुण्य होता हो तो देवता के पुण्यो का ढेर लग जाए और जीव बचाने मे यदि धर्म होता तो कर्म काट कर देवता भी मोक्ष चले जाते ॥३६॥

असयति जीवो का साक्षात् ही सावद्य जीवन है। उनको जो दिया जाता है वह सावद्य दान है। उसमे अशमात्र भी धर्म नही है ॥४०॥

धर्म होता हो तो सब मनुष्यो के लिए रत्नजटित महल बना दिये जाते। ये सब बहुत थोडे मे हो जाते, क्योकि देवता के लिए ये सब सरल कार्य होते है ॥४१॥

खाना-पीना, गहना, कपडा आदि सारे गृहस्थ के काम-भोग है। उनकी वृद्धि करने मे पाप-कर्म की वृद्धि होती है ॥४२॥

गृहस्थ के समस्त काम-भोग दुःख की खान है। उन्हे उत्तराध्ययन सूत्र मे भगवान् ने किंपाक फल की उपमा दी है ॥४३॥

उन काम-भोगो का आचरण कराने मे पाप-कर्मो का बन्धन होता है। सम्यक दृष्टि देवता अश मात्र भी उसमे धर्म नही मानते ॥४४॥

कुछ अज्ञानी यह कहते है कि श्रावक का पोषण करने मे धर्म है। लड्डू खिला-कर दया पलाने मे पाप-कर्म कट जाते है ॥४५॥

लाडुवा साटे उपवास वेला करै,
तिणरा जीतव नैं छै धिक्कार जी।
तिण ने पोषे छै लाडू मोल ले,
तिण मे धर्म नही छै लिगार जी ॥४६॥

लाडुवा साटे पोषा करै,
तिण मे जिन भाख्यो नही धर्म जी।
ते तो इहलोकरै अरथे करे,
तिणरो मूरख न जाणै मर्म जी ॥४७॥

धर्म हुवै तो समदिष्टी देवता,
अचित्त लाडुवादिक निपजाय जी।
वले पाणी पिण अचित्त निपजाय नै,
श्रावका नै जीमावै धपाय जी ॥४८॥

जावजीव सगला श्रावका भणी,
लाडुवादिक अचित्त खवाय जी।
अढी द्वीप तणा श्रावका भणी,
दया पलावै पोसा कराय जी ॥४९॥

त्याने आरम्भ करवा दे नही,
त्याने कल्पे ते देवता देत जी।
धर्म हुवै तो आघो नही काढता,
यो पिण देवता लाहो लेत जी ॥५०॥

श्रावका ने वस्तु दे चावती,
ऊणायत राखै नही ताय जी।
धर्म हुवै तो आघो काढै नही,
त्यारे कुमिय न दीसै काय जी ॥५१॥

जो धर्म हुवै श्रावक नै पोषिया,
तो देवता पिण करे यो धर्म जी।
असख्याता श्रावका ने पोष ने,
काटता निज पाप कर्म जी ॥५२॥

लड्डुओ के लालच से जो उपवास या वेला करते है, उनके जीवन को धिक्कार है। लड्डू मोल लेकर जो उनका पोषण किया जाता है, उसमे जरा भी धर्म नही हे ॥४६॥

लड्डुओं के लिए पोषध आदि करते हैं, उसमे जिनेश्वर देव ने धर्म नही कहा हे। वे पौषध आदि सब इहलौकिक है। मूर्ख आदमी इसका मर्म नही जानते ॥४७॥

धर्म होता हो तो सम्यग्दृष्टि देवता अचित्त लड्डू और अचित्त पानी पैदा करके श्रावको को अवश्य खिलाते ॥४८॥

यावज्जीवन तक अढाई द्वीप के सभी श्रावकों को लड्डू आदि अचित्त द्रव्य खिलाते और पौषध करा कर दया पलाते ॥४६॥

उन्हे हिंसा आदि आरम्भ नही करने देते और श्रावको को जो कल्प्य होता, वह देवता देते। धर्म होता तो देवता देरी नही करते और ऐसा करके अपने-आपको कृतकृत्य करते ॥५०॥

यदि धर्म होता तो देवता श्रावकों को मनचाही वस्तु देते। जरा भी कसर नहीं रखते और न ऐसा करने मे विलम्ब ही करते ॥५१॥

यदि श्रावक का पोषण करने मे धर्म होता तो देवता भी यह धर्म करते। असख्य श्रावको का पोषण करके अपने कर्म काटते ॥५२॥

असख्याता द्वीप समुद्र मे,
असख्याता श्रावक छै ताम जी।
त्याने पोपे समदिष्टी देवता,
जो जाणे धर्म नो काम जी ॥५३॥

श्रावक रो खाणो पीणो सर्वथा,
अव्रत मे कह्या छै आम जी।
तिण सू समदिष्टी देवता,
एहवो किम करसी काम जी ॥५४॥

सक्रेंद्र ने ईशाणेद्र छै,
तिरछा लोक तणा सिरदार जी।
हाल हुकम छै सगला ऊपरे,
असख्याता द्वीप समुद्र मझार जी ॥५५॥

मच्छ गलागल लग रही,
सारा द्वीप समुद्रा माय जी।
जो धर्म हुवै जीव वचाविया,
तो इद्र थोडा मे देवै मिटाय जी ॥५६॥

भगवत कह्यो हुवै इद्र नैं,
जीव वचाया धर्म होय जी।
तो दोनू इद्र जीव वचावता,
आलस नही करता कोय जी ॥५७॥

मच्छ आगा सू मच्छ छोडायनै,
मच्छा ने देता जीवा वचाय जी।
त्याने पिण भूखा नही राखता,
अचित मच्छ कर देता खवाय जी ॥५८॥

यू किया जिन धर्म नीपजै,
तो भगवत सिखावत आप जी।
वले आज्ञा देता तेहनै,
चोडे करता आहिज थाप जी ॥५९॥

असख्य द्वीप समुद्रो मे असख्य श्रावक रहते है। सम्यग्दृष्टि देवता यदि धर्म समझते तो उनका अवश्य पोषण करते ॥५३॥

श्रावक का खाना-पीना आदि सब अव्रत मे कहा गया है, इसलिए सम्यग् दृष्टि देवता ऐसा कार्य नही कर सकते ॥५४॥

तिर्यग् लोक के दो मालिक हैं—शक्रेन्द्र और इशानेन्द्र। उनका आदेश असख्य द्वीप समुद्रो मे सर्वोपरि है ॥५५॥

सभी द्वीपो एव समुद्रो मे जीव जीव को खा रहे है। यदि जीव बचाने मे धर्म हो तो इन्द्र उस मच्छगलागल को थोडे मे ही मिटा देता ॥५६॥

भगवान् महावीर ने इन्द्र को कहा होता कि जीव बचाने मे धर्म है तो दोनो इन्द्र जीवो को बचाते। जरा भी आलस्य नही करते ॥५७॥

मत्स्य के मुह से मत्स्य को छुडा कर उसे जीवित बचा लेते और उन बडे मत्स्यो को भी भूखा नही मारते। निर्जीव मत्स्यो का निर्माण कर उन्हे खिला देते ॥५८॥

ऐसा करने मे जिन-धर्म होता तो भगवान् स्वय ऐसा सिखलाते। इन्द्र को ऐसी आज्ञा देते और प्रकट रूप मे उस बात की स्थापना करते ॥५९॥

जीव नै जीवा बचाविया,
ओ तो ससार नो उपगार जी।
तठे जिनाज्ञा जावक नही,
धर्म पिण नही छै लिगार जी ॥६०॥

छ काय ना शस्त्र बचाविया,
छ काय नो वेरी होय जी।
त्यारो जीतव पिण सावद्य कह्यो,
त्याने बचाया धर्म न कोय जी ॥६१॥

असजती रा जीवणा मझे,
धर्म नही असमात जी।
वले दान देवै छै तेहने,
ते पिण सावद्य साख्यात जी ॥६२॥

दान देवो नै जीव बचायवो,
यो तो देवता न आसान जी।
यू किया धर्म हुवै तो देवता,
जाये पाचमी गति प्रधान जी ॥६३॥

जीव बचावणो ने सावद्य दान नै,
ओलखायो पुर शहर मझार जी।
सवत अठारै वर्ष सतावनै,
काति विद चोदस नै शुक्रवार जी ॥६४॥

जीवो को जीवित बचाने मे सासारिक उपकार है। जहा जिनेश्वर देव की जरा भी आज्ञा नहीं है, वहा जरा भी धर्म नही होता ॥६०॥

षट्कायिक जीवो के शस्त्र रूप जीव को बचाने मे वह छ काय का वैरी हो जाता है। उनका जीना भी सावद्य कहा गया है। उनको बचाने मे धर्म नही होता ॥६१॥

असयति जीवो के जीने मे तिल भर भी धर्म नही है और जो उन जीवो को दान दिया जाता है, वह भी साक्षात् सावद्य है ॥६२॥

दान देना और जीवो को बचाना, ये दोनो कार्य देवताओ के लिए आसान है। ऐसा करने मे धर्म होता तो देवता भी पचम गति (मोक्ष) प्राप्त कर लेते ॥६३॥

सवत् अठारहसौ सत्तावन, कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी शुक्रवार के दिन जीव बचाने को और सावद्य दान को पुर शहर मे भली-भाति बताया गया है ॥६४॥

परिशिष्ट १

सांकेतिक कथाएं

: १ :

हाथी के भव में मेघकुमार

मेघकुमार राजा श्रेणिक का पुत्र था। बाल्यकाल से ही वह साधु-प्रेमी था। जब-जब भगवान् श्री महावीर राजगृह मे आते, तब-तब वह वदन के लिए जाता, व्याख्यान-श्रवण भी करता। मेघकुमार राजकुमार तो था ही, उसके साथ-साथ उसमे वह सहज व्यक्तित्व भी था कि सभी साधु उससे वार्तालाप करने को समुत्सुक रहते। इस धर्मानुराग से प्रेरित होकर वह वैरागी बना और भगवान् महावीर के पास दीक्षित हो गया। दीक्षित होने की प्रथम रात्रि मे जब साधुओ के सोने की व्यवस्था हुई तो उस व्यवस्था मे मेघकुमार का क्रम सबसे अन्तिम था। पहले दिन तक वह राजमहल की सुकोमल शय्या पर लेटा करता था और आज वह सामान्य तृण-विस्तर पर सोया था। वह गहरी नीद नही ले सका। उसके पास से होकर साधुओ के आवागमन का क्रम भी सारी रात चलता ही रहा। रात्रि-जागरण की उस वेला मे मेघकुमार के मन मे नाना दुश्चिन्ताए उत्पन्न हुई। वह सोचने लगा, कल तक सभी साधुओ का मेरे प्रति इतना आदरभाव था और आज उनके सघ मे दीक्षित हो जाने के साथ ही मेरी यह उपेक्षा ? न कोई हँसकर मुझसे बोल रहे हैं और न उन्हे मेरे सुख-दु ख की कोई चिन्ता ही दीख पड रही है। सभी अपने-अपने कार्य मे तल्लीन हो रहे हैं। मैं व्यर्थ ही इस जजाल मे आ फसा। खैर, अब भी क्या हुआ है ? प्रात काल होते ही ये पात्र, रजोहरण आदि भगवान् श्री महावीर को पुन सौंप कर मैं अपने घर चला जाऊगा।

प्रात काल मुनि मेघकुमार भगवान् महावीर के पास पहुचे तो त्रिकालदर्शी भगवान् ने स्वय ही कहा—मेघकुमार ! आज रात को तू परीषहो से पराभूत हुआ। तेरे मन मे यह विचार आया कि पात्र, रजोहरण आदि सौंप कर अपने घर चला जाऊगा। हे राजकुमार ! सयम ग्रहण करके इस प्रकार दुर्बलता दिखलाना उचित नही है। देख, अब तो तू मनुष्य है। तेरे मे हिताहित का विवेक है। तू ने अपने पिछले भव मे, जब कि तू एक पशुमात्र था, मानसिक दृढता का बहुत बडा उदाहरण उपस्थित किया था। मेघकुमार सुनने मे लीन हुआ और भगवान् महावीर उसे बताने लगे—तेरा यह जीव पिछले भव मे हाथी था। उससे भी पिछले भव मे यह हाथी था। एक बार जगल मे आग लगी। हाथी प्राण बचा कर भागा। चलते-चलते भयकर प्यास लगी। एक तालाब मे पानी पीने के लिए वह

ज्यो ही गया, कीचड मे ऐसा फसा कि वह फिर निकल नही पाया। एक दूसरा हाथी आया और दन्त-प्रहार से उस पर आक्रमण करने लगा। वहा से आयु पूर्ण कर तेरा वह जीव पुन हाथी के रूप मे पैदा हुआ। एक वार उसने जगल मे आग लगी देखी तो उसे जातिस्मरण हो आया। उसने सोचा यह न हो कि फिर कभी जगल मे आग लग जाए और मुझे मर जाना पडे। उसने एक योजन मण्डलाकार भूमि को साफ कर दिया। वहा तृण, वृक्ष, लता आदि कुछ भी नही रहने दिया और वहा वह सुख से रहने लगा। जगल मे फिर से आग लगी। जगल के अन्य जीव-जन्तु भी प्राण-रक्षा के लिए उस मण्डल मे आकर एकत्रित होने लगे। हाथी के चारो ओर भर गए। हाथी के लिए केवल खडे रहने भर की जगह रह गई। अकस्मात् हाथी ने शरीर खुजलाने के लिए एक पैर ऊपर उठाया। सयोगवश एक शशक तत्क्षण उस रिक्त स्थान मे आ बैठा। हाथी ने पैर नीचे रखना चाहा तो उस शशक का उसे पता चला। उस समय उसने प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की अनुकम्पा के लिए पैर उठाए रखा। एक दिन बीता, दूसरा दिन भी बीता और तीसरा दिन भी बीतने लगा। उस उत्कट अहिंसा-प्रतिष्ठान से हे मेघकुमार! तुझे उस भव मे अपूर्व सम्यक्त्व-रत्न का लाभ हुआ। उस भव मे भी तूने इतना दु सह कष्ट सहा तो अब तो तू मनुष्य है। हेयोपादेय को अधिक समझता है, तब तेरे मन मे साधारण परिषहो के प्रति भी इतना अधैर्य क्यो?

मेघकुमार भगवान् श्री महावीर की इस अमृतोपम देशना से प्रभावित हुआ। अपने अधैर्य के प्रति उसके मन मे ग्लानि हुई। आत्म-आलोचना कर पुन सयमारूढ हुआ।

—ज्ञाताधर्मकथाग सूत्र अ० १ के आधार से

: २ :

अरिष्टनेमि की अनुकम्पा

सौरियपुर नगर मे वसुदेव नामक राजा राज्य करता था। उसके दो रानिया थी, एक रोहिनी और दूसरी देवकी। उन दोनो के क्रमश बलभद्र और श्रीकृष्ण दा पुत्र उत्पन्न हुए। वसुदेव के एक भाई का नाम था, समुद्रविजय। उसकी स्त्री का नाम था, शिवा। शिवा रानी के उदर से अरिष्टनेमि का जन्म हुआ। श्रीकृष्ण ने उग्रसेन राजा की कन्या राजिमती से अपने बन्धु अरिष्टनेमि का विवाह सम्बन्ध निश्चित कर दिया। दोनो ओर से विवाह की जोर-शोर से तैयारिया हुई। अरिष्ट-नेमि की बरात ज्यो ही उग्रसेन राजा के यहा पहुची, अरिष्टनेमि ने देखा कि बहुत सारे पशु-पक्षियो को बाडो और पिजरो मे बाध रखा है। वे अपने सारथी से बोले—ये सब सुखार्थी जीव बाडो और पिजरो मे किसलिए डाले गए है? सारथी ने कहा—ये सब भद्र प्रकृति के जीव आपके विवाह-कार्य मे बहुत से पुरुषो को भोजन देने के लिए एकत्रित किये गए हैं। इस प्रकार प्राणियो के विनाश-सम्बन्धी वचन को सुन-कर दयार्द्र हृदय राजकुमार ने कहा—

जइ मज्झ कारण एए हम्मति सुबहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेस, परलोगे भविस्सइ ।।

अर्थात् यदि ये बहुत से जीव मेरे कारण से मारे जाते है तो मेरे लिए यह पर-लोक मे कल्याणप्रद नही होगा। यह कह कर अरिष्टनेमि कुमार ने अपने कुण्डल, कटिसूत्र आदि आभूषण उतार कर सारथी को दे दिए और कहा—रथ को वापस मोडो। मुझे इस प्रकार का हिंसाकारी विवाह नही करना है। श्रीकृष्ण प्रभृति बहुतो के समझाने पर भी वे नही माने और उन्होने प्रतिबुद्ध होकर दीक्षा ग्रहण की। वे २२ वें तीर्थकर बने।

—उत्तराध्ययनसूत्र अ० १२ के आधार से

: ३ :

धर्मरुचि

प्राचीन काल की घटना है। धर्मघोष नामक महान् आचार्य चम्पानगरी मे आए। धर्मरुचि अनगार उनके तपस्वी शिष्य थे। उनके एक महीने की तपस्या पूरी हुई। भिक्षा लाने के लिए गुरु से आज्ञा लेकर सघन वस्ती मे आए। उसी नगरी मे नागश्री नामक एक ब्राह्मणी (द्रौपदी के पूर्व भव का जीव) रहती थी। उसने उस दिन अपनी भोजन सामग्री मे तुम्वे का शाक भी वनाया था। वनाने के वाद ज्योही उसने वह चखा, उसे भान हुआ कि यह तो कडवा तुम्वा है, खाने के योग्य नही है। ज्यो ही वह उस शाक को हाथ मे लेकर किसी घूरा (उकरडी) पर गिराने के लिए चली, घूमते-फिरते महातपस्वी धर्मरुचि अनगार उसकी रसोई के द्वार पर पहुच गए। नागश्री ने सोचा, व्यर्थ ही मुझे कही दूर इसे डालने के लिए जाना पडता। अच्छा हुआ यह मुनि आ गया। इसके पात्र मे ही यह कटुक शाक क्यो नही डाल दू। मेरा वर्तन तो खाली हो ही जाएगा। यह सोचकर उसने मुनि के पात्र मे वह कडवे तुम्वे का शाक डाल दिया। मुनि ने समझा, कैसी श्रद्धा है, सारा शाक एक वार मे ही वहरा दिया। मुनि उस शाक को लेकर अपने परम गुरु धर्मघोष आचार्य के पास आए और अपनी भिक्षा उन्हे दिखलाई। उस शाक को देखकर गुरु ने कहा, यह तो कडवा तुम्वा है। यदि इसे खालोगे तो तत्काल मृत्यु हो जाएगी। यह भक्ष्य नही है, इसलिए एकान्त निर्वद्य स्थान मे जाकर इसे परठ दो।

शाक का परिष्ठापन करने के लिए मुनि एकान्त स्थान मे आए। शाक की एक दो वूद भूमि पर पडी कि वहुत सारी चीटिया वहा आ गई और देखते-देखते उस विषोपम शाक से सव मर गई। यह देख कर मुनि ने सोचा, एक दो वूद मात्र से इतनी चीटिया मर गई, यदि सारा शाक परठ दूगा तो न जाने कितनी चीटियो की हिंसा होगी? इस प्रकार अपने द्वारा होने वाली हिंसा को टालने के लिए मुनि ने चीटियो की अनुकम्पा की और वह सारा शाक ज्यो का त्यो अपने आप खागए। उस विषोपम शाक के भक्षण मे शरीर मे प्रवल वेदना हुई तो मुनि ने आमरण अनशन (सथारा) कर लिया। समाधिपूर्वक अपनी मनुष्य भव सम्वन्धी आयु शेष कर वे सर्वार्थसिद्ध अनुत्तर विमान मे देवरूप से उत्पन्न हुए। उस देव योनि से महाविदेह क्षेत्र मे मनुष्यरूप मे उत्पन्न होगे और वहा सयम ग्रहण कर मोक्ष-पद प्राप्त करेंगे।

—ज्ञाताधर्मकथाग सूत्र अ० १६ के आधार से

: ४ :

भगवान् श्री महावीर और गोशालक

भगवान् श्री महावीर ने प्रव्रज्या ग्रहण की। प्रथम वर्ष मे वे पाक्षिक तप करते रहे और अस्थि ग्राम मे उन्होने अपना वर्षाकाल विताया। दूसरे वर्ष मे वे मासिक तप करने लगे अर्थात् एक मास की तपस्या और एक दिन भोजन। राजगृह मे नालन्दा की तन्तुवायशाला मे उन्होने अपना दूसरा वर्षावास विताया। उसी शाला के एक कक्ष मे गोशालक रह रहा था। भगवान् श्री महावीर ने अपने प्रथम मासिक तप का पारणा विजय गृहपति के घर पर किया। स्वर्णादि पाच द्रव्यो की वृष्टि हुई। इस तपो-महिमा को देखकर गोशालक भगवान् के पास आया और बोला—हे प्रभो ! आप मेरे धर्माचार्य है, मैं आपका धर्मान्तेवासी। उस समय भगवान् ने उसके वचन को जरा भी आदर नही दिया, मन मे भी उसे अच्छा न समझा और वे मौन रहे। दूसरे मासिक तप का पारणा आनन्द गृहपति के घर किया। उसी प्रकार तप -प्रभाव प्रकट हुआ। गोशालक ने फिर उसी प्रकार अनुरोध किया, पर भगवान् ने नही माना। इसी प्रकार तीसरे मासिक पारणे पर हुआ। चौथे मास का पारणा पोल्लाक सन्निवेश मे बहुल ब्राह्मण के घर हुआ और उसी प्रकार तप -प्रभाव प्रकट हुआ। इस बार गोशालक ने अपने उपकरण विशेष किसी ब्राह्मण को दे दिए और डाढी मूछ मुडाकर भगवान् के पास आया। तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार करते हुए बोला—आप मेरे धर्माचार्य हैं, मैं आपका धर्मान्तेवासी हू। भगवान् ने गोशालक के इस निवेदन को स्वीकार किया। तदनन्तर छ वर्षो तक भगवान् ने गोशालक के साथ विहार किया। लाभ-अलाभ, सुख-दु ख सहा। एक बार मिगसर के महीने मे भगवान् सिद्धार्थ ग्राम से कूर्म ग्राम की ओर जा रहे थे। एक तिल के पौधे को देख कर गोशालक ने भगवान् से प्रश्न किया—यह तिल का पौधा फलवान होगा या नही ? इस पौधे पर जो सात फूल लगे हैं, उनके सात जीव मर कर कहा उत्पन्न होगे ? भगवान् ने कहा—यह पौधा फलवान होगा और सात तिल पुष्पो के सात जीव इसी तिल पादप की एक फली मे सात तिल होगे। गोशालक ने भगवान् के इस कथन को श्रद्धापूर्वक स्वीकार नहीं किया, प्रत्युत उन्हे असत्य प्रमाणित करने के लिए पीछे रह कर उस तिल वृक्ष के पास आया और समूल उखाड कर एक ओर फेंक दिया। सयोगवश उसी समय थोडी वृष्टि हुई और वह तिल वृक्ष पुन जड़ जमा कर खडा हो गया। वे सात पुष्प भी

कथित प्रकार से तिल-फली मे सात तिल हो गए।

भगवान् कूर्म ग्राम आए। उस ग्राम के वाहर एक वैश्यायण नामक तपस्वी रहता था। वह तीन-तीन दिन की तपस्या करता और सूर्य के सम्मुख आतप लेता। सूर्य के ताप से उसके सिर से जूए भूमि पर गिर रही थी। उनकी दया के लिए वह उन्हे उठा-उठा कर पुन अपने वालो मे रख रहा था। गोशालक भगवान् के पास से उठ कर उस तपस्वी के निकट आया और वोला—तू कोई तपस्वी है या जूओ का शय्यातर (स्थान देने वाला)। तपस्वी शान्त रहा। गोशालक इसी वात को पुन-पुन दोहराता रहा। तपस्वी क्रोध मे आ गया। वह अपनी आतापना भूमि से सात-आठ पग पीछे गया और जोश मे आकर उसने अपनी तपोलब्ध तेजोलब्धि गोशालक को भस्म करने के लिए छोड दी। भगवान् श्री महावीर ने कुछ ही दूर बैठे यह सब देखा। गोशालक पर अनुकम्पा आई। उन्होने उस वैश्यायण तपस्वी की तेजोलब्धि का प्रतिघात करने के लिए अपनी शीतल तेजोलेश्या का प्रयोग कर डाला। उस प्रयोग से उस तपस्वी का प्रयोग विफल हो गया। गोशालक को सुरक्षित खडा देख कर तापस सव रहस्य समझ गया। उसने अपनी तेजोलब्धि का प्रत्यावर्तन किया और कुछ क्षणो तक वोलता रहा—भगवन्! मैंने आपको जाना, मैंने आपको जाना। गोशालक इस समग्र घटना चक्र से अवगत रहा। वह भगवान् के पास आकर बोला—यह जूओ का शय्यातर आपके प्रति क्या कह रहा है? भगवान् ने सारा वृत्तान्त उसे वताया। गोशालक भयभीत हुआ और मन मे खुश भी हुआ कि मैं मरते-मरते बच गया। गोशालक ने भगवान् से पूछा—भगवन्! यह तेजोलेश्या कैसे उत्पन्न होती है? भगवान् वोले—कोई व्यक्ति छ महीने तक बेले-बेले तप करे। पारणे मे एक चूलू उष्ण जल व एक मुट्ठी उडद ग्रहण करे। प्रतिदिन ऊची वाहे कर सूर्य के सम्मुख आतापना ले। उसे छ मास के अन्त मे यह तेजोलब्धि प्राप्त होती है। गोशालक ने भगवान् के इस कथन को हृदयगम कर लिया।

एक दिन पुन भगवान् उस कूर्म ग्राम से सिद्धार्थ ग्राम की ओर जा रहे थे। गोशालक भी साथ था। वह स्थान आया, जहाँ गोशालक ने तिल वृक्ष को उखाड डाला था। गोशालक ने कहा—भगवन्! तिल वृक्ष के सम्वन्ध से आपने जो कुछ मुझे कहा था, वह सव मिथ्या निकला। न वह तिल वृक्ष निष्पन्न हुआ है और न वे सात पुष्प-जीव मर कर सात तिल हुए है। भगवान् ने कहा—गोशालक! तू ने मेरे कथन को असत्य करने के लिए उस तिल वृक्ष को उखाड डाला था, पर आकस्मिक वृष्टि-योग से वह पुन मिट्टी मे रुप गया और वे सात पुष्प जीव भी उस तिल वृक्ष की फली मे सात तिल हो गए हैं। मेरा कथन किंचित् भी असत्य नही

है। गोशालक उस तिल वृक्ष के पास गया और वह फली तोडी तो उसमे सात ही तिल निकले। गोशालक ने सोचा—जिस प्रकार वनस्पति के जीव मर कर पुन उसी शरीर मे उत्पन्न हो जाते हैं, इसी प्रकार सभी जीव मर कर उसी शरीर मे उत्पन्न हो सकते हैं। उस प्रकार गोशालक ने अपना 'पारिवृत्य परिहार' का एक नया सिद्धान्त बना लिया। गोशालक का ध्यान तेजोलब्धि को प्राप्त करने मे लगा था। वह वहा से भगवान् से पृथक् हो गया।

यथाविधि छ महीनो की तपस्या कर उसने तेजोलब्धि प्राप्त कर ली। लोगो को भविष्य आदि कहने लगा। पार्श्वनाथ भगवान् के कुछ शिथिलाचारी साधु उसके शिष्य हो गए। अनुयायियो की सख्या बढने लगी। स्वय की प्रतिष्ठा बढाने के लिए वह भगवान् श्री महावीर की निन्दा करता और अपने-आपको तीर्थंकर कहता।

श्रावस्ती नगरी मे दोनो का एक ही समय मे आगमन हुआ। कुछ लोग महवीर को तीर्थंकर कहते तो कुछ लोग मायावी गोशालक को। गौतम स्वामी ने परिषद् के बीच गोशालक के विगत जीवन के विषय मे भगवान् श्री महावीर से पूछा। भगवान् महावीर ने कहा—यह डाकोत का पुत्र है। गोशाला मे इसका जन्म हुआ, इसलिए इसका नाम गोशालक रखा गया। इस प्रकार भगवान् ने गोशालक का अपना शिष्य होने से लेकर अब तक का सारा वर्णन परिषद् मे सुनाया। नगर मे चर्चा चल पडी। गोशालक को यह सब सुन कर बहुत ही क्रोध आया और भगवान् के पास आकर बोला—काश्यप! जिस मखली पुत्त को तुम अपना शिष्य बतला रहे हो, वह मैं नही हूँ। वह तो मर कर कभी देवलोक मे चला गया। उस गोशालक के शरीर मे मेरा तो केवल पारिवृत्य हुआ है। तुम मेरे लिए तथा प्रकार का मिथ्या प्रचार कर रहे हो, यह ठीक नही है।

गोशालक जब इस प्रकार प्रलाप करने लगा, तब भगवान् के सुशिष्य सर्वानुभूति मुनि, गोशालक के पास आए और बोले—हे गोशालक भगवान् ने तुझे प्रव्रज्या दी, शिष्य रूप मे मुण्डित किया, तुझे तेजोलेश्या बताई, तुझे पढाकर बहुश्रुत किया, तू भगवान् के साथ ही इस प्रकार की अनार्यता बरत रहा है। तेरे लिए यह सुन्दर नही है। तू वही गोशालक है, इसमे हमे जरा भी सन्देह नही है। यह सुन कर गोशालक और अधिक क्रोधोद्धत हो गया और अपनी तेजोलब्धि को फोड कर उसने सर्वानुभूति मुनि को भस्म कर डाला। यह सब करके भी उसने सन्तोष नही लिया। पुन वह उसी प्रकार कटु प्रलाप करने लगा। सुनक्षत्र नामक मुनि ने सर्वानुभूति मुनि की तरह फिर उसे टोका। गोशालक ने उन्हें भी भस्म कर डाला। तीसरी बार गोशालक और

अधिक भगवान् के प्रति जहर उगलने लगा। भगवान् ने कहा—हे गोशालक ! मैंने तुझे प्रव्रज्या दी, यावत् बहुश्रुत किया। गोशालक ने भगवान् के प्रति भी अपनी तेजोलब्धि का प्रयोग किया। यह तेजोलेश्या भगवान् के शरीर से टकराई, शरीर परितप्त हुआ, पर वह शरीर मे प्रवेश नही पा सकी। वह तेजोलेश्या वापिस होकर स्वय गोशालक के शरीर मे लग गई। शरीर मे भीषण दाह लगी और वह जोर-जोर से बोलने लगा—यह काश्यप छः महीने के अन्दर छद्मस्थ स्थिति मे ही मर जाएगा। भगवान् महावीर ने कहा—मैं तो अभी सोलह वर्ष तक गन्ध हस्ती की तरह विहार करूगा। तुझने जो तेजोलेश्या मेरे पर छोडी थी, वह तेरे ही शरीर मे प्रवेश कर गई है। इससे तू सातवें दिन छद्मस्थ स्थिति मे ही काल-धर्म को प्राप्त होगा। नगर मे चर्चा हुई कि दोनो जिन परस्पर विवाद कर रहे हैं और एक दूसरे को अभिशाप दे रहे हैं। गोशालक अपने स्थान पर चला गया। मन मे तो वह समझता ही था कि महावीर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर हैं। उन्होने मेरे लिए जो कहा है, वह होकर रहेगा। उसने अपने शिष्यो को एकत्रित कर सारी वस्तुस्थिति सच-सच बता दी और अपने गुरुतर पाप के लिए अपने आपकी बहुत ही भर्त्सना की। आखिर भगवान् महावीर स्वामी के कथनानुसार वह सातवे दिन काल-धर्म को प्राप्त हुआ। महावीर स्वामी को छ महीनो तक उस तेजोलेश्या से निष्पन्न शारीरिक परिताप भोगना पडा।

गोतम स्वामी ने भगवान् से पूछा—आपका अन्तेवासी कुशिष्य गोशालक मर कर कहा गया है ? भगवान् ने कहा—मेरा कुशिष्य अन्तेवासी गोशालक यहा से मर कर बारहवें देवलोक मे उत्पन्न हुआ है। क्योकि मरते समय उसने अपनी बहुत ही आत्म-भर्त्सना की है। परन्तु उससे पूर्व जो उसने गुरुतर पाप किये हैं, उनके फल उसके बाद नाना योनियो मे भोगता रहेगा।

—भगवती सूत्र शतक १५ के आधार से

: ५ :

जिनरक्ष और रयणादेवी

चम्पानगरी मे माकन्दी सार्थवाह् के जिनपाल और जिनरक्ष दो पुत्र थे। उन दोनो भाइयो ने ग्यारह् वार लवण समुद्र की यात्रा की थी और अपने व्यापार से वहुत सारा धन एकत्रित किया था। वारहवी वार वे फिर लवण समुद्र की यात्रा के लिए प्रस्तुत हुए। माता-पिता ने निपेध किया, पर उन्होने वह नही माना और यात्रा मे चल पडे। जव जहाज समुद्र के वीच पहुँचा तो वडे जोर का तूफान आया। समुद्र की उत्तुग लहरो से टकरा कर जहाज नप्ट-भ्रप्ट हो गया। टूटा हुआ एक काष्ठ-खण्ड डूबते हुए दोनो भाइयो के हाथ लगा। उस पर वैठकर दोनो भाई सहज गति से तैरते हुए रत्नद्वीप नामक स्थल पर जा पहुचे। उस द्वीप की स्वामिनी का नाम रयणादेवी था। उसने उन दोनो को देखा और उन्हे अपने आश्रय में ले लिया। तव से वे दोनो भाई उस कामातुर देवी के साथ भोग-विलास करते हुए वही रहने लगे।

एक दिन लवण समुद्र के अधिष्ठायक सुस्थित नामक देव की आज्ञा से वह रयणादेवी लवण समुद्र की सफाई करने के लिए गई। जाते समय उन दोनो भाइयो को उसने कहा, दक्षिण दिशा के वन खण्ड को छोड कर और किसी भी दिशा के वन खण्ड मे भ्रमण कर सकते हो। पीछे से दोनो भाइयो ने इच्छानुसार भ्रमण किया। सहसा मन मे आया, दक्षिण दिशा के लिए देवी ने निपेध क्यो किया? वहा अवश्य कोई रहस्य है। हमे चलकर देखना चाहिए। वहा जाकर उन्होंने देखा, सैकडों मनुष्यो की हड्डियो के ढेर लगे हुए हैं और एक जीवित पुरुप शूली में पिरोया पडा है। यह स्थिति देखकर वे वहुत घवराए और उस मरणासन्न पुरुप से कुछ जानना चाहा। उसने कहा—जहाज के टूट जाने से मैं यहा आ पहुँचा था। मैं काकन्दी नगरी मे रहने वाला घोडो का व्यापारी हू। वहुत दिनो तक यह देवी मेरे साथ काम-भोग भोगती रही। मेरे द्वारा एक छोटा-सा अपराध हो जाने पर उसने मुझे यह दण्ड दिया है। तुम दोनो की भी किसी दिन यही स्थिति होने वाली है। पहले भी इसने कितने लोगो को मारा है, ये हड्डियो के ढेर स्वय वता रहे हैं। यह सुनकर दोनो भाई वहुत भयभीत हुए और वहाँ से भाग निकलने का उपाय उससे पूछने लगे। उसने वताया, पूर्व दिशा के वन खण्ड मे शैलक नामक एक यक्ष रहता है। उसकी आराधना करने से वह तुम्हे इस देवी के प्रपच से

छुडा सकता है। दोनो भाई पूर्व दिशा के वन खण्ड मे आए और उन्होने शैलक यक्ष की आराधना की। प्रसन्न मुद्रा मे यक्ष प्रकट हुआ और कहने लगा, मैं तुम्हे तुम्हारे इच्छित स्थान पर पहुचा दूगा, किन्तु वह देवी मार्ग ही मे आकर तुम्हारे से अनुनय-विनय करेगी और अपने हाव-भाव से तुम्हे मोहित करना चाहेगी। यदि तुम मन से भी उसकी ओर विचलित हुए तो मैं तुम्हे बीच ही मे छोड दूगा। दोनो भाइयो ने कहा—हम ऐसा नही होने देगे। किसी भी प्रकार आप हमे ले चलिए। यक्ष ने घोडे का रूप बनाया और दोनो भाइयो को अपनी पीठ पर बैठ जाने के लिए कहा। दोनो भाई पीठ पर बैठे और घोडा पवन वेग से आकाश मार्ग मे उडने लगा। देवी अपने स्थान पर लौटी और दोनो भाइयो को वहा नही देखा तो क्षोभ हुआ। उसने अपने देव-सम्बन्धी ज्ञान से तत्काल यह पता लगा लिया कि शैलक यक्ष की पीठ पर बैठ कर दोनो भाई आकाश मार्ग से जा रहे है। वह तत्काल वहा पहुची और उन्हे मोहित करने के लिए अनेक हाव-भाव दिखलाने लगी, अपने विरह की असह्य वेदना अभिव्यक्त करने लगी। जिनपाल दृढ रहा, विचलित नही हुआ। जिनरक्ष को उसकी अभ्यर्थना पर अनुकम्पा आई और वह रागपूर्वक उस की ओर देखने लगा। यक्ष ने उसे विचलित हुआ समझ कर पीठ से नीचे गिरा दिया। नीचे गिरते हुए जिनरक्ष को देवी ने खड्ग मे पिरो लिया और उसके टुकडे-टुकडे कर दिए। जिनपाल सकुशल चम्पानगरी मे पहुचा। अपने माता-पिता से मिला। कुछ समय तक सासारिक सुख भोग कर उसने दीक्षा ग्रहण की। आयु शेष कर सौधर्म देवलोक मे पहुचा। वहा से महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

—ज्ञाताधर्मकथाग सूत्र अ० ९ के आधार से

: ६ :

हरिणेगमेषी देव और सुलसा

भद्दिलपुर नाम का नगर था। वहा नाग नामक एक गृहपति रहता था। उसकी पत्नी सुलसा थी। किसी समय एक ज्योतिषी ने सुलसा को वताया कि तू मृत वन्ध्या है अर्थात् तुम्हारे पुत्र तो होगे, किन्तु वे मृत स्थिति मे ही पैदा होगें। यह सुनकर सुलसा वहुत दु खित हुई। उसने हरिणेगमेषी देव की आराधना की। देव उपस्थित हुआ। सुलसा ने अपने दु ख की वात देव से कही। देव ने सुलसा पर अनुकम्पा करते हुए कहा—मृत को जीवित करना किसी के वस की वात नही है। अधिक-से-अधिक मैं यह कर सकता हू कि तुम्हारे मृत पुत्रो को और किसी प्रसूता के यहा रख दू और उसके स्वस्थ वालको को तत्काल तुम्हारे यहा लाकर रख दू। सुलसा ने देव की वात स्वीकार कर ली।

देव ने अपने ज्ञान-वल से जानना चाहा कि जव-जव सुलसा के पुत्र पैदा होगें, तव-तव और किस स्त्री के पुत्र होने वाले हैं। उसे पता चला महाराजा वसुदेव की रानी देवकी के एक-एक कर छ पुत्र होने वाले हैं और राजा कस एक-एक कर उन सव को मारने वाला है। देवता को यही सुन्दर उपाय सूझा कि देवकी के पुत्रो को सुलसा के यहा रख दिया जाए और सुलसा के पुत्रो को देवकी के यहा। देव ने वैसा ही किया। महारानी देवकी ने समझा, मेरे छवो पुत्र कस द्वारा मार दिए गए है, पर वे चरम शरीरी छवो पुत्र सुलसा के यहा सकुशल जीवित रहे। उन छवो पुत्रो ने वाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की और किसी समय जव नेमिनाथ भगवान् द्वारिका मे आए तो सहज सयोग से दो-दो कर वे सभी देवकी के यहा भिक्षा के लिए आए। देवकी को उन्हे देखने से सहज स्नेह उत्पन्न हुआ। नेमिनाथ भगवान् के पास जाकर जव उसने उसका कारण पूछा, तव नेमिनाथ भगवान् ने वताया कि ये छवो तेरे ही पुत्र हैं।

—अन्तगडदसाङ्ग सूत्र अ० १ के आधार से

: ७ :

हरीकेशी मुनि

एक चाण्डाल कुल मे बालक का जन्म हुआ। जिसका नाम माता-पिता ने हरिकेशी रखा। वह अत्यन्त कुरूप था। वडा हुआ तो अत्यन्त कटुभाषी और हो गया। कुरूपता और कटुभाषिता इन दो दोषो के कारण प्रत्येक आदमी उससे घृणा करता। यहा तक कि कटुम्ब के लोग भी उसे अपने से दूर बैठने के लिए कहते। एक दिन जाति-भोज का प्रसग आया। सब लोग आमोद-प्रमोद मे एक साथ बैठ कर खा रहे थे। हरिकेशी को उस मधुर गोष्ठी से दूर कर दिया गया। उसका अपमानित हृदय कुछ सोच ही रहा था, उसी समय उस मधुर गोष्ठी के पास एक विषैला सर्प निकल आया। चाण्डाल लोग देखते ही उस पर टूट पडे और तत्क्षण उसे मार डाला। कुछ ही समय पश्चात् एक निर्विष दुमुहा जन्तु निकला। चाण्डालो ने उसे मारा नही, प्रत्युत उसकी पूजा की। हरिकेशी को इस घटना ने आश्चर्य मे डाल दिया। वह सोचने लगा, यह क्या ? एक की तर्जना और एक अर्चना। तत्काल उसके ध्यान मे आया, सविषता और निर्विषता ही इसका एकमात्र कारण है। अपनी आत्मा के बारे मे भी उसे यही सूझा। दूसरे लोगो का अनादर नही होता और मेरा होता है, इसका भी एकमात्र हेतु यही है कि मेरी वाणी मे जहर भरा है। इस आत्म-चिन्ता मे उसे जाति-स्मरण हो आया। प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और पूर्व सचित कर्मो के साथ लोहा लेने के लिए घोर तप करने लगे। उनके तप-प्रभाव से एक यक्ष भी उनकी सेवा मे रहने लगा।

एक दिन मुनि भिक्षा के लिए पर्यटन करते हुए एक यज्ञ-मण्डप मे आ पहुचे। वहा ब्राह्मणो ने मुनि के रगरूप और चर्या की भर्त्सना की। यक्ष से यह सब न देखा गया। उसने मुनि के शरीर मे प्रवेश कर उनसे वाद-विवाद करना प्रारम्भ कर दिया। फिर भी ब्राह्मण भिक्षा देने के लिए तैयार नही हुए, प्रत्युत तत्रस्थित विप्र-पुत्र बेंत, दण्डे और कोडे से मुनि को पीटने लगे। मुनि के अनुकम्पक यक्ष ने अपने देव-बल से उन विप्र-पुत्रो को औधे मुख धरती पर गिरा दिया और सबके मुह से रुधिर बहने लगा। अन्त मे सभी लोगो ने आकर मुनि से क्षमा-याचना की, तो मुनि ने कहा—मेरा तुम लोगो के प्रति जरा भी रोष नही है। यह जो कुछ था, वह यक्षविहित था। उसने मेरी अनुकम्पावश यह सब किया।

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १२ के आधार से

: ८ :

धारिणी रानी की गर्भानुकम्पा

धारिणी रानी अपने गर्भ की अनुकम्पा के लिए यत्नापूर्वक बैठती थी, यत्ना-पूर्वक खडी होती थी, यत्ना के साथ सोती थी और वह अपने गर्भ की अनुकम्पा के लिए ऐसा आहार करती जो न अति तीक्ष्ण, न अति कटुक, न अति कषैला, न अति खट्टा और न अति मीठा होता। देश काल के अनुसार उस गर्भ के लिए हित-कारक, परिमित व पथ्य आहार करती थी। अति चिन्ता, अति शोक, अति दीनता, अति मोह, अति भय तथा अति त्रास अपने-आपको नहीं होने देती। गन्धमाल्य व अलकारो से युक्त होकर सुखपूर्वक अपने गर्भ का वहन करती थी।

—ज्ञाताधर्मकथाग सूत्र अ० १ के आधार से

: ६ :

रानी धारिणी

श्रेणिक राजा की एक रानी का नाम धारिणी था। एक बार जब वह गर्भवती हुई तो उसे अकाल मेघ का दोहद उत्पन्न हुआ। दोहद की पूर्ति के अभाव मे वह दिन-प्रतिदिन क्षीण होने लगी। राजा बहुत चिन्तित हुआ। उसने यह बात अपने पुत्र अभयकुमार से कही। अभयकुमार ने कहा—मैं दोहद-पूर्ति का उपक्रम करूगा। वह अपने पूर्व भव के मित्र देव की आराधना मे बैठा। तीन दिनो के उपवास की सफल आराधना से देव उपस्थित हुआ। अभयकुमार ने उसके सामने अपनी समस्या उपस्थित की। उस देव ने अपनी वैक्रयिक शक्ति से तत्काल मेघ बरसाया। रानी धारिणी राजा के साथ हाथी पर बैठ कर राजगृह के निकटस्थ वैभार पर्वत की अपत्यकाओ मे आनन्दपूर्वक विहार करने लगी। इस प्रकार देवता ने अपने मित्र अभयकुमार पर अनुकम्पा की।

—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र अ० १ के आधार से

: १० :

श्रीकृष्ण द्वारा वृद्ध की अनुकम्पा

बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि प्रभु द्वारिका नगरी के बाहर उद्यान मे पधारे। सवाद पाकर श्रीकृष्ण वासुदेव अपने विस्तृत परिकर के साथ वन्दन करने के लिए चले। दूर से उन्होंने देखा, एक वृद्ध पुरुष ईंटो के ढेर मे से एक-एक ईंट उठा कर अपने घर मे रख रहा है। श्रीकृष्ण को वृद्ध पर अनुकम्पा आई। उन्होने राह चलते ही उस ढेर मे एक ईंट उठा कर उस वृद्ध के घर रख दी। पीछे चलने वाले लोगो ने भी श्रीकृष्ण का अनुकरण किया। एक-एक ईंट उठा कर उन्होंने भी उसके घर रख दी। वृद्ध का श्रम-साध्य कार्य थोड़े मे निपट गया।

—अन्तगडदसाङ्ग सूत्र अ० ३ के आधार से

: ११ :

गजसुकुमाल

गजसुकुमाल श्रीकृष्ण के छोटे भाई थे। वे बहुत सुकुमार थे। एक बार २२वें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि प्रभु द्वारिका नगरी मे आए। श्रीकृष्ण के साथ गजसुकुमाल भी वन्दन करने के लिए आये और वहा भगवान् नेमिनाथ की देशना सुनी। चरम शरीरी होने के कारण गजसुकुमाल को तत्क्षण वैराग्य उत्पन्न हुआ और इस नश्वर ससार के प्रति अत्यन्त ग्लानि हुई। माता देवकी और ज्येष्ठ बन्धु श्री कृष्ण ने उन्हे दीक्षा न लेने के लिए बहुत कुछ समझाया,पर वे अपने सकल्प मे दृढ रहे। अन्ततोगत्वा माता और बन्धु को उनके दीक्षा-ग्रहण मे सहमत हो जाना पडा। गजसुकुमाल दीक्षित हो गए। भगवान् नेमिनाथ की आज्ञा लेकर दीक्षा के प्रथम दिन ही उन्होने भिक्षु की बारहवी पडिमा (प्रतिमा) अगीकार की। रात को श्मशान-भूमि मे जाकर ध्यानस्थ मुद्रा मे बैठ गए।

सौमिल नामक ब्राह्मण की एक सुरूपा कन्या को गजसुकुमाल के साथ ब्याह देने के लिए श्रीकृष्ण ने सकल्प कर रखा था। जब उस सौमिल को यह पता चला कि गजसुकुमाल ने मुनिव्रत अगीकार कर लिया है तो वह अत्यन्त उद्विग्न हुआ। रात को वह उसी श्मशान-भूमि मे आया और गजसुकुमाल को ध्यानस्थ मुद्रा मे देखकर और भी क्रोधित हुआ। उस क्रोध विह्वल सौमिल ने ध्यानस्थ मुनि के सिर पर गीली मिट्टी की पाल लगा दी और बीच मे श्मशान-भूमि के जल-जलते अगारे लाकर रख दिए। गजसुकुमाल के धैर्य और अहिंसा की वह अग्नि-परीक्षा थी। गजसुकुमाल अडोल मेरु की तरह स्थिर रहे। उन्होने अपने आप सब कुछ सहा, पर अग्निकायिक जीवो के प्रति और उस सौमिल के प्रति पूर्ण अनुकम्पा का भाव दिखाया। उसी उपसर्ग मे वे कैवल्य प्राप्त कर मोक्षगामी हुए।

—अन्तगडदसाङ्ग सूत्र अ० ८ के आधार से

: १२ :

नमि राजर्षि

मिथिला नगरी मे नमि नामक राजा थे। एक बार उनके शरीर मे दाह-ज्वर का रोग उत्पन्न हुआ। असह्य वेदना से राजा व्याकुल हो उठे। उन्हे कुछ नही सुहाता। यहा तक कि रानिया उनके शरीर पर विलेपन करने के लिए चन्दन घिस रही थी और उनके कंकणो से जो शब्द हो रहा था, वह भी राजा के लिए असह्य हो गया। राजा ने कहा—शब्द बन्ध होना चाहिए। रानियो को यह सूचना दी गई तो उन्होने एक-एक ककण अपने हाथो मे रखा। शेप उतार कर एक ओर रख दिए। शब्द बन्ध हो गया। कुछ ही समय पश्चात् राजा ने कहा—शब्द बन्ध कैसे हो गया ? क्या रानियों ने चन्दन घिसना बन्ध कर दिया ? उत्तर मिला—किसी भी रानी के हाथ मे दो ककण नही हैं, एक-एक ही ककण हरएक के हाथ मे है। इसलिए शब्द नही होता। नमि राजा को इस एक और अनेक की घटना से प्रतिबोध मिला। एकाकीपन मे शान्ति है। अनेकता ही सघर्षो का कारण है। रोग शान्त हुआ। नमि राजा ने प्रत्येक बुद्ध होकर प्रव्रज्या ग्रहण की। एकाकी विहार करने लगे। उन नमि राजर्षि के निर्मोह-भाव की परीक्षा करने के लिए ब्राह्मण के रूप मे इन्द्र आया। उसने अपनी देव-शक्ति से दिखलाया कि मिथिला नगरी साय-साय कर जल रही है। वह राजर्षि से बोला—मुने ! आपकी यह मिथिला कुछ ही क्षणो मे भस्मसात् हो जाने वाली है। आप इसकी शान्ति का कोई उपक्रम करे। आपकी आखो मे अमृत है, आप एक बार झाक भी लेगे तो मिथिला-दहन शान्त हो जाएगा। देखिए, आपकी रानिया, पुत्र-पौत्रादि पारिवारिक, सभासद् स्त्री, बाल, वृद्ध आदि नागरिक, हाथी, घोडे, गाय आदि पशु किस प्रकार रोदन कर रहे है। आप उन सब पर करुणा कर एक बार उनकी ओर झाके। नमि राजर्षि ने उत्तर दिया—

> सुह वसामो जीवामो जसि मे नत्थि किंचण।
> मिहिलाया डज्झमाणाया न मे डज्झइ किंचण॥

मैं सुख मे बस रहा हू, सुख मे जी रहा हू। मिथिला के जलने मे मेरा अपना कुछ नही जल रहा है। इस प्रकार अनेक बार कहने पर भी नमि राजर्षि ने मिथिला की ओर नही झाका और अपनी निर्मोह स्थिति मे लीन रहे।

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ९ के आधार से

: १३ :

संगम और महावीर

एक दिन इन्द्र-सभा मे छद्मस्थ तीर्थंकर भगवान् श्री महावीर की चर्चा चली। सभी देवो ने और विशेषकर इन्द्र ने उनकी कष्ट-सहिष्णुता की भूरि-भूरि प्रशसा की। सगम नामक एक मिथ्यादृष्टि देव को यह सब नही रुचा । वह भगवान् महावीर को पीडित करने के लिए उनके पीछे पड गया। कभी-कभी वह ग्राम मे चोरी कर लेता और ध्यानस्थ भगवान् महावीर के पास आकर वह चुराई हुई चीज रख देता। लोग जब पूछते तू ने चोरी क्यो की, तो वह उत्तर देता—मेरे इस गुरु ने मुझे कहा था। अज्ञानी लोग भगवान् श्री महावीर को यातना देते। छ महीने तक यह क्रम चलता रहा। कभी कुछ कभी कुछ, पर महावीर अपनी साधना मे अटल रहे। उन्होने जरा भी रोष उस सगम देवता पर प्रगट नही किया। एक दिन तो उसी सगम देव ने केवल एक रात मे भगवान् श्री महावीर को बीस मारणान्तिक कष्ट दिए। फिर भी भगवान् अपनी शान्ति और क्षमता मे ज्यो के त्यो अडोल रहे। कहा जाता है, अन्त मे इन्द्र ने स्वय आकर अपने वज्र से उस देवता को प्रताडित किया। अपने देवलोक से बाहर निकाला। उसने मेरु पर्वत पर जाकर सदा के लिए वास किया।

—कल्पसूत्र के आधार से

: १४ :

चूलनीपिता

काशी नगरी मे चूलनीपिता नामक गृहपति रहता था। उसके पास चौवीस करोड स्वर्ण मुद्राए थी, जिनमे आठ करोड सुरक्षित आगार मे, आठ करोड व्यापार मे और आठ करोड भोगोपभोग मे थी। वह अस्सी हजार गायो का स्वामी था। भगवान् श्री महावीर के पास धर्म-श्रवण कर वह धर्मोपासक वना। एक दिन वह जव पोषधशाला मे पौषध-व्रत कर रहा था, एक देवता आया और उसे पौपध-व्रत छोड देने के लिए कहने लगा। चूलनीपिता के न मानने पर देवता ने उसके वडे लडके को सामने लाकर मारा और उसके शरीर के मास खण्डो को उसे देखते-देखते तेल के कडाहे मे तला। चूलनीपिता स्थिर रहा। देवता ने दूसरे पुत्र की भी वही गति की और तीसरे की भी। चूलनीपिता को अडोल देखकर देवता वोला—हे चूलनीपिता ! यदि तू अव भी व्रत का त्याग नही करता तो अव मैं तेरे पुत्रो की तरह तेरी माता को भी, जिसे तू देव और गुरु के वरावर मानता है, तेरे सामने लाकर इसी प्रकार मार डालूगा। माता की अनुकम्पा से द्रवित होकर चूलनीपिता उठ खडा हुआ। उस देव को पकडने के लिए उसके पीछे दौडा और जोर-जोर से चिल्लाया। देव अन्तर्धान हो गया और उसकी वाहो मे एक खम्वा आ गया। कोलाहल सुनकर उसकी मा भद्रा उसके पास आई और वोली—हे पुत्र ! तू जोर-जोर से क्यो चिल्ला रहा है ? चूलनीपिता ने सारी घटना कह सुनाई। उसकी माता ने कहा—पुत्र ! यह सव देव माया थी। न ही तेरे पुत्र मारे गए और न मुझे ही कोई मारने वाला था। तू व्यर्थ ही मेरी अनुकम्पा के लिए उठा। तेरा पौपध-व्रत भग हुआ है। तू इसका प्रायश्चित्त कर। तदनुसार चूलनीपिता व्रत-भग की आलोचना कर शुद्ध हुआ। वहुत वर्षो तक श्रावक-पर्याय का पालन कर वह देव गति मे उत्पन्न हुआ।

—उपासकदसाग सूत्र अ० ३ के आधार से

: १५ :

सुरादेव

वाराणसी मे सुरादेव नामक गृहपति रहता था। उसके पास अठारह करोड स्वर्ण मुद्राए थी। साठ हजार गाये थी। भगवान् महावीर का धर्मोपदेश सुनकर श्रमणोपासक बना। एक दिन जबकि वह पौषध-व्रत मे था, एक दुष्ट देव ने पौषध-व्रत छोड देने को कहा। जब उसने यह न माना, देवता ने उसके बडे लडके का उसके सामने बध किया और उसने सुरादेव के शरीर मे सोलह भयकर रोग उत्पन्न करने का डर दिखाया। सुरादेव विचलित हो गया और उस देवता को पकडने के लिए दौडा। देवता आकाश मे अन्तर्धान हो गया और उसके हाथ मे पौषधशाला का खम्भा आगया। उसके चिल्लाने की आवाज सुनकर उसकी पत्नी धन्या उसके पास आई और चिल्लाने का कारण पूछने लगी। उसने सारा हाल कह सुनाया। धन्या ने कहा—यह सब देव माया थी। तुम्हारा पौषध-भग हो चुका है। इसका प्रायश्चित्त करो। तदनुसार सुरादेव ने अपने भग्न-व्रत की आलोचना की और कालान्तर से मृत्यु धर्म को प्राप्त हो स्वर्गवासी हुआ।

—उपासकदसाग सूत्र अ० ४ के आधार से

: १६ :

चुल्लशतक

आलम्बिका नगरी मे चुल्लशतक नामक एक गृहपति रहता था। उसके पास अठारह करोड स्वर्ण मुद्राए और साठ हजार गाये थी। भगवान् श्री महावीर से धर्मोपदेश सुनकर वह श्रमणोपासक बन गया। पौषध-व्रत मे देवता ने आकर कहा—पौषध-व्रत छोड दो, नही तो तेरी सारी सम्पत्ति इधर-उधर फेंक कर मैं ध्वस्त कर देता हू। वह देव को पकडने के लिए दौडा। देव अदृश्य हो गया और उसके हाथ मे खम्भा रह गया। चिल्लाने की आवाज सुन कर उसकी पत्नी बहुला आई और उस देव माया को समझा कर उसे पौषध-व्रत भग करने का प्रायश्चित्त करवाया।

—उपासकदसागसूत्र अ० ५ के आधार से

: १७ :

शकडालपुत्र

पोलासपुर नगर मे शकडालपुत्र नामक कुम्भार रहता था। उसके पास तीन करोड स्वर्ण मुद्राए व दस हजार गायें थी। उसकी पत्नी का नाम अग्निमित्रा था। भड-निर्माण का उसके वहुत बडा उद्योग था। वह आजीवक सम्प्रदाय के नायक गोशालक का अनुयायी था। एक दिन अशोक वाटिका मे वह आजीवक मत के अनुसार व्रत-साधना कर रहा था। उस समय एक देवता प्रकट हुआ और बोला—देवानुप्रिय कल यहा 'महामाहण' आने वाला है। वह जिन है और त्रिलोकपूज्य है। तुम उसे प्रणाम करना और उसकी सेवा करना।

शकडालपुत्र सोचने लगा—मेरे धर्माचार्य मखलीपुत्र गोशालक ही 'महामाहण' और त्रिलोकपूज्य है। वे ही कल यहा आयेगे। मैं उनकी सेवा करूगा।

दूसरे दिन वहा महावीर स्वामी श्रमण-समुदाय के साथ पधारे। सहस्रो लोग दर्शन और व्याख्यान सुनने के लिए एकत्रित हुए। शकडालपुत्र के मन मे भी कौतूहल और जिज्ञासा उत्पन्न हुई। वह भी भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन करने के लिए आया। भगवान् श्री महावीर ने कहा—कल जो किसी देव ने आकर किसी 'महामाहण' के आने की सूचना तुझे जो दी थी, वह गोशालक के लिए नही थी। यह रहस्योल्लेख सुन कर शकडालपुत्र वहुत प्रभावित हुआ और उसने अपनी दूकानो मे निवास करने के लिए भगवान् श्री महावीर को आमन्त्रित किया। भगवान् वहा आए और रहने लगे। शकडालपुत्र नितान्त नियतिवादी था। एक दिन जबकि मिट्टी के वर्तनो को सुखाने का काम चल रहा था, भगवान् श्री महावीर ने शकडालपुत्र से कहा—देवानुप्रिय ! क्या ये सारे वर्तन विना प्रयत्न किए ही तैयार हुए है ?

शकडालपुत्र—ये प्रयत्न से नही वने है। जो कुछ होता है, वह नियतिवश ही होता है।

भगवान्—यदि कोई इन वर्तनो को तोड डाले या अग्निमित्रा के साथ सहवास करे, तो तुम क्या करोगे ?

शकडालपुत्र—मैं उसे शाप दूगा, उस पर प्रहार करूगा और मार डालूगा।

भगवान्—यदि यह तथ्य है—जो कुछ होता है, वह नियतिवश ही होता है, तो ऐसा करने के लिए क्यो उद्यत होते हो ?

यह सुन कर शकडालपुत्र को सम्यक् ज्ञान प्राप्त हुआ और उसने गृहस्थ-धर्म को स्वीकार किया। महावीर स्वामी विहार कर गए।

एक दिन गोशालक शकडालपुत्र को पुन अपने धर्म मे आरूढ करने के लिए उसके घर आया। शकडालपुत्र ने उसे किंचित् भी सम्मान नही दिया। गोशालक ने और कोई रास्ता न पाकर भगवान् महावीर स्वामी की प्रभावशाली स्तुति की। शकडालपुत्र बोला—हे गोशालक! तुमने मेरे धर्माचार्य की स्तुति की है, इसलिए मैं तुम्हे अपनी दुकानें रहने के लिए और शय्या सस्तारक आदि ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित करता हू। गोशालक दूकानो मे रहा। शकडाल पुत्र को फिर से अपने सम्प्रदाय मे लाने के लिए प्रयत्नशील बना, पर सफलता मिलती न देखकर वहा से अन्यत्र विहार कर दिया।

इस प्रकार श्रमणोपासक पर्याय का पालन करते हुए शकडालपुत्र को चौदह वर्ष बीते। पन्द्रहवें वर्ष मे जबकि वह एक दिन पौषध-व्रत की उपासना मे था, एक देवता आया और उसके पौषध-व्रत को भग करने के लिए एक-एक कर उसके तीन पुत्रो को उसके सामने मारा और उनके मास-खण्ड तेल मे तले। फिर वह देवता अग्निमित्रा भार्या को मारने के लिए उद्यत हुआ। शकडालपुत्र उसे पकडने के लिए दौडा। देवता आकाश मे उड गया और उसके हाथ मे खम्भा आ गया। कोलाहल सुनकर अग्निमित्रा उसके पास आई और वस्तुस्थिति का ज्ञान कराते हुए बोली—तुम्हारे पुत्र सकुशल है और मैं सकुशल हू। पौषध-व्रत मे मुझे बचाने के लिए उठे, इसका प्रायश्चित्त करो। तदनुसार शकडालपुत्र प्रायश्चित्त कर शुद्ध हुआ और कालान्तर से स्वर्गवासी हुआ।

—उपासकदसाग सूत्र अ० ७ के आधार से

: १८ :

चेटक और कोणिक का संग्राम

राजगृह नगर मे श्रेणिक (बिम्बसार) राजा राज्य करता था। उसके ज्येष्ठ पुत्र कोणिक ने उसे कारावास मे डलवा दिया और स्वय राजसिंहासन पर बैठा। श्रेणिक अपनी विडम्बना के भय से विष-प्रयोग कर मर गया। कोणिक राजा के काल, सुकाल आदि सौतेली माताओ से उत्पन्न ग्यारह भाई और थे। सबसे छोटा भाई विहल्लकुमार था। श्रेणिक राजा ने अपने जीवन-काल मे ही दो वस्तुए उसे विशेष रूप से प्रदान की थी। एक सेचानक नामक गन्ध हस्ती और एक अठारहसरा वकूचल नामक हार। उस हार और हाथी के प्रयोग ने कोणिक की महारानी पद्मावती के मन मे ईर्ष्या उत्पन्न कर दी। वह हठ लेकर बैठ गई। कोणिक ने उसे समझाया कि ये दो वस्तुए उसे पिताजी के अनुग्रह से उपलब्ध हुई हैं। उन्हे हमे मागने का कोई अधिकार नही है। महारानी अपने हठ पर डटी रही। अन्त मे कोणिक को यह मान ही लेना पडा कि किसी भी प्रकार से मैं ये दो वस्तुए तुम्हे प्राप्त करा ही दूगा। कोणिक ने विहल्लकुमार से हार व हाथी की याचना की। विहल्लकुमार ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नही किया। विहल्लकुमार को यह भी पता चला कि कोणिक बलपूर्वक भी इन वस्तुओ को लेना चाहेगा। वह चतुरता से हार, हाथी व अपने अन्त पुर को लेकर विशाला नगरी मे अपने नाना चेटक की शरण मे चला गया। कोणिक राजा ने एक दूत चेटक राजा के पास भेजा और उसके द्वारा रोप भरे शब्दो मे सन्देश कहलाया—हार व हाथी के सहित विहल्लकुमार को आप मुझे सौंप दें। चेटक राजा ने दूत से कहा—तुम कोणिक से कहना, जिस प्रकार तुम चेलना के पुत्र और मेरे दोहिते हो, उसी प्रकार विहल्लकुमार भी चेलना का पुत्र और मेरा दोहिता है। विहल्लकुमार को अपने हिस्से का राज्य भी नही मिला और अब तुम उससे हार व हाथी भी लेना चाह रहे हो, यह अनुचित है।

दूत ने जाकर कोणिक को सारे समाचार सुनाए। कोणिक ने ससैन्य अपने दस भाइयो को बुला लिया और राजा चेटक पर चढाई कर दी। चेटक राजा ने भी अपने मित्र नव मल्लि वश के राजाओ को और नव लच्छि वश के राजाओ को बुला लिया और विहल्लकुमार विषयक वार्ता बता कर उन्हे युद्ध के लिए सहमत किया। दोनो ओर की सेनाए युद्ध मे आ डटी। घोर सग्राम होने लगा। चेटक राजा को अमोघ लक्ष होने का वरदान मिला हुआ था। काल, सुकाल आदि दस

भाई एक-एक कर सेनापति होकर आए और चेटक राजा के अमोघ वाण से धराशायी हो गए। कोणिक राजा ने तीन दिनो का तप कर अपने पूर्व भव के मित्र शक्रेन्द्र और चरमेन्द्र की आराधना की। वे दोनो सहायक होकर युद्ध मे उतरे। प्रथम दिन महाशिला नामक सग्राम हुआ और चेटक राजा के सैनिक उस देवी शिलापात से मरने लगे। दूसरे दिन रथमूसल सग्राम हुआ। उसमे मूशल-प्रहार से चेटक के सैनिक वडी सख्या मे मरे। कहा जाता है कि इन दो दिनो के सग्राम मे एक करोड अस्सी लाख मनुष्य मारे गए। इस दैवी-शक्ति के सामने चेटक राजा नही ठहर सका और विशाला नगरी मे जा घुसा। नगरी के दरवाजे वन्द कर दिये गए। कोणिक राजा अपने समग्र वल से से भी दरवाज़ो और प्राकार को गिरा कर नगरी मे न जा सका। लम्बी अवधि के पश्चात् एक कुलवालक नामक गुरु-द्रोही और भ्रष्टात्मा तपस्वी साधु की सहायता से वह नगरी मे प्रवेश पा गया। हार देव प्रदत्त था, अत वह देवो द्वारा अपहृत हो गया और हाथी नगर प्राकार की खाई के अग्नि प्रकोप मे फस कर काल-धर्म को प्राप्त हो गया।

चेटक राजा ने एक प्रछन्न स्थान मे आमरण अनशन द्वारा अपना अन्त कर लिया। इम प्रकार विना किसी यथेष्ट परिणाम के यह नर-धातक युद्ध समाप्त हो गया।

—निरयावलिया सूत्र अ० २ से १० के आधार से

: १६ :

समुद्रपाल

चम्पानगरी मे पालित नामक एक व्यापारी रहता था। वह जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि का ज्ञाता और निर्ग्रन्थ धर्म का उपासक था। एक बार व्यापार करने के लिए वह जहाज द्वारा पिहुड नगर मे आया और वहा व्यापार करने लगा। थोडे ही दिनो मे व्यापार बहुत बढा और वह नगर का प्रतिष्ठाप्राप्त व्यापारी बन गया। एक वैश्य ने अपनी लावण्यवती कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया। आनन्दपूर्वक समय बीतने लगा। कुछ दिनो पश्चात् अपनी गर्भवती पत्नी को साथ लेकर पालित श्रावक जलपोत द्वारा चम्पानगरी जाने के लिए विदा हुआ। पालित की पत्नी ने समुद्र मे चलते उस जलपोत मे ही एक पुत्र को जन्म दिया। समुद्र मे पैदा होने के कारण उसका नाम समुद्रपाल रखा गया। बालक बहुत ही कान्तिवान् और जलप्रिय था। उपयुक्त वय मे उसने योग्य गुरु से बहत्तर कलाओ व नीति-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। युवावस्था मे सुरूपा कन्या के साथ उसका विवाह सम्पन्न हुआ। रमणीय महलो मे वह सासारिक सुखो का भोग करके रहने लगा।

एक दिन वह अपने महल के गवाक्ष मे बैठा हुआ राजपथ की हलचल देख रहा था। इतने ही मे उसने देखा—एक चोर को वधक जन वध्य भूमि की ओर लिए जा रहे है। उस चोर की स्थिति पर विचार करते हुए उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह एकाएक समस्त भोग-विलासो को ठुकरा कर साधु बन गया। अनेक वर्षो तक सयम का यथाविधि पालन कर मोक्ष को प्राप्त हुआ।

—उत्तराध्ययनसूत्र अ० २१ के आधार से

: २० :

आनन्द श्रावक

वाणिज्य ग्राम नामक एक नगर था। आनन्द गृहपति वहा रहता था। उसके पास बारह करोड स्वर्ण मुद्राए और चालीस हजार गाये थी। वाणिज्य ग्राम नगर के बाहर कोलाक नामक सन्निवेश था। वहा आनन्द गृहपति के अनेक स्वजन मित्र रहते थे। उस सन्निवेश मे एक बार भगवान् श्री महावीर आए। वहा जितशत्रु राजा वन्दन के लिए गया। सवाद पाकर आनन्द गृहपति भी वहा गया। सभी ने शान्त चित्त प्रवचन सुना। प्रवचन के पश्चात् राजा तथा अन्य लोग अपने-अपने स्थान गए। आनन्द वहा रुका रहा और उसने पाच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप श्रावक-धर्म अगीकार किया।

चौदह वर्ष तक वह श्रावक-पर्याय पालता रहा। पन्द्रहवे वर्ष मे अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपना सारा दायित्व सम्भला कर पौपधशाला मे रह कर एकादश श्रावक-पडिमा की आराधना करने लगा। शरीर मे शैथिल्य का सचार होते देखकर उसने आमरण अनशन ग्रहण कर लिया। उस आमरण अनशन से उसे सुविस्तृत अवधि-ज्ञान प्राप्त हुआ। जिससे वह उत्तर मे चूल हेमवन्त पर्वत तक, दक्षिण, पश्चिम और पूर्व मे पाच सौ योजन लवण समुद्र तक, ऊपर सौधर्म देवलोक तक और अधो प्रथम नरक के लोलुच नरकावास तक देखने और जानने लगा।

उन्ही दिनो भगवान् श्री महावीर उद्यान मे आए। गौतम स्वामी तेले की तपस्या पूर्ण कर भगवान् श्री महावीर से आज्ञा लेकर भिक्षा के लिए नगर मे आए। नगर मे आनन्द श्रावक के आमरण अनशन की जब चर्चा सुनी तो देखने का भाव उनके मन मे उत्पन्न हुआ। वे आनन्द की पौपधशाला मे आए। आनन्द ने शारीरिक असामर्थ्य के कारण लेटे-लेटे ही वन्दना की और चरण स्पर्श किया। आनन्द ने कहा, भगवन् गौतम, क्या आमरण अनशन मे गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है?

गौतम—हा, हो सकता है।

आनन्द—मुझे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है और वह पूर्व और पश्चिम आदि दिशाओ मे इतना विशाल है।

गौतम—आनन्द, गृहस्थ को इतना विशाल अवधिज्ञान नही मिल सकता। अनशन मे तेरे से यह मिथ्या सम्भापण हुआ है, अत तू इसकी आलोचना या

प्रायश्चित्त कर।

आनन्द—प्रभो! महावीर प्रभु के शासन मे सत्याचरण का प्रायश्चित्त होता है या असत्याचरण का?

गौतम—असत्याचरण का।

आनन्द—प्रभो! आप ही प्रायश्चित्त करे। आप ही से असत्याचरण हुआ है।

आनन्द की इस दृढतापूर्ण वार्ता को सुन कर गौतम स्वामी सम्भ्रान्त हुए। वहा से चलकर महावीर प्रभु के पास आए और वह सारा वार्तालाप उन्हे कह सुनाया।

भगवान् महावीर ने कहा—गौतम! तुम्हारे से ही असत्याचरण हुआ है। तू आनन्द के पास जा और उससे क्षमा-याचना कर।

गौतम स्वामी तत्काल आनन्द के घर आए और कहा—आनन्द! भगवान् महावीर ने तुझे ही सत्य कहा है। मैं वृथा विवाद के लिए तेरे से क्षमा चाहता हू।

—उपासकदसांगसूत्र अ० १ के आधार से

: २१ :

श्रेणिक का नरक-गमन

भगवान् श्री महावीर वृहत् श्रमण-समुदाय के साथ राजगृह नगर मे पधारे। श्रेणिक राजा राज-परिवार और सेना के साथ बडे ठाट से वन्दन करने के लिए आया। विशाल परिषद् मे धर्मोपदेश हुआ। देशना के अनन्तर श्रेणिक राजा ने खडे होकर विनम्र भाव से भगवान् से पूछा—भगवन्! आपके निर्ग्रन्थ प्रवचन मे मेरा पूर्ण विश्वास है और उसे ही मैं यथार्थ मानता हू। आपके प्रति मेरी अगाध श्रद्धा है। आप बताए मैं यहा से काल-धर्म को प्राप्त होकर किस योनि को प्राप्त करूगा? सारी परिषद् जानने को उत्सुक हो उठी थी। श्रेणिक के मन मे अपूर्व उत्साह था और निश्चय था—भगवान् मेरे लिए कोई विशिष्ट गति का ही निरूपण करेंगे।

भगवान् ने उत्तर दिया—श्रेणिक! यहा से आयुष्य पूर्ण कर तू पहली नरक मे पैदा होगा।

श्रेणिक स्तब्ध रह गया। सारी परिषद् विस्मित हो उठी। भगवान् ने कहा—श्रेणिक! डरो मत। विराट सुखो की ओर जाते हुए तुम्हारा यह नरकावास बहुत ही लघु है। इस नरक योनि को पार कर तू फिर मनुष्य-योनि प्राप्त करेगा और मेरे ही जैसा भावी चौबीसी का प्रथम तीर्थंकर होगा।

श्रेणिक—भगवन्! किन कर्मो के परिणाम स्वरूप मुझे यह नरक का भोग मिला?

भगवान्—तू ने आर्हद्-धर्म प्राप्त करने से पूर्व शिकार खेलते समय एक गर्भवती मृगी को अपने बाण से मारा था और उस हिंसा-कृत्य पर गर्वित हुआ था कि मैंने कैसा लक्ष्य साधा है कि एक ही बाण से हिरणी और उसके गर्भस्थ बच्चे बीध गए। उस अकृत्य की अतिशय श्लाघा से यह निकाचित (नही टूटने वाला) कर्म बन्ध हुआ और वह तुझे अनिवार्य रूप से भोगना ही पडेगा।

वृद्धावस्था मे यही श्रेणिक राजा राज्यलोलुप पुत्र कोणिक के द्वारा कारावास मे डाला गया। माता चेलणा के द्वारा कोणिक दुत्कारा गया तो उसे अपने कृत्य पर पश्चाताप हुआ और वह पिता को मुक्त करने के लिए कारवास की ओर गया। श्रेणिक ने समझा, यह दुष्ट पुत्र मेरी और भी विडम्बना करना चाहता होगा। अच्छा है, मैं अपने आप मर जाऊ। राजा के हाथ मे विष मुद्रिका थी और वह उस माध्यम से आत्म-हत्या कर मर गया और नरकगामी हुआ।

—निरयावलिया सूत्र अ० १ के आधार से

: २२ :

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और चित्तमुनि

चित्त नामक मुनि थे। ब्रह्मदत्त नामक चक्रवर्ती था। दोनो ने ज्ञान-बल से अपने पिछले पाच भवो को देखा। पिछले भवो की सहवर्तिता के कारण इस छठे भव मे भी दोनो का अनुरागपूर्ण मिलन हुआ। चक्रवर्ती को अपने भाई की त्याग-दशा पर दया आई। उसने बहुत प्रकार से उसे काम-भोगो के लिए आमन्त्रित किया, पर मुनि का मन जरा भी विचलित नहीं हुआ। प्रत्युत मुनि ने कहा—सर्व गीत विलाप रूप हैं। नाटक विडम्बना रूप है। सर्व प्रकार के आभूषण भार रूप हैं और सर्व काम-भोग दु ख के देने वाले हैं। जिस प्रकार सिंह मृग को पकड़ कर मृत्यु के मुख मे पहुचा देता है उसी प्रकार निश्चय ही मृत्यु अन्त समय मे इस जीव को परलोक मे पहुँचा देती है। उस समय माता-पिता और बन्धु उसे रोक नही सकते। इसलिए राजन्! तू ही काम-भोगो को छोड कर सयम ग्रहण कर। चक्रवर्ती ने कहा मैं—मानता हू, मुनिवर तुम जो कह रहे हो, वह सब सच है, पर मैं अपने आसक्ति भाव को छोड कर सयम-पथ पर चल सकू, ऐसा मनोबल नही रखता। अन्त मे दोनो एक-दूसरे से अलग हुए और अपने-अपने रास्ते से जीवन भर चलते रहे। इस मनुष्य गति को छोड कर दोनो दो उत्कृष्ट गतियो को प्राप्त हुए, मुनि मोक्ष गति को और चक्रवर्ती सप्तम नरक को।

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १३ के आधार से

: २३ :

नन्दन मणिहारा

राजगृह नगरी मे नन्दन नामक मणिहारा रहता था। वह धन धान्यादि से सम्पन्न और नगर के प्रमुख लोगो मे से एक था। कालान्तर से वह जैन श्रावक बन गया। नाना व्रत नियमो की आराधना करने लगा। एक बार ग्रीष्मकाल मे उसने तीन दिनो का पौषध-व्रत किया। भयकर गर्मी पडी। प्यास से उसका मन आकुल-व्याकुल हो उठा। परिणामो की स्थिति विषम हो गई। वह सोचने लगा, धन्य है वे लोग जो कुआ, बावडी आदि बनवाते है। मुझे भी ऐसा ही धर्म करना चाहिए।

प्रात काल भोजन आदि से निवृत्त होकर राजा के पास गया और भूमि-याचना की। राजाज्ञा पाकर उसने एक विशाल पुष्करिणी तैयार करवाई। उसके चारो ओर चार बाग लगवाए। पूर्व के बाग मे चित्रशाला, दक्षिण के बाग मे दानशाला, पश्चिम के बाग मे औषधशाला और उत्तर के बाग मे अलकारशाला बनवाई। सहस्रो लोग वहा आते और इच्छित सुख-सुविधा प्राप्त करते। नगर मे नन्दन मणिहारे की श्लाघा फैल गई।

अन्त मे नन्दन मणिहारा के शरीर मे एक साथ कुष्ठादि सोलह रोग उत्पन्न हुए। नाना उपचारो से भी वे शान्त न हुए। अपनी प्रवृत्तियो मे आसक्त नन्दन मणिहारा मरा और उसी पुष्करिणी मे दर्दुर रूप से उत्पन्न हुआ। आते-जाते लोग नन्दन मणिहारे की प्रशसा करते। वह सब सुन कर उसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ। उसने अपने आपको पहिचाना। अपने मिथ्याचरण का पश्चाताप किया। फिर से श्रावक के बारह व्रत पालन करने लगा। भगवान् श्री महावीर राजगृह मे पधारे। पुष्करिणी पर जल भरने के लिए आती-जाती स्त्रियो के मुख से यह सवाद उस दर्दुर को भी मिला।

नन्दन-दर्दुर यह सवाद पाकर बहुत प्रसन्न हुआ। फुदक-फुदक कर वह भी भगवान् के दर्शनो के लिए चल पडा। राजमार्ग पर श्रेणिक राजा का भी आगमन हो रहा था। अकस्मात् वह दर्दुर राजा श्रेणिक के घोडे के पैर से कुचला जाकर घायल हो गया। राज-मार्ग के एक ओर हट कर उसने भगवान् श्री महावीर को वन्दन किया और आमरण अनशन कर लिया। वह शुभ ध्यानरत वहा से मरा और प्रथम देवलोक मे दर्दुरावतंशक विमान मे देवरूप से उत्पन्न हुआ।

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र अ० १७ के आधार से

: २४ :

पार्श्व प्रभु और धरणेन्द्र पद्मावती

तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ प्रभु जब कुमारावस्था मे थे, एक बार वन-क्रीडा से नगर की ओर जा रहे थे। देखा, रास्ते के एक ओर एक जटाधारी तपस्वी धुनी तप रहा था। नगर के अनेकानेक प्रमुख लोग उसकी तपस्या से प्रभावित होकर उसके चारो ओर एकत्रित हो रहे थे। पार्श्वकुमार ने कहा—तपस्विन् ! यह तुम्हारा कैसा तप ? अनगिन जीवो को भस्म कर तुम अपना कल्याण चाहते हो ?

तपस्वी—राजकुमार ! तुम धर्म के रहस्य को क्या समझते हो, दूधमुहे बच्चे हो। क्या मेरी इस धुनी मे कोई जलता हुआ जीव तुझे नजर भी आ रहा है ?

पार्श्वकुमार—तुम्हारी धुनी मे जो बडा लक्कड जल रहा है, उसके अन्दर विशालकाय सर्प और सर्पिणी जल रहे है। यह मैं तुम्हे अपने ज्ञान-बल से बताए देता हू।

तपस्वी ने कहा—तुम्हारा ज्ञान मिथ्या होगा। देखो मै अभी इस लक्कड को चीर देता हू। 'प्रत्यक्षस्य किं प्रमाणम्' यह कह कर उसने तत्काल कुल्हाडी उठाई और उस लक्कड को चीर डाला। उसी समय एक सर्प और सर्पिणी तिल-मिलाते हुए बाहर आए। वे मरणासन्न स्थिति मे थे। पार्श्वकुमार ने उनको नवका-रमन्त्र सुनाया और चार शरण दिए। वे वहा से मर कर धरणेन्द्र और पद्मावती हो गए। परिषद् मे उस कमठ तापस की भर्त्सना हुई। लोग धिक्कारने लगे और कहने लगे यह कैसा धर्म ? तापस पार्श्वकुमार पर बहुत क्रुद्ध हुआ, पर करता भी क्या ?

पार्श्वकुमार ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और तपस्या, कायोत्सर्ग आदि करने लगे। वह कमठ तापस भी नाना तपस्या करता हुआ मरा और साधारण-सी देवगति मे उत्पन्न हुआ। एक दिन पार्श्वनाथ प्रभु को कायोत्सर्ग मुद्रा मे देख कर उसके मन मे प्रतिशोध जगा और वह मूसलाधार पानी बरसाने लगा। उसी समय धरणेन्द्र और पद्मावती के सिंहासन डोल उठे। पद्मावती ने उपस्थित होकर सिंहासन की विकुर्वणा की और धरणेन्द्र ने पार्श्वप्रभु के ऊपर छत्र धारण किया। कमठ को पुन पराम्त होना पडा।

—पार्श्वचरित्र के आधार से

: २५ :

राम और सुग्रीव का उपकार सम्बन्ध

राम का जीव किसी एक भव मे महापुर नामक नगर मे एक श्रेष्ठि-पुत्र था। उनका नाम पद्मरुचि था। वह धर्म तत्त्व का ज्ञाता, द्वादश व्रतधारी श्रावक था। एक दिन महापुर नगर से एक गोकल गुजरा। एक वृषभ अशक्त होकर रास्ते पर ही गिर पडा। गोकुल आगे चला गया। असहाय वृषभ अपनी अन्तिम श्वासें गिन रहा था। श्रेष्ठि-पुत्र पद्मरुचि वहा सहज ही पहुचा। उसके मन मे वृषभ की मरणासन्न स्थिति पर करुणा आई। वह सद्भावपूर्वक वहा ठहरा। वृषभ को चार शरण दिलाए, नवकारमन्त्र सुनाया। वृषभ उस सद्विचार के साथ मरा और उसी पुण्य-प्रभाव से उसी नगर के राजा छत्रछाय के घर पुत्ररूप मे उत्पन्न हुआ। माता-पिता ने उसका नाम वृषभध्वज दिया।

एक दिन राजकुमार क्रीडा करता हुआ वही पहुच गया, जहा अपने वृषभ के भव मे वह मरा था। स्थान को देख कर उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। अपने पूर्व भव का सारा वृत्तान्त उसे याद आ गया। उसे अपने उपकारी से मिलने की और उस पर प्रत्युपकार करने की प्रबल इच्छा हुई। उसने वहा एक देहरा बनवा दिया और उसकी दीवारो पर उस घटित घटना का चित्र बनवा दिया। वहा एक आरक्षक नियुक्त किया और उससे कहा, जो कोई व्यक्ति इस चित्र के हार्द को समझने वाला आए, उसे मेरे पास ले आओ। वह मेरा परम उपकारी है।

किसी दिन श्रेष्ठिकुमार पद्मरुचि जो अब स्वय श्रेष्ठि के नाम से ही विख्यात हो चला था, वहा आ गया। उसने चित्र देखा। सारी घटना तत्काल स्मृति मे आई। आरक्षक से उस देहरे का वृत्तान्त जाना, तो उसने समझ लिया कि इस नगर का राजा वृषभध्वज ही मेरे द्वारा उपकृत उस वृषभ का जीव है। आरक्षक के साथ वह राजदरबार मे पहुचा। परिचय पाकर राजा उसके चरणो मे गिर पडा और बोला, यह राज्य आपकी ही देन है। अत आप इसका उपभोग करें।

राजा ने नगर मे सेठ को अपना ज्येष्ठ-बन्धु घोषित कर दिया। राज-काज भी उसके परामर्श से चलाने लगा। तात्पर्य, नगर के लोग दोनो को ही राजा की बुद्धि से देखते। दोनो का प्रेम अन्त तक निभा। जन्मान्तर से वे ही दोनो मित्र राम और सुग्रीव हुए। सेठ का जीव राम, वृषभ का जीव सुग्रीव। सेठ ने वृषभ का उपकार किया था। अत सुग्रीव ने सीता की खबर ला कर अपने उपकार का बदला चुकाया।

—रामचरित्र गीति ५० के आधार से

परिशिष्ट २

पारिभाषिक शब्दकोष

स० = संस्कृत
हि० = हिन्दी

पारिभाषिक शब्दकोष

अंग —स० हि० अग

तीर्थंकरो के उपदेशानुसार गणधरो द्वारा रचित शास्त्र।

अचित्त —स० हि० अचित्त

चित्त विज्ञान तेन रहितमचित्तम्।

निर्जीव पदार्थ।

अछेरो —स० हि० आश्चर्य

अभूतपूर्व व अनहोनी घटना।

अढाई द्वीप —हि० अढाई द्वीप

तिर्यग्लोक के प्रथम अढाई द्वीप—जम्बू, धातकी व पुष्करार्ध।

अणगार —स० हि० अनगार

नास्त्यगारमस्य अनगार।

जिसके किसी प्रकार का आगार (अपवाद) न हो। साधु।

अणाचार —स० हि० अनाचार

सर्वथा व्रतखण्डनमनाचार।

सर्वथा व्रत-भग करना।

अतिचार —स० हि० अतिचार

व्रतभङ्ग विधातु सामग्रीसकलन, एक देशेन वा व्रतखण्डनमतिचार।

व्रत-भग के लिए सामग्री एकत्रित करना या एक देश से व्रत-खण्डित करना।

अदत्त —स० हि० अदत्त

अदत्तादान स्तेयम्।

विना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना।

अधर्म —स० हि० अधर्म

आत्मशुद्धिबाधको धर्म।

आत्म-शुद्धि का बाधक।

अनन्तकाय —स० हिं० अनन्तकाय
अनन्त जीवो वाली वनस्पति

अनशन —स० हिं० अनशन
आहारपरिहारोऽनशनम् ।
आमरण आहार-परित्याग । राजस्थानी भाषा मे सथारा ।

अनार्य —स० हिं० अनार्य
शिष्टासम्मतव्यवहारश्चानार्य ।
जिसका आचार शिष्ट पुरुषो द्वारा सम्मत नही होता ।

अन्तराय —स० हिं० अन्तराय
दानादिलब्धौ विघ्नकर· अन्तराय ।
दान आदि मे वाधा डालने वाला कर्म ।

अन्यतीर्थी —स० हिं० अन्यतीर्थी
जैनेतर धर्म को मानने वाला ।

अभयदान —स० हिं० अभयदान
हिंसानिवृत्तिरभयदानम् ।
हिंसा-निवृत्ति ।

अरिहन्त —स० हिं० अरिहन्त
चतुर्णा घनघातिकर्मणा हन्ता, प्रातिहार्याद्यतिशयवाश्च ।
चार घनघाति कर्मो का नाश करने वाले व प्रातिहार्य अतिशयो से युक्त ।

अवधिगनानी —स० हिं० अवधिज्ञानी ।
आत्मात्रापेक्ष रूपिद्रव्यगोचरमवधिः ।
इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा के द्वारा रूपी द्रव्यो को जानना अवधिज्ञान है । जो इस ज्ञान से युक्त होता है, उसे अवधिज्ञानी कहा जाता है ।

अव्रत —स० हिं० अव्रत
अत्यागरूप कर्मागमन का द्वार ।

अशुभ कर्म —स० हिं० अशुभ कर्म
पाप ।

असंख्यात —स० हिं० असख्य
न विद्यते सख्यामानमिति असख्यम् ।
सख्यातीत ।

असंजमजीतव	—स० हिं० असयम जीवितव्य अव्रती जीवन
असयती	—स० हिं० असयति असयतो विरत । जिसके किसी भी प्रकार की विरति न हो।
आगन्या	—स० हिं० आज्ञा। अर्हदुपदेश आज्ञा। अरिहन्त का उपदेश।
आगम	—स० हिं० आगम आप्तवचनादर्थज्ञानमागम । आप्त वचन से जो अर्थ-ज्ञान होता है, उसे आगम कहा जाता है। आगम, सूत्र आदि एकार्थवाची है।
आतम	—स० हिं० आत्मा अतति, ससरति इति आत्मा। जो ससार मे पर्यटन करे।
आर्त्तध्यान	—स० हिं० आर्त्तध्यान प्रियाप्रिय वियोगसयोगे चिन्तनमार्त्तम्। प्रिय के वियोग एव अप्रिय के सयोग मे चिन्तित रहना।
आस्रव	—स० हिं० आस्रव कर्माकर्षक आत्मपरिणाम आस्रव । कर्मों को आकर्षित करने वाले आत्म परिणाम।
इविरती	—स० हिं० अविरति अप्रत्याख्यानमविरति । अत्यागवृत्ति।
इन्द्रिय	—स० हिं० इन्द्रिय प्रतिनियतार्थग्रहणमिन्द्रियम्। जिनके द्वारा शब्द आदि नियत विषयो का ज्ञान होता है।
उदय	—स० हिं० उदय वेद्यावस्था उदय । उदीरणाकरणेन स्वभावरूपेण वाष्टानामपि कर्मणामनुभवावस्था उदय.। उदीरणा के द्वारा अथवा स्वाभाविक रूप से आठो कर्मों का अनुभव।

उपकार —स० हि० उपकार
सहयोगदानमुपकार । लौकिको लोकोत्तरश्च । आत्मविकास कृल्लोकोत्तर, तदितरस्तु लौकिक ।
सहयोग देना उपकार है। वह लौकिक और लोकोत्तर दो प्रकार का है । आत्म-विकास करने वाला उपकार लोकोत्तर और इसके अतिरिक्त लौकिक—व्यावहारिक कहलाता है।

उपवास —देखें—तप

उपाग —स० हि० उपाग
अगो के विषय को स्पष्ट करने के लिए श्रुतकेवली या पूर्वधर आचार्यो द्वारा रचे गये आगम।

एकेन्द्री —स० हि० एकेन्द्रिय
एक स्पर्शन इन्द्रिय येषा ते एकेन्द्रिया ।
जिन प्राणियो के केवल एक स्पर्शनेन्द्रिय ही है।

करण —स० हि० करण
कृतकारितानुमोदनरूप त्रिविधयोगव्यापार ।
कृत, कारित और अनुमोदन रूप योग-व्यापार।

कर्म —स० हि० कर्म
आत्मन सदसत् प्रवृत्याकृष्टास्तत्प्रायोग्यपुद्गला कर्म।
आत्मा की सत् व असत् प्रवृत्तियो के द्वारा आकृष्ट एव कर्म-रूप मे परिणत होने योग्य पुद्गल ।

काउसग —स० हि० कायोत्सर्ग।
शरीरकषायादे परित्यागो व्युत्सर्ग ।
शरीर एव कषाय आदि का उत्सर्ग।

काय —स० हि० काया
चीयते इति काय ।
यह काय शब्द की निरुक्ति है। इसका पारिभाषिक अर्थ है, शरीरावयवी। सादृश्य की अपेक्षा जिसमे प्रदेश-अवयव होते है, उसे काय कहा जाता है।

केवली —स० हि० केवली
निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारि केवलम्, तद्वान् केवली।
समस्त द्रव्यो और पर्यायो का साक्षात्कार करना केवलज्ञान है। इस ज्ञान से युक्त व्यक्ति केवलज्ञानी या केवली कहा जाता है।

चक्रवर्ती —स० हि० चक्रवर्ती
चक्ररत्न के धारक श्लाघ्यपुरुष।

चारित्र —स० हि० चारित्र
मोक्षार्थं क्रियमाण प्रकृष्टमाचरण (त्याग) चारित्रम्।
मोक्ष के लिए किया जाने वाला प्रकृष्ट आचरण—त्याग।

चौवीसी अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी में होने वाले चौवीस तीर्थंकर।

चौमासी प्रायछित —स० हि० चातुर्मासिक प्रायश्चित्त
देखें, प्रायश्चित्त।

छद्मस्थ —स० हि० छद्मस्थ
अकेवली छद्मस्थ।
अकेवली।

जमीकन्द —भूमि के अन्दर जड मे लगने वाले अनन्तकायिक फल विशेष।

जिनकल्पी —स० हि० जिनकल्पिक
जिनेन तीर्थंकरेण कल्प सदृश आचारो यस्य मुने स जिन-कल्पिक।
तीर्थंकर के समान आचारवान् मुनि।

जिन-धर्म —स० हि० जिन-धर्म
जिनने वीतरागेन प्ररूपितो धर्म —जिनधर्म।
वीतराग पुरुषों द्वारा प्ररूपित धर्म।

जिनराय —तीर्थंकर

जीव —स० हि० जीव
उपयोगलक्षणो जीव।
ज्ञानादि उपयोग लक्षण युक्त पदार्थ।

ज्ञान —स० हि० ज्ञान
सामान्य विशेषात्मकस्य वस्तुन सामान्यधर्मान् गौणीकृत्य विशेषाणा ग्राहक ज्ञानम्।
सामान्यविशेषात्मक वस्तु के सामान्य (एकाकार) धर्मों को गौण कर विशेष (भिन्नाकार) धर्मों को ग्रहण करना।

तप —स० हि० तप
तप अनशनादि।
अनशन, ऊनोदरिका आदि बारह प्रकार के निर्जरा धर्म को

तप कहा जाता है। एक दिन का यह तप उपवास, दो दिन का बेला, तीन दिन का तेला आदि कहलाता है।

तिरछा लोक —स० हि० तिर्यक् लोक
उर्ध्वलोक और अधोलोक के बीच मे अठारह सौ योजन का क्षेत्र।

तीर्थंकर —स० हि० तीर्थंकर
तीर्यते ससारसमुद्रोयेनेति तीर्थ प्रवचनाधारश्चतुर्विध सघ· प्रथम गणधरो वा, तत्करोतीति तीर्थंकर ।
जिसके द्वारा यह ससार-समुद्र तैरा जा सके, उसे तीर्थ कहा जाता है। तीर्थ-प्रवचन और उसका आधार चतुर्विध सघ या प्रथम गणधर को भी तीर्थ कहा जाता है। तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले तीर्थंकर कहलाते हैं।

तेउकाय —स० हि० तेजस्काय
तेज कायो येषा ते तेजस्कायिका ।
जिन प्राणियो का अग्नि ही शरीर है, उन्हे तेजस्कायिक कहा जाता है।

तेजुलेश्या —स० हि० तेजोलेश्या
एक उष्णता-प्रधान सहारक लब्धि (शक्ति) विशेष।

त्रस —स० हि० त्रस
हिताहित प्रवृत्तिनिवृत्यर्थ गमनशीलास्त्रसा ।
हित की प्रवृत्ति और अहित की निवृत्ति के निमित्त गमन करने वाले जीव।

दया —स० हि० दया
पापाचरणादात्मरक्षा दया।
पापमय आचरणो से अपनी या दूसरो की आत्मा को बचाना। करुणा, अनुकम्पा आदि इसी के पर्यायवाची शब्द है।

दान —स० हि० दान
स्वपरोपकारार्थ स्वकीयवस्तुनो वितरण दानम्।
अपने एव दूसरे के उपकार के लिए अपनी वस्तु का वितरण करना।

दीक्षा —स० हि० दीक्षा
दीक्षा तु व्रतसग्रह ।

व्रत-सग्रह—साधुत्व।

दर्शन —स० हिं० दर्शन
दर्शनम् तत्त्वश्रद्धा।
तत्त्व के प्रति हार्दिक श्रद्धा।

देव —स० हिं० देव
केवलज्ञानवानर्हन् देव ।
केवल ज्ञानी सर्वज्ञ अर्हन् को देव कहा जाता है।

देशचारित —स० हिं० देशचारित्र
सयतासयतो देश विरत ।
कुछ सयत और कुछ असयत, अर्थात अश रूप से व्रताराधना करने वाला। सयतासयत, देशविरत, देशचारित्र व श्रावक ये पर्यायवाची शब्द है।

द्वेष —स० हिं० द्वेष
दु खाभिप्रायो द्वेष ।
दु ख का अभिप्राय।

द्रव्य —स० हिं० द्रव्य
गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्।
गुण और पर्याय का आश्रय।

धर्म —स० हिं० धर्म
आत्मशुद्धिसाधन धर्म ।
आत्म-शुद्धि का साधन।

धर्मध्यान —स० हिं० धर्मध्यान
आज्ञापायविपाकसस्थानविचयाय धर्मम्।
आज्ञा, अपाय, विपाक एव सस्थान का निर्णय करने के लिए किया जाने वाला चिन्तन।

नरक —स० हिं० नरक
घोर पापाचरण करने वाले जीव अपने पापो का फल भोगने के लिए अधोलोक के जिन स्थानो मे उत्पन्न होते हैं, वे स्थान।

नवकार —स० हिं० नमस्कार (मत्र)
जैन-परम्परा का प्रमुख मत्र।

नवकोटि —स० हिं० नवकोटि
तीन करण व तीन योग युक्त।

निरवद्य —सयमोपर्धक निरवद्यम् ।
सयम की वृद्धि करने वाला कार्य ।

निरवाण —देखे, मोक्ष ।

निर्जरा —स० हिं० निर्जरा
तपसा कर्मविच्छेदादात्मनैर्मल्य निर्जरा ।
तपस्या के द्वारा कर्म-मल का विच्छेद होने पर होने वाली आत्म-उज्ज्वलता ।

पच्चक्खाण —स० हिं० प्रत्याख्यान
त्याग ।

पचेन्द्री —स० हिं० पचेन्द्रिय ।
पाच इन्द्रिय वाले प्राणी ।

परिग्रह —स० हिं० परिग्रह
मूर्च्छा परिग्रह ।
पदार्थों के प्रति अन्तर मे रही मूर्च्छा ।

परितसंसार —स० हिं० परीत्तससार
परिमित ससार परीत्तससार ।
जिनका ससार पर्यटन सीमित हो गया है ।

परीषह —स० हिं० परिषह ।
कर्मणा निर्जरार्थं क्षुधातृपादि कष्टानि परिसह्यते इति परिषह ।
कर्म-निर्जरा के लिए क्षुधा-तृपादि सहन करना ।

पाप —स० हिं० पाप
अशुभ कर्म पापम् । उपचारात् तद्हेतवोपि तत्-शब्दवाच्या ।
अशुभ कर्मो को पाप कहा जाता है और उपचार से पाप के हेतु भी पाप कहलाते हैं, जो प्राणातिपात आदि अठारह हैं ।

पुन्य —स० हिं० पुण्य
शुभ कर्म पुण्यम् । उपचाराच्च यद् यन्निमित्तो भवति पुण्य-वन्ध , सोपि तत्-तत् शब्दवाच्य ।
शुभ कर्म को पुण्य कहा जाता है । उपचार से जिस निमित्त से पुण्य का वन्ध होता है, वह भी पुण्य कहा जाता है, जो अन्न पुण्य आदि नौ प्रकार का है ।

पूर्वधर —स० हिं० पूर्वधर

तीर्थ का प्रवर्तन करते समय अरिहन्त जिस अर्थ का गणधरो को सर्वप्रथम उपदेश देते हैं, या गणधर सर्वप्रथम जिस अर्थ को सूत्ररूप मे गूथते है, उस समग्र ज्ञान को पूर्व कहा जाता है। पूर्वो के ज्ञान को धारण करने वाला पूर्वधर कहलाता है।

पोषा —स० हिं० पोषध
उपवासेन सह अहोरात्र पापपूर्णप्रवृत्तीना परित्याग पोषधोपवास ।
उपवास के साथ एक दिन-रात के लिए पापकारी प्रवृत्तियों का परित्याग।

प्रज्या —स० हिं० पर्याप्ति
भवारम्भे पौद्गलिकसामर्थ्यनिर्माण पर्याप्ति ।
जन्म के प्रारम्भ मे होने वाला पौद्गलिक शक्ति का निर्माण।

प्रमाद —स० हिं० प्रमाद
अनुत्साह प्रमाद । अरत्यादि मोहोदयात् आध्यात्मिक क्रियायामात्मनोऽनुत्साह प्रमाद ।
अरति आदि महोदय से आत्मा का धार्मिक क्रिया मे अनुत्साह।

प्राण —स० हिं० प्राण
तदपेक्षिणी जीवनशक्ति प्राणा ।
पर्याप्ति की अपेक्षा रखने वाली जीवन-शक्ति। भूत, जीव और सत्व ये भी पर्यायवाची है।

प्रायश्चित्त —स० हिं० प्रायश्चित्त
अतिचार विशुद्धयेऽनुष्ठान प्रायश्चित्तम्।
दोप की विशुद्धि के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान प्रायश्चित्त कहलाता है। वह दश प्रकार का होता है। उनमे एक प्रायश्चित्त छेद कहलाता है, जिसमे चार महीने आदि का सयम-काल कम कर दिया जाता है।

वलदेव —वासुदेव के वडे भाई।

वारहव्रत —वारह प्रकार का गृहस्थधर्म।

वालमरण —स० हिं० वालमरण
मिथ्यादृशा मरण वालमरणम्।
मिथ्यादृष्टियो की मृत्यु।

वेला —दो दिन का उपवास।

बोध-बीज —सम्यक्त्व

मनपरज्या —स० हिं० मन पर्यव

मनोद्रव्य पर्यायप्रकाशि मन पर्याय ।

मनोवर्गणा के अनुसार जो मानसिक अवस्थाओ को जानता है, उसे मन पर्यव ज्ञान कहा जाता है।

मतिगिनानी —स० हिं० मतिज्ञानी

इन्द्रियमनोनिमित्त सवेदन मति ।

इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। जो इस ज्ञान से युक्त होता है, उसे मतिज्ञानी कहा जाता है।

महाव्रत —स० हिं० महाव्रत

सर्वथा हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरति महाव्रतम्।

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह को सर्वथा त्यागना।

माहण —मत मारो। साधु को सम्बोधित किया जाने वाला शब्द।

मिथ्यात —स० हिं०–मिथ्यात्व

दर्शन मोहोदयात् आत्मन अतत्त्वे तत्त्वप्रतीति मिथ्यात्वम्।

दर्शन मोह के उदय से आत्मा मे विपरीत तत्त्वश्रद्धान अर्थात् अतत्त्व मे तत्त्व-प्रतीति।

मिथ्याती —स० हिं० मिथ्यात्वी

तत्त्व तत्त्वाश वा मिथ्याश्रद्दधानो मिथ्यात्वी, मिथ्यादृष्टीति यावत्।

तत्त्व पर या तत्वाश पर मिथ्या विश्वास रखने वाले को मिथ्यात्वी या मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

मिश्र-धर्म —स० हिं० मिश्रधर्म

एकस्यामेव प्रवृत्त्या युगपत् पुण्यपाप-धारणा मिश्र धर्म ।

एक ही प्रवृत्ति मे एक साथ पुण्य और पाप की धारणा।

मुक्ति, मुगति, मोक्ष —स० हिं० मुक्ति, मोक्ष

कृत्स्नकर्मक्षयादात्मन स्वरूपावस्थान मोक्ष.।

समस्त कर्मों के क्षय से आत्मा अपने ज्ञान, दर्शनमय स्वरूपो मे अवस्थित होती है, उसे मोक्ष कहा जाता है।

मोहकर्म —स० हिं० मोहकर्म या मोहनीय कर्म

दर्शनचारित्रघातात् मोहयति आत्मनमिति मोहनीयम् ।
दर्शन और चारित्र का घात कर आत्मा को व्यामूढ बनाने वाला कर्म ।

योग —स० हि० योग
मनोवाक्कायव्यापारो योग ।
मन, वच और शरीर की प्रवृत्ति ।

योजन —स० हि० योजन
चतु क्रोश तु योजनम् ।
चार कोश परिमाण भूमि ।

रजोहरण —स० हि० रजोहरण
साधूना प्रमार्जनोपकरण रजोहरणम् ।
साधुओ का भूम्यादि प्रमार्जन उपकरण ।

राग —स० हि० राग
राग सासारिक स्नेहोनुग्रहलक्षण ।
अनुग्रहयुक्त सासारिक स्नेह ।

लब्धि —स० हि० लब्धि
ज्ञानावरणादि कर्मक्षयोपशमजन्य सामर्थ्यविशेषो लब्धि ।
ज्ञानावरणादिक कर्मो के क्षयोपशम विशेष से प्राप्त होने वाले सामर्थ्य विशेष को लब्धि कहा जाता है। इस शक्ति विशेष को धारण करने वाला लब्धिधर कहलाता है ।

लेश्या —स० हि० लेश्या
योगवर्गणान्तर्गतद्रव्यसाचिव्यादात्मपरिणामो लेश्या ।
योगवर्गणा के अन्तर्गत पुद्गलो की सहायता से होने वाला आत्म-परिणाम ।

लौकिक दया —स० हि० लौकिकदया ।
शरीरेण सह प्राणाना य सयोगस्तस्य देशत सर्वतो वा रक्षण लौकिक दया ।
शरीर के साथ प्राणो का जो सम्बन्ध है, उसकी आशिक रूप से या पूर्ण रूप से रक्षा करना ।

वासुदेव —स० हि० वासुदेव
प्रतिवासुदेव को जीतकर तीन खण्ड पर राज्य करने वाला ।

विकलेन्द्री —स० हि० विकलेन्द्रिय

विकलानि—अपूर्णानि इन्द्रियाणि येषा ते विकलेन्द्रिया द्वीन्द्रियादयो जीवा ।
असम्पूर्ण इन्द्रिय वाले द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव।

वियावच्च —स० हिं० वैयावृत्य
सेवाद्यनुष्ठान वैयावृत्यम् ।
सेवादि अनुष्ठान विशेष ।

विराधक —स० हिं० विराधक
गृहीत व्रतो का पूर्णरूप से आराधन नही करने वाला ।

वैराग्य —स० हिं० वैराग्य
पाचो इन्द्रियो के विषय-भोगो से उदासीनता—विरक्ति ।

शासन —स० हिं० शासन
जैन सघ

शीतल लेश्या —स० हिं० शीतल लेश्या
एक शीतलता-प्रधान लब्धि (शक्ति) विशेष ।

शुक्ल ध्यान —स० हिं० शुक्लध्यान
निर्मल प्रणिधान शुक्लम् ।
निर्मल समाधि-अवस्था ।

शुभ योग —स० हिं० शुभयोग
मोहरहित. सद्ध्यानार्हन्नुतिगुरुवन्दनादि रूप शुभव्यापार शुभयोग ।
मोहरहित सच्चिन्तन, अर्हत्-स्तुति, गुरुवन्दन आदि शुभ कार्य।

श्रद्धा —देखें—सम्यक्त्व

श्रमण —स० हिं० श्रमण
अपने श्रम से अपना उत्थान करने वाला—साधु ।

श्रावक —स० हिं० श्रावक
श्रद्धापूर्वक शास्त्र-श्रवण करने वाले जैनधर्म के गृहस्थ-अनुयायी ।

श्रुतिगिनानी —स० हिं० श्रुतज्ञानी
तदेव द्रव्यश्रुतानुसारेण परप्रत्यायनक्षम श्रुतम् ।
द्रव्य-श्रुत के अनुसार दूसरो को समझाने मे जो समर्थ हो, ऐसे मतिज्ञान को ही श्रुतज्ञान कहा जाता है । जो इस ज्ञान से युक्त होता है, उसे श्रुतज्ञानी कहा जाता है ।

सचित्त —सं० हिं० सचित्त
सह चित्तेन जीवभावेन वर्तते तत् सचित्तम्।
जो पदार्थ जीव युक्त होता है, उसे सचित्त कहा जाता है।

समकित —सं० हिं० सम्यक्त्व
यथार्थ तत्त्व श्रद्धा। सम्यग्दर्शन, श्रद्धा, बोधिबीज आदि एकार्थक है।

समदृष्टि —सं० हिं० सम्यक् दृष्टि
तत्त्वों पर सत्य श्रद्धा रखने वाला।
समदृष्टि, सम्यग्दृष्टि व सम्यक्त्वी एकार्थवाचक है।

समवसरण —सं० हिं० समवसरण
तीर्थंकर परिषद् अथवा वह स्थान जहा तीर्थंकर का उपदेश होता है।

सागारी —सं० हिं० सागारी
आगार सहित।

सावद्य —सं० हिं० सावद्य
अवद्येन सहित सावद्यम्।
पापयुक्त कार्य।

सिद्धगति —सं० हिं० सिद्धगति
सर्वथा कर्म-क्षय कर लोकाग्रस्थित सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त करना।

सुधर्मा सभा —सं० हिं० सुधर्मासभा
इन्द्र सभा।

संजमजीतब —सं० हिं० संयमजीवितव्य
व्रती जीवन।

संभोग —सं० हिं० संभोग
यथोक्तविधिना सम भोग संभोग।
समान समाचारी वाले साधुओं का सम्मिलित आहार आदि व्यवहार।

संयम —सं० हिं० संयम
सर्वसावद्यव्यापारे विरति संयम।
सब प्रकार के सावद्य व्यापार से विरत होना।

संवर —सं० हिं० संवर

आस्रवनिरोध सवर ।
आस्रव का निरोध ।

स्थावर —स० हि० स्थावर
हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थमगमनशीला स्थावरा ।
हित की प्रवृत्ति और अहित की निवृत्ति के निमित्त गमन करने मे असमर्थ प्राणी ।

हरिणगमेषीदेव —स० हि० हरिणेगमेषीदेव
इन्द्र का एक प्रतिनिधि देव ।

हिंसा स० हि० हिसा
असत्प्रवृत्त्या प्राणव्यपरोपण हिंसा । असत्प्रवृत्तिर्वा ।
असत्प्रवृत्तिजन्य प्राणी-वध और स्वय असत्प्रवृत्ति ।

परिशिष्ट ३
राजस्थानी शब्दकोष

राजस्थानी शब्दकोष

अटकला	अन्दाज से
अणगल	अनछाना
अणहुतो	निरर्थक
अथाय	बहुत
अरूड	ठसाठस
आघाई	अपनी ओर से
आघो नही काढता	विलम्ब न करते
आणिये	करे
आणै	करे
आन्तरियो	अन्तिम समय
आमना	अभिप्राय
आवटकूटो	आरम्भ-समारम्भ
इतरी	इतनी
उकरडी	कूडा-करकट डालने का स्थान । सस्कृत नाम—अवस्कर
उटका	गप्पें
उण	वह
उणरे	उसके
उथपती	जाती देखकर
उपाड	उठा कर
उराणे	यो ही
उवै	वे
उणायत	कमी
कमठाणा	मकानादि बनवाना
कामा	कार्य
काय	कुछ भी

किणविध	किस प्रकार
कुब्द	कुबुद्धि
केड़ायत	परम्परागत
केडे	पीछे
केम	किस तरह
केयक	कुछ एक
खन्त	क्षमा
खुवार	नष्ट
गधिया	एक प्रकार का जन्तु
गरढा	वृद्ध
गाबड	गर्दन
गाला रा गोला	कपोल कल्पित
गिर-गिर	पकड-पकड कर
गिलाण	रुग्ण
गीडोला	एक प्रकार का जन्तु
घमसाण	सहार
घोचो	तीर
चकचूर	चूर-चूर
चलाय	चलित
चालो	प्रपच
छछकार	छिछकारना
छोडा-मेला	छोडना-रखना
जबून	निकृष्ट
जात	प्रकार
जीपण	जीतने के लिए
जीवडा	जीव
जुध	युद्ध
जोड	रचना
टलबल	रेगना
ठरले	शोचार्थ
ठाय (म)	स्थान
डक मारना	दसना

डाभ	नारियल
डावड़ो	बालक
डोरी	रस्सी
ढोहला	दोहद
ढाढा	पशु
तठे	वहा
तलफल	तडफडाहट
तागी	चक्कर आना
तान्ी	प्रीति
तिके	वे
तिणने	उसके
थका	से
थाभो	खम्भा
थाप	स्थापना करना
थाय	हो सकता है
दगचाल	खुल्ले हाथो
दार	बिल
दाझता	जलते हुए
दीकरा	लडका
धकाय	ढकेल कर
धन उदके	धन निकालना
धाकल्या	ललकार देने से
धुकावै	जलाना
नसार दे	भगा दे
नाडो	तलाई
नाणो	धन
निरदावै	तटस्थ
नीको	अच्छा
नूर	चेहरा
न्हसावै	भगाना
पचरहना	लीन हो रहे है
पारखा	परीक्षा

पीहर	रक्षक
पूअरा	फूहारा (एक प्रकार का जन्तु)
पेला	प्रथम
पेला	दूसरा
पोते	अपनी
फक	नितान्त
फड्हो	उद्घोषणा
वकवाय	वकवास
बडाले	बीच मे
बिगोया	डुबोया
बिटल	नीतिभ्रष्ट
बिडद	दायित्व
बिरूआ	विरूप
बूहो	वहकर
भवियण	भविजन
भागल	व्रतभ्रष्ट
भिडी	सहायक
भेलापो	मिला-जुला
मजारी	विल्ली
मकरो	मत करो
मच्छ गलागल	मात्स्य न्याय। क्रमश बडे मच्छो द्वारा छोटे मच्छो का निगला जाना। 'जीवो जीवस्य जीवनम्'।
मझे	मध्य
मझारो	मध्य
मणकला	टुकड़े
मणसा भोजन	इच्छित भोजन
ममाई	कड़ाह मे तेल गर्म किया जाता है। उसके ठीक ऊपर एक जीवित मनुष्य को लटका दिया जाता है। उस मनुष्य के शरीर मे पैनी धार वाले अस्त्र से स्थान-स्थान पर टाचे लगा दिए जाते

	हैं। खौलते हुए तेल मे रक्त टपकता है। उस तेल मे अन्य वस्तुए मिला कर एक औषधि विशेष तैयार की जाती है, जो कुछ रोगो के लिए उपयोगी होती है। उस मनुष्य के शरीर से रक्त उतना ही निकाला जाता है, जितना आवश्यक होता है। अन्त मे उसे नीचे उतार कर उसके घावो पर मरहम-पट्टी कर दी जाती है, जिससे वह पुन स्वस्थ हो जाता हे। इस सारी प्रक्रिया को ममाई कहते हैं।
भाका	मकोडे
माका	बडी मक्खी—नारिया
माटे	मटका
माठी गति	नीच गति
मातरा	प्रस्रवण
मार	दु ख
माला	घोसला
मूई	मर गई
मोय	मुझे
रागण	चमडा रगने का काम
रासडिया	रस्सी
रीजक-रोटी	पट्टा-परगना
रेलो	धारा
रॅसो	रहस्य
लाहो	बहुत लाभ
लिगार	अशमात्र
वपराय	उपजा कर
वागरै	कहते हैं
वासण	वर्तन
विकल	ग्रथिल
शिरभागी	भाग्यशाल

शिरे	श्रेयस्कर
सताब	ठाट बाट
सहल	सहज
सागधारी	वेशधारी
साचववा	रीति निभाने के लिए
साई	स्वीकृति
साजे (भै)	करे
साजो	ठीक
सानी	सकेत
सिराडे	शिखर
सुगली	फली
सुगाल	सुकाल
सुलसल्या	धान्य मे उत्पन्न होने वाला जन्तु विशेष
सुलिया	सडे हुए
सुसियो	शशक
सूस	प्रत्याख्यान
सोरी	शोर करना
हाकल्या	ललकारने से
हाय-विराय	हाय-तोबा
हुचके	उछलना
हेला	हल्ला करना

परिशिष्ट ४

पदानुक्रमणिका

पदानुक्रमणिका

अ

घ

च

छ

थ

द

ध

य

र

स

परिशिष्ट ५

शब्दानुक्रम

आ

य

र

ल

श

ह